

गांधी-साहित्य—३

गीता-माता

श्रीमद्भगवद्गीताका तात्पर्य, हिन्दी-टीका, मूल सस्कृत पाठ, सरल और भक्ति प्रधान श्लोकोका सग्रह, गीता-पदार्थ-कोष तथा गीता-सबधी लेख

•

महात्मा गांधी

•

१९६०

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद की सहमति से

दूसरी बार १९६०

मूल्य

पांच रुपये

मुद्रक
हरबंसलाल गुप्त
इण्डिया प्रिंटर्ज, दिल्ली

प्रकाशकीय

महात्मा गाधीके महाप्रयाणके उपरान्त मण्डलने निश्चय किया था कि वह उनके विचारोके व्यापक प्रसारके लिए सस्ते-से-सस्ते मूल्य मे 'गाधी-साहित्य'का विधिवत् रूपसे प्रकाशन करेगा, इसी निश्चयके अनुसार उसने अबतक नौ भाग प्रकाशित किये है।

प्रस्तुत पुस्तक उस मालाका तीसरा भाग है। गीता को गाधीजी-ने माताकी सज्ञा दी थी। उसके प्रति उनका असीम अनुराग और भक्ति थी। इस सग्रहमे गीताका मूल पाठ, हिन्दी-टीका, तात्पर्य, भक्ति प्रधान श्लोकोका सग्रह, गीता-पदार्थ-कोष आदि सामग्री दी गई है। अन्तमे गाधीजीके लिखे गीता सम्बन्धी लेख भी दे दिये गए हैं। इनके अध्ययन-से गीताके मर्मको समझनेमे बडी सहायता मिलती है।

इस मालाके पहले दो भागो मे (प्रार्थना-प्रवचन भाग १, प्रार्थना-प्रवचन भाग २) गाधीजीके वे प्रवचन हैं, जो उन्होने अपने अन्तिम दिनो-मे दिल्लीकी प्रार्थना-सभाओमे दिये थे। चौथे भाग 'पन्द्रह अगस्तके बाद'मे आजादीके दिन अर्थात् १५ अगस्त १९४७ से लेकर अन्तिम समय तक के उनके लेखोका सग्रह है। पाचवें 'धर्म नीति'मे उनकी नीति-सम्बन्धी रचनाए हैं। छठे 'दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहका इतिहास' मे मानवीय अधिकारोके लिए उनके आरम्भिक सघर्षकी विशद कहानी है। सातवे 'मेरे समकालीन'मे उस समयके देश सेवकोके गाधीजीकी कलमसे लिखे सस्मरण हैं। आठवेंमे उनकी 'आत्मकथा' है और नवें 'आत्म-सयम'मे ब्रह्मचर्यकी महिमा और भोगकी हानियो पर उनकी रचनाओका सग्रह है।

इन सब भागोकी छपाई अच्छी और जिल्द पक्की है। उनमे चार हजारसे अधिक पृष्ठ हैं और पूरे सेटका मूल्य तीस रुपये है।

इस मालामे आगे और भी पुस्तकें निकलेंगी।

प्रस्तुत पुस्तकका यह दूसरा सस्करण है। हमें आशा है कि आगे इन तथा इस मालाके अन्य प्रकाशनोको और अधिक लोकप्रियता प्राप्त होगी।

—मंत्री

गीता - माता

गीता शास्त्रोंका दोहन है। मैंने कहीं पढ़ा था कि सारे उपनिषदोंका निचोड़ उसके सात सौ श्लोकोंमें आ जाता है। इसलिए मैंने निश्चय किया कि कुछ न हो सके तो भी गीताका ज्ञान प्राप्त कर लूं। आज गीता मेरे लिए केवल बाइबिल नहीं है, केवल कुरान नहीं है, मेरेलिए वह माता हो गई है। मुझे जन्म देनेवाली माता तो चली गई, पर संकटके समय गीतामाताके पास जाना मैं सीख गया हूं। मैंने देखा है कि जो कोई इस माताकी शरण जाता है, उसे ज्ञानामृतसे वह तृप्त करती है।

कुछ लोग कहते हैं कि गीता तो महा गूढ़ ग्रंथ है। स्व० लोकमान्य तिलकने अनेक ग्रंथोंका मनन करके पंडितकी दृष्टिसे उसका अभ्यास किया और उसके गूढ़ अर्थोंको वह प्रकाशमें लाये। उसपर एक महाभाष्यकी रचना भी की। तिलक महाराजके लिए यह गूढ़ ग्रंथ था; पर हमारे जैसे साधारण मनुष्यके लिए यह गूढ़ नहीं है। सारी गीताका वाचन आपको कठिन मालूम हो तो आप केवल पहले तीन अध्याय पढ़ लें। गीताका सब सार इन तीन अध्यायोंमें आ जाता है। बाकीके अध्यायोंमें वही बात अधिक विस्तारसे और अनेक दृष्टियोंसे सिद्ध की गई है। यह भी किसीको कठिन मालूम हो तो इन तीन अध्यायोंमेंसे कुछ ऐसे श्लोक छांटे जा सकते हैं, जिनमें गीताका निचोड़ आ जाता है। तीन जगहोंपर तो गीतामें यह भी आता है कि सब धर्मोंको छोड़कर तू केवल मेरी ही शरण ले। इससे अधिक सरल और सादा उपदेश और क्या हो सकता है? जो मनुष्य गीतामेंसे अपने लिए आश्वासन प्राप्त करना चाहे तो उसे उसमेंसे वह पूरा-पूरा मिल जाता है। जो मनुष्य गीताका भक्त होता है, उसके लिए निराशाकी कोई जगह नहीं है, वह हमेशा आनन्द में रहता है।

विषय-सूची

o

गीता - माता

गीता-बोध

[श्रीमद्भगवद्गीताका तात्पर्य]

भूमिका

जिस पुस्तकका हम नित्य थोड़ा-थोड़ा करके पारायण और मनन करते हैं, जिसे अपने लिए हमने आध्यात्मिक दीपस्तम्भ बना रखा है, मैंने उसे जैसा समझा है, उसपर अपने विचार देने की इच्छा है। यह खयाल पहले एक पत्र पाकर हुआ था। लेकिन गत सप्ताह भाई के पत्रने मुझे इसके लिए तैयार कर दिया। वह लिखते हैं कि वह 'अनासक्तियोग' पढ़ते हैं, लेकिन समझनेमें बहुत कठिनाई पड़ती है। उनकी समझमें आने योग्य भाषामें अर्थ करनेका प्रयत्न करते हुए भी, शब्दश: अनुवाद देनेमें समझनेकी कठिनाई तो अवश्य रहेगी। विषय ही जहां कठिन हो वहां सरल भाषा क्या कर सकती है? इसलिए अब विषयको ही सरल रीतिसे रखनेका प्रयत्न करना चाहता हूं। जिस वस्तुका हम उठते-बैठते उपयोग करना चाहते हैं, जिसकी सहायतासे अपनी सारी आंतरिक उलझनें सुलझानेका प्रयत्न करते हैं, उस ग्रंथको जितनी रीतियोंसे, जैसे भी समझा जा सके वैसे समझने और बारंबार उसका मनन करनेसे अंतमें हम तन्मय हो सकते हैं। मैं तो अपनी सारी कठिनाइयोंमें गीता-माताके पास दौड़ा आता हूं और अबतक आश्वासन पाता आया हूं। दूसरोंको भी, जो उसमेंसे आश्वासन पानेके इच्छुक हैं, शायद, जिस रीतिसे मैं उसे रोज-रोज समझता जाता हूं, वह रीति जानकर कुछ अधिक मदद मिले। उस रीतिको जानकर उनको कुछ नया प्रकाश पाना भी असंभव नहीं है।

यरवदा जेल
४-११-'३०

—मो० क० गांधी

प्रास्ताविक

गीता महाभारतका एक नन्हा-सा विभाग है। महाभारत ऐतिहासिक ग्रंथ माना जाता है, पर हमारे मतसे महाभारत और रामायण ऐतिहासिक ग्रंथ नही हैं, बल्कि धर्मग्रंथ हैं। या उसे ऐतिहासिक ही कहना चाहे तो वह आत्माका इतिहास है और वह हजारो वर्ष पहले क्या हुआ यह नही बताता, बल्कि प्रत्येक मनुष्य-देहमे क्या जारी है, इसकी वह एक तस्वीर है। महाभारत और रामायण दोनोमे देव और असुरके—राम और रावणके बीच नित्य चलनेवाली लडाई का वर्णन है। ऐसे वर्णनमे गीता कृष्ण-अर्जुनके बीचका सवाद है। उस सवादका वर्णन अध धृतराष्ट्रसे सजय करता है। [गीता के मानी है गाई गई। इसमे 'उपनिषद्' अध्याहार है। अत. पूरा अर्थ हुआ, गाया गया उपनिषद् ।] उपनिषद् अर्थात् ज्ञान-बोध। यानी गीताका अर्थ हुआ श्रीकृष्णद्वारा अर्जुनको दिया हुआ बोध। हमे यह समझकर गीता पढनी चाहिए कि हमारी देहमें अतर्यामी श्रीकृष्ण भगवान आज विराजमान है और जब जिज्ञासु अर्जुनरूप होकर धर्म-सकटमे अतर्यामी भगवानसे पूछेगा, उसकी शरण लेगा तो उस समय वह हमे शरण देनेको तैयार मिलेंगे। हम ही सोये है, अतर्यामी तो सदा जाग्रत है। वह बैठा राह देखता है कि हममे कब जिज्ञासा उत्पन्न हो। पर हमे सवाल भी पूछना नही आता, सवाल पूछनेकी मनमे भी नही उठती। इस कारण गीता-सरीखी पुस्तकका नित्य ध्यान धरते हैं, उसका भजन करते-करते अपनेमे धर्म-जिज्ञासा उत्पन्न करनेकी इच्छा करते हैं, सवाल पूछना सीखना चाहते है और जब-जब मुसीबतमे पडते हैं तब-तब अपनी मुसीबत दूर करनेके लिए हम गीताकी शरण जाते हैं और उससे आश्वासन लेते हैं। इसी दृष्टिसे गीता पढनी है। वह हमारी सद्गुरुरूप है, मातारूप है और हमे विश्वास रखना चाहिए

कि उनकी गोदमें सिर रखकर हम सही-सलामत पार हो जायगे। गीताके द्वारा अपनी सारी धार्मिक गुत्थिया सुलभा लेंगे। इस भाति नित्य गीताका मनन करनेवालोको उसमेंसे नित्य नये अर्थ मिलेंगे। ऐसी एक भी धर्मकी उलझन नहीं है कि जिसे गीता न सुलझा सकती हो। हमारी अल्प श्रद्धाके कारण हमें उसका पढ़ना-समझना न आवे तो वह दूसरी बात है। पर हम अपनी श्रद्धा नित्य-नित्य बढाते जाने और अपनेको सावधान रखनेके लिए गीताका पारायण करते हैं। इस भाति गीताका मनन करते हुए जो कुछ अर्थ मुझे उसमेंसे मिला है और आज भी मिलता जाता है, उसका सार आश्रमवासियो की सहायताके लिए यहा दे रहा हू।

यरवदा-जेल —मो० क० गाधी

११-११-'३०

गीता-बोध

पहला अध्याय

मगलप्रभात

११-११-३०

पाडव और कौरवोके अपनी सेनासहित युद्धके मैदान कुरुक्षेत्रमे एकत्र होनेपर दुर्योधन द्रोणचार्यके पास जाकर दोनों दलोके मुख्य-मुख्य योद्धाओके बारेमें चर्चा करता है। युद्धकी तैयारी होनेपर दोनों ओरके शख बजते है और अर्जुनके सारथी श्रीकृष्ण भगवान उसका रथ दोनो सेनाओके बीचमे लाकर खड़ा करते है। अर्जुन घबडाता है और श्रीकृष्णसे कहता है कि मै इन लोगोसे कैसे लडू ? दूसरे हो तो मै तुरत भिड़ सकता हू। लेकिन ये तो अपने स्वजन ठहरे। सब चचेरे भाई-बंधु है। हम एक साथ पले है। कौरव और पाडव कोई दो नही है। द्रोण केवल कौरवोके ही आचार्य नही है, हमें भी उन्होने सब विद्याएं सिखाई है। भीष्म तो हम सभीके पुरखा है। उनके साथ लड़ाई कैसी ? माना कि कौरव आततायी है, उन्होने बहुत दुष्ट कर्म किये है, अन्याय किये है, पांडवोकी जगह-जायदाद छीन ली है, द्रौपदी जैसी महासतीका

अपमान किया है। यह सब उनके दोष अवश्य है; पर मैं उन्हें मारकर कहां रहूंगा ? ये तो मूढ़ है। मैं इन-जैसा कैसे बनूं ? मुझे तो कुछ समझ है, सारा-सारका विवेक है। मुझे यह जानना चाहिए कि अपनोंके साथ लड़ने में पाप है। चाहे उन्होंने हमारा हिस्सा हजम कर लिया हो, चाहे वे हमें मार ही डाले, तब भी हम उनपर हाथ कैसे उठावें ? हे कृष्ण ! मैं तो इन सगे-संबंधियोंसे नहीं लड़ूंगा।

इतना कहते-कहते अर्जुनकी आंखोंके सामने अंधेरा छा गया और वह अपने रथमें गिर पड़ा।

यह पहले अध्यायका प्रसंग है। इसका नाम 'अर्जुन-विषाद-योग' है। विषादके मानी दु:खके होते है। जैसा दु:ख अर्जुनको हुआ वैसा हम सबको होना चाहिए। धर्म-वेदना तथा धर्म-जिज्ञासा के बिना ज्ञान नहीं मिलता। जिसके मनमें अच्छे और बुरेका भेद जाननेकी इच्छातक नहीं होती, उसके सामने धर्म-चर्चा कैसी ? कुरुक्षेत्रका युद्ध तो निमित्तमात्र है, सच्चा कुरुक्षेत्र हमारा शरीर है। यही कुरुक्षेत्र है और धर्म-क्षेत्र भी। यदि इसे हम ईश्वरका निवास-स्थान समझें और बनावें तो यह धर्मक्षेत्र है। इस क्षेत्रमें कुछ-न-कुछ लड़ाई तो नित्य चलती ही रहती है और ऐसी अधिकांश लड़ाइयां 'मेरा'-'तेरा' को लेकर होती है। अपने-परायेके भेदभावसे पैदा होती हैं। इसी-लिए आगे चलकर भगवान अर्जुनसे कहेंगे कि 'राग', 'द्वेष' सारे अधर्मकी जड़ है। जिसे 'अपना' माना

उसमें राग पैदा हुआ, जिसे 'पराया' जाना, उसमे द्वेष—वैरभाव आ गया। इसलिए 'मेरे'-'तेरे' का भेद भूलना चाहिए, या यो कहिये कि राग-द्वेषको तजना चाहिए। गीता और सभी धर्म-ग्रथ पुकार-पुकारकर यही कहते हैं। पर कहना एक बात है और उसके अनुसार करना दूसरी बात। हमे गीता इसके अनुसार करनेकी भी शिक्षा देती है। कैसे, सो आगे समझनेकी कोशिश की जायगी।

दूसरा अध्याय

सोमप्रभात
१७-११-३०

अर्जुन को जब कुछ चेत हुआ तो भगवानने उसे उलाहना दिया और कहा कि यह मोह तुझे कहांसे आ गया ? तेरे-जैसे वीर पुरुषको यह शोभा नही देता। पर अर्जुनका मोह यो टलनेवाला नही था। वह लड़नेसे इनकार करके बोला, "इन सगे-सबंधियों और गुरुजनोंको मारकार, मुझे राजपाट तो दरकिनार, स्वर्गका सुख भी नहीं चाहिए। मैं कर्तव्यविमूढ हो गया हू। इस स्थितिमे धर्म क्या है, यह मुझे नही सूझता। मैं आपकी शरण हू, मुझे धर्म बतलाइये !"

इस भांति अर्जुनको बहुत व्याकुल और जिज्ञासु देखकर भगवानको दया आई। वह उसे समझाने

लगे—तू व्यर्थ दुःखी होता है और बेसमझे-बूझे ज्ञानकी बातें करता है। जान पड़ता है कि तू देह और देहमें रहनेवाले आत्माका भेद ही भूल गया है। देह मरती है, आत्मा नहीं मरती। देह तो जन्मसे ही नाशवान है, देहमें जैसे जवानी और बुढ़ापा आता है वैसे ही उसका नाश भी होता है। देह का नाश होनेपर देही-का नाश कभी नहीं होता है। देहका जन्म है, आत्माका जन्म नहीं है। वह तो अजन्मा है। उसे बढ़-घट नहीं है। वह तो सदैव था, आज है और आगे भी रहने-वाला है। फिर तू काहेका शोक करता है? तेरा शोक तेरे मोहका कारण है। इन कौरव आदिको तू अपना मानता है, इसलिए तुझे ममता हो गई है। पर तुझे समझना चाहिए कि जिस देहमें तुझे ममता है वह तो नाशवान ही है। उसमें रहनेवाले जीवका विचार करनेपर तो तत्काल तेरी समझमें आजायगा कि उसका नाश तो कोई कर ही नहीं सकता। उसे न अग्नि जला सकती है, न वह पानीमें डूब सकता है, न वायु उसे सुखा सकती है। इसके सिवा, तू अपने धर्मको तो सोच! तू तो क्षत्रिय है। तेरे पीछे यह सेना इकट्ठी हुई है। अब अगर तू कायर बन जाय तो तू जो चाहता है उससे उलटा नतीजा होगा और तेरी हँसी होगी। आजतक तेरी गिनती बहादुरोंमें हुई है। अब यदि तू अधबीचमें लड़ाई छोड़ देगा तो लोग कहेंगे कि अर्जुन कायर होकर भाग गया। यदि भागनेमें धर्म होता तो लोकनिंदाकी कोई परवा न थी। पर यहां तो

यदि तू भागे तो अधर्म होगा और लोकनिदा उचित समझी जायगी, यह दोहरा दोप होगा।

यह तो मैने तेरे सामने बुद्धि की दलील रखी, आत्मा और देहका भेद बताया और तेरे कुलधर्मका तुझे भान कराया। पर अब तुझे मैं कर्मयोगकी बात समझाता हू। इस योगपर अमल करनेवालेको कभी नुकसान नही होता। इसमे तर्ककी बात नही है, आचरणकी है, करके अनुभव पानेकी बात है। और यह तो प्रसिद्ध अनुभव है कि हजारो मन तर्ककी अपेक्षा तोलाभर आचरणकी कीमत अधिक है। इस आचरण-मे भी यदि अच्छे-बुरे परिणामका तर्क आ घुसे तो वह दूषित हो जाता है। परिणामके विचारसे ही बुद्धि मलिन हो जाती है। वेदवादी लोग कर्मकांडमे पडकर अनेक प्रकारके फल पानेकी इच्छासे अनेक क्रियाएं आरम्भ कर बैठते है। एकसे फल न मिलनेपर दूसरीके पीछे दौडते है। फिर कोई तीसरी बता देता है तो उसके पीछे हैरान होते है, और ऐसा करनेमे उनकी मति भ्रममे पड जाती है। वास्तवमे मनुष्यका धर्म फलका विचार छोडकर कर्तव्य-कर्म किये जानेका है। इस समय यह युद्ध तेरा कर्तव्य है, इसे पूरा करना तेरा धर्म है। लाभ-हानि, हार-जीत तेरे हाथसे नही है। तू गाडी के नीचे चलनेवाले कुत्तेकी भाति इसका बोझ क्यो ढोता है? हार-जीत, सरदी-गरमी, सुख-दु:ख देहके साथ लगे ही हुए है, उन्हे मनुष्यको सहना चाहिए। जो भी नतीजा हो, उसके विषयमे निश्चित

रहकर तथा समता रखकर मनुष्यको अपने कर्तव्यमें तन्मय रहना चाहिए। इसका नाम योग है और इसी-में कर्मकुशलता है। कार्यकी सिद्धि कार्यके करनेमे छिपी है, उसके परिणाममे नही। तू स्वस्थ हो, फलका अभिमान छोड और कर्तव्यका पालन कर।

यह सुनकर अर्जुन पूछता है. यह तो मेरे बूतेके बाहर जान पडता है। हार-जीतका विचार छोडना, परिणामका विचार ही न करना, ऐसी समता, ऐसी स्थिरबुद्धि कैसे आ सकती है? मुझे समझाइये कि ऐसी स्थिर बुद्धिवाले कैसे होते हैं, उन्हे कैसे पहचाना जा सकता है?

तब भगवान ने जवाब दिया

हे अर्जुन! जिस मनुष्यने अपनी कामना-मात्रका त्याग किया है और जो अपने अन्तरमेंसे ही सतोष प्राप्त करता है, वह स्थिरचित्त, स्थितप्रज्ञ, स्थिर-बुद्धि या समाधिस्थ कहलाता है। ऐसा मनुष्य न दु खसे दुखी होता है, न सुखसे फूल उठता है। सुख-दु खादि पांच इद्रियोके विषय हैं। इसलिए ऐसा बुद्धिमान मनुष्य कछुएकी भांति अपनी इद्रियोको समेट लेता है, पर कछुआ तो जब किसी दुश्मनको देखता है तब अपने अगोको ढालके नीचे समेटता है; लेकिन मनुष्यकी इद्रियोपर तो विषय नित्य चढाई करनेको खडे ही हैं, अत. उसे तो हमेशा इद्रियोको समेटे रखना और स्वयं ढालरूप होकर विषयोके मुकाबलेमे लडना है। यह असली युद्ध है। कोई तो विषयोसे बचनेको देह-

दमन करता है, उपवास करता है। यह ठीक है कि उपवास-कालमे इंद्रिया विषयोकी ओर नही दौडती, पर अकेले उपवाससे रस नही सूख जाता। उपवास छोडनेपर यह तो और बढ भी जाता है। रसको दूर करनेके लिए तो ईश्वरका प्रसाद चाहिए। इद्रियां तो ऐसी बलवान है कि वे मनुष्यको उसके सावधान न रहनेपर जबरदस्ती घसीट ले जाती है। इसलिए मनुष्यको इद्रियोको हमेशा अपने वशमे रखना चाहिए। पर यह हो तब सकता है जब वह ईश्वरका ध्यान धरे, अतर्मुख हो, हृदयमें रहनेवाले अंतर्यामीको पहचाने और उसकी भक्ति करे। इस प्रकार जो मनुष्य मुझमे परायण रहकर अपनी इद्रियोंको वशमे रखता है, वह स्थिरबुद्धि योगी कहलाता है। इससे विपरीत करनेवाले के हाल भी मुझसे सुन। जिसकी इंद्रियां स्वच्छंदरूपसे बरतती है वह नित्य विषयोका ध्यान धरता है। तब उसमे उसका मन फस जाता है। इसके सिवा उसे और कुछ सूझता ही नही। ऐसी आसक्तिमेसे काम पैदा होता है। बादको उसकी पूर्ति न होनेपर उसे क्रोध आता है। क्रोधातुर तो बावला-सा हो ही जाता है, आपेमे नही रह जाता। अत स्मृतिभ्रशके कारण जो-सो बकता और करता है। ऐसे व्यक्तिका अतमे नाशके सिवा और क्या होगा ? जिसकी इद्रिया यो भटकती फिरती है उसकी हालत पतवाररहित नावकी-सी हो जाती है। चाहे जो हवा नावको जिधर-तिधर घसीट ले जाती है

और अंतमे किसी चट्टानसे टकराकर नाव चूर हो जाती है। जिसकी इंद्रियां भटका करती हैं उसके ये हाल होते हैं। अतः मनुष्यको कामनाओंको छोड़ना और इंद्रियोंपर काबू रखना चाहिए। इससे इंद्रियां न करने योग्य कार्य नही करेंगी, आंखें सीधी रहेंगी, पवित्र वस्तुको ही देखेंगी, कान भगवद्-भजन सुनेंगे, या दुखीकी आवाज सुनेंगे। हाथ-पांव सेवा-कार्यमे रुके रहेंगे और ये सब इंद्रियां मनुष्यके कर्तव्य-कार्यमें ही लगी रहेंगी और उसमेंसे उन्हें ईश्वरकी प्रसादी मिलेगी। वह प्रसादी मिली कि सारे दुःख गये समझो। सूर्यके तेजसे जैसे बर्फ पिघल जाती है वैसे ईश्वर-प्रसादीके तेजसे दुःखमात्र भाग जाते हैं और ऐसे मनुष्यको स्थिरबुद्धि कहते हैं। पर जिसकी बुद्धि स्थिर नही है, उसे अच्छी भावना कहांसे आवेगी? जिसे अच्छी भावना नही उसे शांति कहा? जहां शांति नही वहां सुख कहां। स्थिरबुद्धि मनुष्यको जहां दीपककी भांति साफ दिखाई देता है वहां अस्थिर मनवाले दुनियाकी गड़बड़मे पड़े रहते हैं और देख ही नहीं सकते। और ऐसो गड़बड़वालोंको जो स्पष्ट लगता है वह समाधिस्थ योगीको स्पष्टरूपसे मलिन लगता है और वह उधर नजरतक नही डालता। ऐसे योगीकी तो ऐसी स्थिति होती है कि नदी-नालो-का पानी जैसे समुद्रमे समा जाता है वैसे विषयमात्र इस समुद्ररूप योगीमे समा जाते हैं। और ऐसा मनुष्य समुद्रकी भांति हमेशा शांत रहता है। इससे

जो मनुष्य सब कामनाए तजकर, निरहंकार होकर, ममता छोड़कर, तटस्थरूपसे बरतता है, वह शांति पाता है। यह ईश्वर-प्राप्तिकी स्थति है और ऐसी स्थिति जिसकी मृत्युतक टिकती है वह मोक्ष पाता है।

तीसरा अध्याय

सोमप्रभात
२४-११-३०

स्थितप्रज्ञके लक्षण सुनकर अर्जुनको ऐसा लगा कि मनुष्यको शांत होकर बैठ रहना चाहिए। उसके लक्षणोमे कर्मका तो नामतक भी उसने नही सुना। इसलिए भगवानसे पूछा—"आपके वचनोसे तो लगता है कि कर्मसे ज्ञान बढकर है। इससे मेरी बुद्धि भ्रमित हो रही है। यदि ज्ञान अच्छा हो तो फिर मुझे घोर कर्ममे क्यो उतार रहे है? मुझे साफ कहिये कि मेरा भला किसमे है?"

तब भगवानने उत्तर दिया :

"हे पापरहित अर्जुन! आरभसे ही इस जगतमे दो मार्ग चलते आये है: एक मे ज्ञानकी प्रधानता है और दूसरेमे कर्मकी। पर तू स्वय देख ले कि कर्मके बिना मनुष्य अकर्मी नही हो सकता, बिना कर्मके ज्ञान आता ही नहीं। सब छोड़कर बैठ जानेवाला मनुप्य सिद्धपुरुष नही कहला सकता।

तू देखता है कि प्रत्येक मनुष्य कुछ-न-कुछ तो करता ही है। उसका स्वभाव ही उससे कुछ करावेगा। जगतका यह नियम होनेपर भी जो मनुष्य हाथ-पाव ढीले करके बैठा रहता है और मनमे तरह-तरहके मनसूबे करता रहता है, उसे मूर्ख कहेगे और वह मिथ्याचारी भी गिना जायगा। क्या इससे यह अच्छा नही है कि इद्रियोंको वशमे रखकर, राग-द्वेष छोडकर, शोर-गुलके बिना, आसक्तिके विना अर्थात् अनासक्तभावसे, मनुष्य हाथ-पांवोसे कुछ कर्म करे, कर्मयोगका आचरण करे? नियत कर्म—तेरे हिस्सेमें आया हुआ सेवा-कार्य——तू इद्रियोंको वशमे रखकर करता रह। आलसीकी भांति बैठे रहनेसे यह कहीं अच्छा है। आलसी होकर बैठे रहनेवालेके शरीरका अंतमें पतन हो जाता है। पर कर्म करते हुए इतना याद रखना चाहिए कि यज्ञ-कार्यके सिवा सारे कर्म लोगोंको बधनमे रखते हैं। यज्ञके मानी हैं, अपने लिए नही, बल्कि दूसरेके लिए, परोपकारके लिए, किया हुआ श्रम अर्थात् सक्षेपमे 'सेवा'। और जहां सेवाके निमित्त ही सेवा की जायगी वहां आसक्ति, राग-द्वेष नही होगा। ऐसा यज्ञ, ऐसी सेवा तू करता रह। ब्रह्माने जगत उपजानेके साथ-ही-साथ यज्ञ भी उपजाया, मानो हमारे कानमें यह मंत्र फूका कि पृथ्वीपर जाओ, एक दूसरे की सेवा करो और फूलो-फलो, जीवमात्रको देवतारूप जानो, इन देवोकी सेवा करके तुम उन्हे प्रसन्न रखो, वे तुम्हे प्रसन्न रखेंगे।

प्रसन्न हुए देव तुम्हें बिना मागे मनोवांछित फल देंगे। इसलिए यह समझना चाहिए कि लोक-सेवा किये बिना, उनका हिस्सा उन्हे पहले दिये बिना, जो खाता है, वह चोर है और जो लोगोका, जीवमात्रका, भाग उन्हे पहुंचानेके बाद खाता है या कुछ भोगता है उसे वह भोगनेका अधिकार है अर्थात् वह पाप-मुक्त हो जाता है। इससे उलटा, जो अपने लिए ही कमाता है—मजदूरी करता है—वह पापी है और पापका अन्न, खाता है। सृष्टिका नियम ही यह है कि अन्नसे जीवोंका निर्वाह होता है। अन्न वर्षासे पैदा होता है और वर्षा यज्ञसे अर्थात् जीवमात्र-की मेहनतसे उत्पन्न होती है। जहां जीव नही हैं वहां वर्षा नही पाई जाती, जहां जीव है वहां वर्षा अवश्य है। जीवमात्र श्रमजीवी है। कोई पड़े-पड़े खा नही सकता। और मूढ जीवोके लिए जब यह सत्य है तो मनुष्यके लिए यह कितने अधिक अंशमे लागू होना चाहिए? इससे भगवानने कहा, कर्मको ब्रह्माने पैदा किया। ब्रह्माकी उत्पत्ति अक्षर-ब्रह्मसे हुई, इसलिए यह समझना चाहिए कि यज्ञ-मात्रमें—सेवामात्रमे—अक्षरब्रह्म, परमेश्वर विराजता है। ऐसी इस प्रणालीका जो मनुष्य अनुसरण नही करता वह पापी है और व्यर्थ जीता है।

मगलप्रभात

यह कह सकते हैं कि जो मनुष्य आंतरिक शांति भोगता है और संतुष्ट रहता है, उसे कोई कर्तव्य नही

है, उसे कर्म करनेसे कोई फायदा नही, न करनेसे हानि नही है। किसीके संबंधमे कोई स्वार्थ उसे न होनेपर भी यज्ञकार्यको वह छोड नही सकता। इससे तू तो कर्तव्य-कर्म नित्य करता रह, पर उसमे राग-द्वेष न रख, उसमे आसक्ति न रख। जो अनासक्तिपूर्वक कर्मका आचरण करता है वह ईश्वर-साक्षात्कार करता है। फिर जनक-जैसे निःस्पृही राजा भी कर्म करते-करते सिद्धिको प्राप्त हुए, क्योकि वे लोकहितके लिए कर्म करते थे। तो तू कैसे इससे विपरीत बर्ताव कर सकता है? नियम ही यह है कि जैसा अच्छे और बडे माने जानेवाले मनुष्य आचरण करते हैं उसका अनुकरण साधारणलोग करते हैं। मुझे देख, मुझे काम करके क्या स्वार्थ साधना था? पर मैं चौबीसो घंटा बिना थके कर्म करता ही रहता हूं और इससे लोग भी उसके अनुसार अल्पाधिक प्रमाणमें बरतते है। पर यदि मै आलस्य कर जाऊं तो जगतका क्या हो? तू समझ सकता है कि सूर्य, चद्र, तारे इत्यादि स्थिर हो जाय तो जगतका नाश हो जाय। और इन सबको गति देनेवाला, नियममे रखनेवाला तो मैं ही ठहरा। किंतु लोगोमे और मुझमे इतना फरक जरूर है कि मुझे आसक्ति नही है, लोग आसक्त हैं, वे स्वार्थमे पड़े भागते रहते है। यदि तुझ-जैसा बुद्धिमान कर्म छोडे तो लोग भी वही करेंगे और बुद्धिभ्रष्ट हो जायगे। तुझे तो आसक्ति-रहित होकर कर्त्तव्य करना चाहिए, जिससे लोग

कर्म-भ्रष्ट न हो और धीरे-धीरे अनासक्त होना सीखे । मनुष्य अपनेमे मौजूद स्वाभाविक गुणोके वश होकर काम तो करता ही रहेगा । जो मूर्ख होता है वही मानता है कि 'मै करता हू' । सांस लेना यह जीवमात्रकी प्रकृति है, स्वभाव है । ग्राखपर किसी मक्खी आदिके बैठते ही तुरत मनुष्य स्वभावत ही पलके हिलाता है । उस समय नही कहता कि मैं सांस लेता हू, मैं पलक हिलाता हू । इस तरह जितने कर्म किये जायं सब स्वाभाविक रीतिके गुणके अनुसार क्यो न किये जाय ? उनके लिए अहकार क्या ? और यो ममत्वरहित सहज कर्म करनेका सुवर्ण मार्ग है, सब कर्म मुझे अर्पण करना और ममत्व हटाकर मेरे निमित्त करना । ऐसा करते-करते जब मनुष्यमेसे, अहकार-वृत्तिका, स्वार्थका नाश हो जाता है तब उसके सारे कर्म स्वाभाविक और निर्दोष हो जाते है । वह बहुत जजालमेंसे छूट जाता है । उसके लिए फिर कर्म-बंधन जैसा कुछ नही है और जहां स्वभावके अनुसार कर्म हो, वहां बलात्कारसे न करनेका दावा करनेमे ही अहकार समाया हुआ है । ऐसा बलात्कार करनेवाला बाहरसे चाहे कर्म न करता जान पडे, पर भीतर-भीतर तो उसका मन प्रपच रचता ही रहता है । बाहरी कर्मकी अपेक्षा यह बुरा है, अधिक बधन-कारक है ।

तो वास्तवमे तो इंद्रियोका अपने-अपने विषयोमें राग-द्वेप विद्यमान ही है । कानोको यह सुनना रुचता है, वह सुनना नही; नाकको गुलाबके फूलकी सुगधि

आती है, मल वगैरहकी दुर्गन्धि नहीं। सभी इंद्रियोंके संबंधमें यही बात है। इसलिए मनुष्यको इन राग-द्वेषरूपी दो चोरोंसे बचना चाहिए, और इन्हें मार भगाना हो तो कर्मोंकी शृंखलामें न पड़े। आज यह किया, कल दूसरा काम हाथमें लिया, परसों तीसरा, यों भटकता न फिरे। बल्कि अपने हिस्सेमें जो सेवा आ जाय उसे ईश्वरप्रीत्यर्थ करनेको तैयार रहे। तब यह भावना उत्पन्न होगी कि जो हम करते हैं वह ईश्वर ही कराता है। यह ज्ञान उत्पन्न होगा और अहंभाव चला जायगा। इसे स्वधर्म कहते हैं। स्वधर्मसे चिपटे रहना चाहिए, क्योंकि अपने लिए तो वही अच्छा है। देखनेमें परधर्म अच्छा दिखाई दे तो भी उसे भयानक समझना चाहिए। स्वधर्मपर चलते हुए मृत्यु होनेमें मोक्ष है।

भगवानके राग-द्वेषरहित होकर किये जानेवाले कर्मको उत्तम बतलानेपर अर्जुनने पूछा, "मनुष्य किसकी प्रेरणासे पापकर्म करता है? अक्सर तो ऐसा लगता है कि पापकर्मकी ओर कोई उसे जबर्दस्ती ढकेल ले जाता है।"

भगवान बोले, "मनुष्यको पापकर्मकी ओर ढकेल ले जानेवाला काम है और क्रोध है। दोनों सगे भाईकी भांति हैं, कामकी पूर्तिके पहले ही क्रोध आ धमकता है। काम-क्रोधवाला रजोगुणी कहलाता है। मनुष्यके महान शत्रु ये ही हैं। इनसे नित्य लड़ना है। जैसे मैल चढ़नेसे दर्पण धुंधला हो जाता है,

या अग्नि धुएके कारण ठीक नही जल पाती और गर्भ झिलोम पड़े रहनेतक घुटता रहता है, उसी प्रकार काम-क्रोध ज्ञानीके ज्ञानको प्रज्वलित नही होने देते, फीका कर देते है, या दबा देते है। काम अग्निके समान विकराल है और इंद्रिय, मन, बुद्धि, सबपर अपना काबू करके मनुष्यको पछाड़ देता है। इसलिए तू इद्रियोसे पहले निपट, फिर मनको जीत तो बुद्धि तेरे अधोन रहेगी; क्योकि इंद्रियां, मन और बुद्धि यद्यपि क्रमश एक दूसरेसे बढ-चढकर है तथापि आत्मा उन सबसे बहुत बढ़ा-चढ़ा है। मनुष्यको आत्माकी, अपनी शक्तिका पता नही है, इसीलिए वह मानता है कि इद्रियां वशमें नही रहती, मन वशमें नही रहता या बुद्धि काम नही करती। आत्माकी शक्तिका विश्वास होते ही बाकी सब आसान हो जाता है। इद्रियोको, मन और बुद्धिको ठिकाने रखनेवालेका काम, क्रोध या उनकी असख्य सेना कुछ नही कर सकती।"

इस अध्यायको मैंने गीता समझनेकी कुजी कहा है। एक वाक्यमें उसका सार यह जान पड़ता है कि जीवन सेवाके लिए है, भोगके लिए नही है। अत: हमें जीवनको यज्ञमय बना डालना उचित है। पर इतना जान लेने भरसे वैसा हो जाना संभव नही हो जाता। जानकर आचरण करनेपर हम उत्तरोत्तर शुद्ध होते जायंगे। पर सच्ची सेवा क्या है, यह जाननेको इद्रियदमन आवश्यक है। इस प्रकार

उत्तरोत्तर हम सत्यरूपी परमात्माके निकट होते जाते हैं। युग-युगमें हमें सत्यकी अधिक झांकी होती है। स्वार्थ-दृष्टिसे होनेवाला सेवा-कार्य यज्ञ नहीं रह जाता। अत अनासक्तिकी बडी आवश्यकता है। इतना जाननेपर हमे इधर-उधरके वाद-विवादमें नहीं उलझना पडता। भगवानने अर्जुनको क्या सचमुच ही स्वजनोंको मारनेकी शिक्षा दी? क्या उसमे धर्म था? ऐसे प्रश्न आते रहते है। अनासक्ति आनेपर योंही हमारे हाथमे किसीको मारनेको छुरी हो तो वह भी छूट जाती है। पर अनासक्तिका ढोंग करनेसे वह नही आती। हमारे प्रयत्नपर वह आज आ सकती है अथवा, सभव है, हजारों वर्षतक प्रयत्न करते रहनेपर भी न आवे। इसका भी फिकर छोड़ देना चाहिए। प्रयत्नमे ही सफलता है। यह हमे सूक्ष्मतासे जांचते रहना चाहिए कि प्रयत्न वास्तव मे हो रहा है या नही। इसमे आत्माको धोखा नहीं देना चाहिए और इतना ध्यान रखना तो सभीके लिए संभव है।

चौथा अध्याय

सोमप्रभात
१-१२-३०

भगवानने अर्जुनसे कहा कि मैंने जो निष्काम कर्मयोग तुझे बतलाया है वह बहुत प्राचीनकालसे

चला आता है, यह नया नही है। तू प्रिय भक्त है इसलिए, और इस समय धर्मसंकटमें है इसलिए, उसमेंसे मुक्त करनेके लिए, मैने तेरे सामने इसे रखा है। जब-जब धर्मकी निंदा होती है और अधर्म फैलता है तब-तब मै अवतार लेता हूं और भक्तोकी रक्षा करता हू, पापीका संहार करता हूं। मेरी इस मायाको जो जाननेवाला है वह विश्वास रखता है कि अधर्मका लोप अवश्य होगा, साधु पुरुषका रक्षक ईश्वर है। ऐसे मनुष्य धर्मका त्याग नही करते और अतमें मुझे पाते हैं, क्योकि वे मेरा ध्यान धरनेवाले, मेरा आश्रय लेनेवाले होनेके कारण काम-क्रोधादिसे मुक्त रहते है और तप तथा ज्ञानसे शुद्ध हुए रहते है। मनुष्य जैसा करता है वैसा फल पाता है। मेरे नियमोसे बाहर कोई रह नही सकता। गुण-कर्म-भेदसे मैंने चार वर्ण पैदा किये है। फिर भी मुझे उनका कर्ता मत समझ, क्योकि मुझे इस कर्ममेसे किसी फलकी आकाक्षा नही है, न इसका पाप-पुण्य मुझे होता है। यह ईश्वरी माया समझने योग्य है। जगतमे जितनी प्रवृत्तिया है, सब ईश्वरी नियमोके अधीन होती है, फिर भी ईश्वर उनसे अलिप्त रहता है, इसलिए वह उनका कर्ता है और अकर्ता भी। यों अलिप्त रहकर, अछूते रहकर, फलेच्छासे रहित होकर जैसे ईश्वर चलता है वैसे मनुष्य भी निष्काम रहकर चले तो अवश्य मोक्ष पा जाय। ऐसा मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है और ऐसे मनुष्यको न करने योग्य

कर्मका भी तुरंत पता चल जाता है। कामनासे सबधित कर्म, जो कामनाके बिना हो ही नहीं सकते वे सब, न करने योग्य कर्म कहलाते हैं—उदाहरणके लिए, चोरी, व्यभिचार इत्यादि। ऐसे कर्म कोई अलिप्त रहकर नही कर सकता। इसलिए जो कामना और संकल्प छोडकर कर्तव्य-कर्म करता है उसके बारेमे कहा जाता है कि उसने अपने ज्ञानरूपी अग्निद्वारा अपने कर्मोको जला डाला है। यो कर्म-फलका संग छोड़नेवाला मनुष्य सदा सतुष्ट रहता है, सदा स्वतन्त्र होता है। उसका मन ठिकाने होता है, वह किसी संग्रहमे नहीं पड़ता और जैसे आरोग्यवान पुरुषकी शारीरिक क्रियाए अपने-आप चलती रहती हैं उसी प्रकार ऐसे मनुष्यकी प्रवृत्तियां अपने-आप चला करती है। उनके अपने चलानेका उसे अभिमान नही होता, भान तक नही होता। वह स्वय निमित्तिमात्र रहता है—सफलता मिली तो भी 'वाह-वाह', न मिली तो भी। सफलतासे वह फूल नही उठता, विफलतासे घबराता नहीं। उसके सब कर्म यज्ञरूप, सेवाके लिए होते हैं। वह सारी क्रियाओंमें ईश्वरको ही देखता है और अंतमें उसीको पाता है।

यज्ञ तो अनेक प्रकारके कहे गये हैं। उन सबके मूलमे शुद्धि और सेवा होती है। इंद्रियदमन एक प्रकारका यज्ञ है, किसीको दान देना दूसरी प्रकारका। प्राणायामादि भी शुद्धिके लिए आरंभ किये जानेवाले यज्ञ हैं। इनका ज्ञान किसी ज्ञाता गुरुसे प्राप्त किया

जा सकता है। वह मिलाप, विनय, लगन और सेवासे ही संभव है। यदि सब लोग बिना समझे-बूझे यज्ञके नामपर अनेक प्रवृत्तियां करने लग जायं तो अज्ञानके निमित्त होनेके कारण, भलेके बदले बुरा नतीजा भी हो सकता है। इसलिए हरेक कामके ज्ञानपूर्वक होनेकी पूरी आवश्यकता है।

यहां ज्ञानसे मतलब अक्षर-ज्ञान नहीं है। इस ज्ञानमें शंकाकी कोई गुंजायश ही नहीं रहती। उसका श्रद्धासे आरंभ होता है और अंतमें उसका अनुभव आता है। ऐसे ज्ञानसे मनुष्य सब जीवोंको अपनेमें देखता है और अपनेको ईश्वरमें देखता है, यहांतक कि यह सब प्रत्यक्षकी भांति उसे ईश्वरमय लगता है। ऐसा ज्ञान पापी-से-पापीको भी तार देता है। यह ज्ञान कर्मबंधनमेंसे मनुष्यको मुक्त करता है, अर्थात् कर्मका फल उसे स्पर्श नहीं करता। इसके समान पवित्र इस जगतमें दूसरा कुछ नहीं है। इसलिए तू श्रद्धा रखकर, ईश्वरपरायण होकर, इंद्रियोंको वशमें रखकर ऐसा ज्ञान पानेका प्रयत्न कर, उससे तुझे परम शांति मिलेगी।

तीसरा, चौथा, और पांचवां अध्याय, तीनों एक साथ मनन करने योग्य है। उनमेंसे अनासक्तियोग क्या है इसका अनुमान हो जाता है। इस अनासक्ति—निष्कामतासे मिलनेका उपाय भी उनमें थोड़े-बहुत अंशमें बतलाया गया है। इन तीनों अध्यायोंको यथार्थ रूपसे समझ लेनेपर आगेके अध्यायोंमें कम कठिनाई

पड़ेगी। आगेके अध्याय हमे अनासक्ति-प्राप्तिके साधन-की अनेक रीतियां वतलाते हैं। हमें इस दृष्टिसे गीताका अध्ययन करना चाहिए, इससे अपनी नित्य पैदा होनेवाली समस्याओंको हम गीताद्वारा विना परिश्रमके हल कर सकेंगे। यह नित्यके अभ्याससे संभव होनेवाली वस्तु है। सबको आजमा देखनी चाहिए। क्रोध आया कि तुरत उससे संवधित श्लोकका स्मरण करके उसे शांत करना चाहिए। किसीका द्वेष हो, अधीरता आवे, आहारंपरा आवे, किसी कामको करने या न करनेका संकट आवे तो ऐसे सब प्रश्नोंका निपटारा, श्रद्धा हो और नित्य मनन हो तो, गीता-मातासे कराया जा सकता है। इसके लिए नित्यका यह पारायण है और तदर्थ यह प्रयत्न है।

यज्ञ—१

मंगलप्रभात

२१-१०-३०

हम यज्ञ शब्दका व्यवहार वारंवार करते हैं। हमने नित्यका महायज्ञ भी रचा है। इसलिए यज्ञ शब्दका विचार कर लेना जरूरी है। इस लोकमें या परलोकमें कुछ भी वदला लिये या चाहे विना, परार्थ-के लिए किये हुए किसी भी कर्मको यज्ञ कहेंगे।

कर्म कायिक हो या मानसिक, चाहे वाचिक, कर्म का विशाल-से-विशाल अर्थ लेना चाहिए। 'परार्थके लिए' का मतलब केवल मनुष्य-वर्ग नहीं, बल्कि जीवमात्र लेना चाहिए और अहिंसाकी दृष्टिसे भी, मनुष्यजातिकी सेवाके लिए भी, दूसरे जीवोंका होमना या उनका नाश करना यज्ञकी गिनतीमें नही आ सकता। वेदादिमे अश्व, गाय इत्यादिको होमनेकी जो बात आती है उसे हमने गलत माना है। वहां पशुहिंसाका अर्थ ले तो सत्य और अहिंसाकी तराजूपर ऐसे होम नही चढ सकते, इतने से हमने सतोष मान लिया है। जो वचन धर्मके नामसे प्रसिद्ध है उनका ऐतिहासिक अर्थ करनेमे हम नहीं फसते और वैसे अर्थोंके अन्वेषणकी अपनी अयोग्यता हम स्वीकार करते है। उस योग्यताकी प्राप्तिका प्रयत्न भी हम नही करते, क्योकि ऐतिहासिक अर्थसे जीवहिंसा संगत भी ठहरे तो भी अहिंसाको सर्वोपरि धर्म माननेके कारण हमारे लिए उस अर्थको रुचनेवाला आचार त्याज्य है।

उक्त व्याख्याके अनुसार विचारनेपर हम देख सकते है कि जिस कर्ममें अधिक-से-अधिक जीवोका, अधिक-से-अधिक क्षेत्रमें कल्याण हो और जो कर्म अधिक-से-अधिक मनुष्य अधिक-से-अधिक सरलतासे कर सके, और जिसमे अधिक-से-अधिक सेवा होती हो, वह महायज्ञ है या अच्छा यज्ञ है। अतः किसीकी भी सेवाके निमित्त अन्य किसीका कल्याण चाहना या

करना यज्ञ-कार्य नही है और यज्ञके अलावा किया हुआ कार्य बन्धनरूप है यह हमे भगवद्गीता और अनुभव भी सिखाता है।

ऐसे यज्ञके विना यह जग क्षणभर भी नही टिक सकता, इसीलिए गीताकारने ज्ञानकी कुछ झलक दूसरे अध्यायमे दिखाकर तीसरे अध्यायमे उसकी प्राप्तिके साधनमे प्रवेश कराया है और साफ शब्दो-मे कहा है कि हम यज्ञको जन्मसे ही साथ लाये है। यहातक कि हमे यह शरीर केवल परमार्थके लिए मिला है और इसलिए यज्ञ किये विना जो खाता है वह चोरीका खाता है, ऐसी सख्त बात गीताकारने कह डाली। जो शुद्ध जीवन विताना चाहता है, उसके सब काम यज्ञरूप होते है। हमारे यज्ञसहित जन्मनेका मतलब है कि हम हरदमके ऋणी या देनदार है। इसलिए हम जगके सदाके गुलाम है। और जैसे स्वामीकी गुलामको सेवा के बदलेमे खाना-कपड़ा आदि देता है वैसे हमे जगतका स्वामी हमसे गुलामी लेनेके लिए जो अन्न-वस्त्रादि देता है वह कृतज्ञतापूर्वक लेना चाहिए। यह न समझना चाहिए कि जो मिलता है उतनेका भी हमे हक है, न मिलनेपर मालिकको दोष न दे। यह देह उसकी है, जी चाहे इसे रक्खे, या न रक्खे। यह स्थिति दु खद नही है, न दयनीय है। यदि हम अपना स्थान समझ लें तो यह स्वाभाविक है और इसलिए सुखद और चाहने योग्य है। ऐसे परम सुखके अनुभवके लिए अचल श्रद्धा तो अवश्य चाहिए

अपने लिए कोई चिंता न करना, सब परमेश्वरको सौप देना, ऐसा आदेश मैंने तो सब धर्मोमे पाया है।

पर इस वचनसे किसीको डरना नही चाहिए। मनको स्वच्छ रखकर सेवाका आरभ करनेवालेको उसकी आवश्यकता दिन-प्रतिदिन स्पष्ट होती जाती है और वैसे ही उसकी श्रद्धा बढती जाती है। जो स्वार्थ छोडने को तैयार ही नही है, अपनी जन्मकी स्थितिको पहचाननेको ही तैयार नही, उसके लिए तो सेवाके सब मार्ग मुश्किल है। उसकी सेवामें तो स्वार्थ की गंध आती ही रहेगी। पर ऐसे स्वार्थी जगतमे कम ही मिलेगे। कुछ-न-कुछ निःस्वार्थ सेवा हम सब जाने-अनजाने करते ही रहते है। यही चीज विचार-पूर्वक करने लगनेसे हमारी पारमार्थिक सेवाकी वृत्ति उत्तरोत्तर बढती रहेगी। उसमे हमारा सच्चा सुख है और जगतका कल्याण है।

यज्ञ—२

मगलप्रभात

२८-१०-३०

यज्ञके विषयमे पिछले सप्ताह लिखकर भी इच्छा पूरी नही हुई। जिस चीजको जन्मके साथ लेकर हमने इस ससारमे प्रवेश किया है उसके बारेमे कुछ अधिक विचार करना व्यर्थ न होगा। यज्ञ नित्य-कर्तव्य है,

चौबीसो घंटे आचरणमे लानेकी वस्तु है, इस विचारसे और यज्ञका अर्थ सेवा समझकर 'परोपकाराय सतां विभूतय' वचन कहा गया है। निष्काम सेवा परोपकार नहीं है, बल्कि अपने निजके ऊपर उपकार है। जैसे कर्ज चुकाना परोपकार नही, बल्कि अपनी सेवा है, अपने ऊपर उपकार है, अपने ऊपरसे भार उतारना है, अपने धर्मको बचाना है। फिर कोई सतकी ही पूजी 'परोपकारार्थ'—अधिक सुंदर भाषामें कहिये तो —'सेवार्थ' हो सो नही है, बल्कि मनुष्यमात्रकी पूजी सेवार्थ है। और यह होनेपर सारे जीवनमें भोगका खातमा हो जाता है, जीवन त्यागमय हो जाता है। या यों कहे कि मनुष्यका त्याग ही उसका भोग है। पशु और मनुष्यके जीवनमे यह भेद है। जीवनका यह अर्थ जीवनको शुष्क बना देता है, इससे कलाका नाश हो जाता है, अनेक लोग यह आरोप करके उक्त विचारको सदोष समझते है। पर मेरे खयालमें ऐसा कहना त्यागका अनर्थ करना है। त्यागके मानी ससार-से भागकर जगलमें जा बसना नही है, बल्कि जीवनकी प्रवृत्ति मात्रामे त्यागका होना है। गृहस्थ-जीवन त्यागी और भोगी दोनों हो सकता है। मोचीका जूते सीना, किसानका खेती करना, व्यापारीका व्यापार करना और नाईका हजामत बनाना त्याग भावनासे हो सकता है या उसमें भोगकी लालसा हो सकती है। जो यज्ञार्थ व्यापार करता है वह करोड़ोंके व्यापारमें भी लोकसेवा-का ही खयाल रक्खेगा, किसीको धोखा नही देगा,

अकरणीय साहस नही करेगा, करोडोकी सम्पत्ति रखते हुए भी सादगीसे रहेगा, करोडो कमाते हुए भी किसीकी हानि नही करेगा। किसीकी हानि होती होगी तो करोड़ोसे हाथ धो देगा। कोई इस खयालसे न हँसे कि ऐसा व्यापारी मेरी कल्पनामे ही बसता है। ससारके सौभाग्यसे ऐसे व्यापारी पश्चिम और पूर्व दोनोमे है। हो चाहे अगुलियोंपर ही गिनने भरको, पर एक भी जीवित उदाहरण रहनेपर उसे फिर कल्पना-की वस्तु नही कह सकते। ऐसे दरजीको हमने वढ-वाणमे ही देखा है। ऐसे एक नाईको मै जानता हू और ऐसे बुनकरको हम लोगोमेसे[1] कौन नही जानता। देखने-ढूढनेपर हम सब धधोमे केवल यज्ञार्थ अपना धंधा करने और तदर्थ जीवन बितानेवाले आदमी पा सकते है। यह अवश्य है कि ऐसे याज्ञिक अपने धंधेसे अपनी आजीविका प्राप्त करते है। पर वे धन्धा आजीविकाके निमित्त नही करते, आजीविका उनके लिए उस धंधेका गौण फल है। मोतीलाल पहले भी दर्जीका धंधा करता था और ज्ञान होनेके बाद भी दर्जी बना रहा। भावना बदल जानेसे उसका धधा यज्ञरूप बन गया, उसमे पवित्रता आ गई और पेशेमे दूसरेके सुखका विचार दाखिल हो गया। उसी समय उसके जीवनमे कलाका प्रवेश हो गया। यज्ञमय जीवन कलाकी पराकाष्ठा है, सच्चा रस उसीमे है, क्योकि उसमेसे रसके नित्य नये झरने प्रकट होते

[1] यानी आश्रमवासियोमेसे

हैं। मनुष्य उन्हें पीकर अघाता नही है, न वे झरने कभी सूखते है। यज्ञ यदि भाररूप जान पड़े तो यज्ञ नही है, जो अखरे वह त्याग नही है। भोगका अंत नाश है, त्यागका अन्त अमरता। रस स्वतन्त्र वस्तु नही है, रस तो हमारी वृत्तिमे मौजूद है। एकको नाटकके पर्दोंमे मजा आता है, अन्यको आकाशमें नित्य नये-नये प्रकट होनेवाले दृश्योमे। रस परिशीलनका विषय है। जो रसरूपसे बचपनमे सिखाया जाता है, जिसे रसके नामसे जनतामे प्रवेश कराया जाता है वह रस माना जाता है। हम ऐसे उदाहरण पा सकते है कि जिनमे एक प्रजाको रसमय लगनेवाली चीज दूसरी प्रजाको रसहीन लगती है।

यज्ञ करनेवाले अनेक सेवक मानते है कि हम निष्काम भावसे सेवा करते हैं, अत लोगोसे आवश्यकताभरको, और अनावश्यक भी, लेनेका हमें परवाना मिल गया है। जहां किसी सेवकके मनमें यह विचार आया कि उसकी सेवकाई गई, सरदारी आई। सेवामे अपनी सुविधाके विचारकी गुंजाइश ही नही होती है। सेवककी सुविधा स्वामी—ईश्वर देखे, देनी होगी तो वह देगा। यह खयाल रखते हुए सेवकको चाहिए कि जो कुछ आ जाय सबको न अपना बैठे। आवश्यकताभरको ही ले, बाकीका त्याग करे। अपनी सुविधाकी रक्षा न होनेपर भी शात रहे, रोष न करे, मनमे भी खिन्नता न लावे। याज्ञिकका बदला, सेवककी मजदूरी, यज्ञ—सेवा ही है।

उसीमें उसका संतोष है।

सेवा-कार्यमे वेगार भी नहीं काटी जाती। उसे अंतके लिए नही छोडा जाता। अपना काम तो संवारे; लेकिन पराया, बिना पैसेके करना है, इस खयालसे जैसा-तैसा या जब चाहे तब करनेमे भी हर्ज न समझनेवाला, यज्ञका ककहरा भी नही जानता। सेवामे तो सोलहों सिंगार भरने पड़ते है, अपनी सारी कला उसमे खर्च कर देनी पडती है। पहले यह, फिर अपनी सेवा। मतलब यह कि शुद्ध यज्ञ करनेवालेके लिए अपना कुछ नही है। उसने सब 'कृष्णार्पण' कर दिया है।

यज्ञ—३

(व्यक्तिगत पत्रोमेसे)

१३-११-३०

चर्खे और फ्रेचके विषयमे तुमने जो लिखा है उसमे भी सिद्धान्त दृष्टिसे त्रुटि पाता हूं। चर्खेको सर्वार्पण करनेपर उस समयको दूसरे काममें नहीं लगाया जा सकता। कोई बात करने आ जाय तो विवेकके खयालसे कर सकते है, पर बातोके बजाय कुछ सीखा ही जाय तो उसमे क्या बुराई है, यह न्याय यहा नही लग सकता। बातोमेसे तो जब चाहे छुट्टी पाई जा सकती है। बात करनेवाला

भी बहुत देरतक बैठकर बाते नही करेगा। पर शिक्षक बन जानेपर तो वह पूरा समय देनेको मजबूर हो जाता है। यह सब तबके लिए है जबकि चर्खेको यज्ञरूपमे चलाते हो। अपने विषयमे मैं इस सत्यका प्रत्यक्ष अनुभव करता हू। चर्खा चलाते समय जब अन्य विचारोमे पड़ता हू तब गतिपर, नंबरपर, समानतापर उसका असर पड़ता है। कल्पना करो कि रोम्या रोला या बिथोवन पियानोपर बैठे है। उसपर वे ऐसे तन्मय हो जाते है कि बात नही कर सकते, न मनमें अन्य विचार कर सकते हैं। कला और कलाकार पृथक् नही होते। यदि यह पियानोके लिए सत्य हो तो फिर चर्खायज्ञके लिए कितना अधिक सत्य होना चाहिए? यह विचार जाने दो कि यह आचरण आज ही सभव नही है। अपने विचारक्षेत्र-को बावन तोला पाव रत्ती शुद्ध रख सके तो तदनुसार आचरण किसी दिन हो ही जायगा। यह न समझो कि इसमे गुजरे हुओंकी आलोचना है। मैं खुद बहुत अधूरा हू, मुझे आलोचना करनेका हक भी कहां है? जितना जानता हू उसपर मैं खुद कहां पूरी तरह चलता हूं? चलता होता तो कबका चर्खा सात लाख गांवोमे गूज जाता। आज भी जो जानता हूं उसके अनुसार सौ फीसदी चल सकू तो मेरे यहां बैठे भी चर्खा हवाकी तरह फैले। पर यदि मालवीयजी भागवत पुराणकी चर्चासे थके तो मैं चर्खा-सगीतकी बातो से थकूं। चर्खा-पुराण तो कैसे कहूं? पुराण

तो भविष्यकी पीढी रचेगी, बशर्ते कि हम कुछ रचने लायक कर जायगे। आज तो हम इसका टूटा-फूटा सगीत रच रहे है। अतमे उसमे कैसा सुर निकलता है यह हमारी तपश्चर्या और हमारे समर्पणपर निर्भर रहेगा।

···मुझे आदर्श तो यह लगता है कि यज्ञके समय मौन हो। उस समय जो विचार हो वह चर्खे, या कहो खादीसबधी अथवा रामनामका हो। रामनामको विस्तृत अर्थमे लेना चाहिए। वास्तवमे तो रामनाम जाने-अनजाने हमेशा ही होना चाहिए, जैसे सगीतमे तबूरा। पर हाथ जो काम करते हो उसमे हम एक-ध्यान न हो तो रामनामका इच्छापूर्वक रटन होना चाहिए। चर्खा चलाते हुए हम बाते करे, कुछ सुने या और कुछ करे तो यह क्रिया यज्ञ तो नही होगी। यदि यह यज्ञ कर्त्तव्य है तो उतने समयके लिए उसमे लीन हो जाना चाहिए। जिसका सारा जीवन यज्ञरूप है और जो अनासक्त है वह एक समयमे एक ही काम करेगा। इतना जानते हुए भी (अल्पाधिक प्रमाणमे) मै ही पहला पापी ठहरता हू, क्योकि कह सकते है कि मैंने किसी दिन चुपचाप एकांतमे बैठकर अर्थात् मौन धरकर नही काता। मौनवारके दिन कातते-कातते डाक सुनता या किसीकी कोई बात सुननी होती तो वह सुनता। यह कुटेव यहां भी नही गई। इसलिए कोई ताज्जुब नही कि कातनेमे बहुत नियमित होते हुए भी मैं सुस्त रह

गया और घंटेमें मुश्किलसे २०० तारतक अब पहुंचा हूं। और भी अनेक दोष अपनेमें पाता हूं, जैसे तार टूटना, माल बनाना न जानना, चमरखका अल्पज्ञान, रुईकी किस्म न पहचानना, समानता वगैरह पूरी तरहसे न निकाल सकना, तारकी परख न कर सकना इत्यादि। क्या यह सब किसी याज्ञिकको शोभा देता है? फिर खादीकी गति धीमी रह गई तो इसमें क्या आश्चर्य है? यदि दरिद्रनारायण है और उसके होने में कोई शक नहीं है, और यदि उसकी प्रसादी खादी है, और यह कहनेवाला, जाननेवाला जो कुछ कहो वह मैं हूं, फिर भी मेरा अमल कितना ढीला-ढाला है। इसलिए इस विषयमें किसी औरको दोषी ठहरानेका जी नहीं चाहता है। मैं तो सिर्फ तुम्हें अपने दोषका, दुःखका और उसमेंसे उत्पन्न होनेवाले खयालका और ज्ञानका दर्शन कराना चाहता हूं। यद्यपि काकाके साथ यदा-कदा ऐसी बातें हुई हैं, तथापि इतनी स्पष्टतासे तो यही पहले-पहल तुमसे कर रहा हूं। और यह स्पष्टता भी आई तुम्हारे उस फ्रेंचको चरखेके साथ जोड़नेके कारण। तुमने जो किया उसमें मैं तुम्हारा तनिक भी दोष नहीं पाता। मैं देख रहा हूं कि चर्खेका कैसा कच्चा 'मंत्री' हूं मैं। मंत्रको तो जाना, पर उसकी पूरी विधि आचारमें नहीं उतारी, इसलिए मंत्र अपनी पूरी शक्ति नहीं प्रकट कर सका। चर्खेकी भांति ही इस बातको सारे जीवनपर घटाकर देखो तो कल्पनामें तो तुम्हें

जीवनकी अद्भुत शातिका अनुभव होगा और सफलता-का भी। 'योग कर्मसु कौशलम्' का तात्पर्य यह है। इस बातको ध्यानमे रखकर जितना हो सके उतना ही करनेको हाथमे ले और सतोप माने। मेरा दृढ विश्वास है कि इससे हम अपनेको और समाजको अधिक-से-अधिक आगे बढ़ानेमे अपना कर्त्तव्य करते है। जबतक इसका पूरा-पूरा अमल न हो ले तबतक तो यह कोरा पाडित्य ही कहा जायगा। दिन-दिन इस दिशामे बढ तो रहा हू। बाहर निकलनेपर क्या होगा वह भगवान जाने। तुम इसमेसे बन सके तो इतना तो अमलमे ला सकते हो कि यज्ञके निमित्त जितने तार तय कर लो उतने तो शास्त्रीय रीतिसे कातो। बाकी तो चाहे जिस दिशामे हिन्दुस्तानकी सपत्ति बढानेके इरादेसे कातते रहो। अभी लिखते जानेकी इच्छा होती है। पर अब बस करता हू।

पांचवां अध्याय

अर्जुन कहता है, "आप ज्ञानको विशेष बतलाते हैं। इससे मै समझता हू कि कर्म करनेकी आवश्यकता नही है, संन्यास ही अच्छा है। पर फिर आप कर्मकी भी स्तुति करते है तब यह लगता है कि योग ही अच्छा है। इन दोनोमे अधिक अच्छा क्या है, यह मुझको निश्चयपूर्वक कहिये। तभी मुझे कुछ शांति मिल सकती है।"

यह सुनकर भगवान बोले, "संन्यास अर्थात् ज्ञान और कर्मयोग अर्थात् निष्काम कर्म ये दोनो अच्छे हैं, पर यदि तुझे चुनाव ही करना है तो मैं कहता हू कि योग अर्थात् अनासक्तिपूर्वक कर्म अधिक अच्छा है। जो मनुष्य किसी वस्तु या मनुष्य-का न द्वेष करता है, न कोई इच्छा रखता है और सुख-दु ख, सर्दी-गर्मी इत्यादि द्वद्वोसे परे रहता है, वह सन्यासी ही है। फिर वह कर्म करता हो या न करता हो। ऐसा मनुष्य सहज में बधनमुक्त हो जाता है। अज्ञानी ज्ञान और योगमे भेद करता है, ज्ञानी नही। दोनोका परिणाम एक ही होता है, अर्थात् दोनोसे वही स्थान मिलता है। इसलिए सच्चा जाननेवाला वही है जो दोनोको एक ही समझता है; क्योकि शुद्ध ज्ञानवालेकी सकल्पभरसे कार्यसिद्धि होती है, अर्थात् बाहरी कर्म करनेकी उसे जरूरत नही रहती। जब जनकपुरी जल रही थी तब दूसरोका धर्म था कि जाकर आग बुझाये। जनकके सकल्पसे ही उनका आग बुझानेका कर्त्तव्य पूरा हो रहा था; क्योकि उनके सेवक उनके अधीन थे। यदि वह घड़ाभर पानी लेकर दौडते तो कुल चौपट कर देते। दूसरे लोग उनकी ओर ताकते रहते और अपना कर्तव्य बिसर जाते। और विशेप भलमंसी दिखाते तो हक्के-बक्के होकर जनककी रक्षा करने दौड़ते। पर सब झटपट जनक नही बन सकते। जनककी स्थिति बड़ी दुर्लभ है। करोड़ोमेंसे किसीको अनेक जन्मो की

सेवासे वह प्राप्त हो सकती है। यह भी नही है कि इसकी प्राप्तिपर कोई विशेष शाति हो। उत्तरोत्तर निष्काम कर्म करते मनुष्यका सकल्पबल बढता जाता है और बाहरी कर्म कम होते जाते है। कहा जा सकता है कि वास्तवमे देखनेपर उसे इसका पता भी नही चलता। इसके लिए उसका प्रयत्न भी नहीं होता। वह तो सेवा-कार्यमे ही डूबा रहता है। उससे उसकी सेवा-शक्ति इतनी अधिक बढ जाती है कि उसे सेवासे कोई थकान आती नही जान पडती। इससे अतमे उसके सकल्प मे ही सेवा आ जाती है, वैसे ही जैसे बहुत जोर-से गति करती हुई वस्तु स्थिर-सी लगती है। ऐसा मनुष्य कुछ करता नही है, यह कहना प्रत्यक्षरूपसे अयुक्त है। पर ऐसी स्थिति साधारणत कल्पनाकी ही वस्तु है, अनुभवमे नही आती। इसलिए मैंने कर्मयोगको विशेष कहा है। करोडो निष्काम कर्ममेसे ही सन्यासका फल प्राप्त करते है। वे सन्यासी होने जाय तो इधर या उधर, कहीके न रहेगे। सन्यासी होने गये तो मिथ्याचारी हो जानेकी पूरी संभावना है, और कर्मसे तो गये ही, मतलब सब खोया। पर जो मनुष्य अनासक्ति-सहित कर्म करता हुआ शुद्रता प्राप्त करता है, जिसने अपने मनको जीता है, जिसने अपनी इद्रियोको वशमे रक्खा है, जिसने सब जीवोके साथ अपनी एकता साधी है और सबको अपने समान ही मानता है, वह कर्म करते हुए भी उससे अलग रहता है, अर्थात् बधनमे नही

पड़ता। ऐसे मनुष्यके बोलने-चालने आदिकी क्रियाएं करते हुए भी ऐसा लगता है कि इन क्रियाओंको इंद्रियां अपने धर्मानुसार कर रही हैं। स्वयं वह कुछ नहीं करता। शरीरसे आरोग्यवान मनुष्यकी क्रियाएं स्वाभाविक होती हैं। उसके जठर आदि अपने-आप काम करते हैं, उनकी ओर उसे खयाल नहीं दौड़ाना पड़ता, वैसे ही जिसकी आत्मा आरोग्यवान है उसके लिए कहा जा सकता है कि शरीरमें रहते हुए भी स्वयं अलिप्त है, कुछ नहीं करता। इसलिए मनुष्यको चाहिए कि सब कर्म ब्रह्मार्पण करे, ब्रह्मके ही निमित्त करे। तब वह करते हुए भी पाप-पुण्यका पुंज नहीं रचता। पानीमें कमलकी भांति कोरा-का-कोरा ही रहेगा। इसलिए जिसने अनासक्तिका अभ्यास कर लिया है वह योगी कायासे, मनसे, बुद्धिसे कार्य करते हुए भी, ममरहित होकर, अहंकार तजकर बरतता है, जिससे शुद्ध हो जाता है और शांति पाता है। दूसरा रोगी, जो परिणाममें फंसा हुआ है, कैदीकी भांति अपनी कामनाओंमें बंधा रहता है। इस नौ दरवाजेवाले देहरूपी नगरमें सब कर्मोंका मनसे त्याग करके स्वयं कुछ न करता-कराता हुआ योगी सुखपूर्वक रहता है। संस्कारवान संशुद्ध आत्मा न पाप करता है, न पुण्य। जिसने कर्ममें आसक्ति नहीं रखी, अहंभाव नष्ट कर दिया, फलका त्याग किया, वह जड़की भांति बरतता है, निमित्तमात्र बना रहता है। भला उसे पाप-पुण्य कैसे छू सकते

है ? इसके विपरीत जो अज्ञानमे फंसा है वह हिसाब लगाता है, इतना पुण्य किया, इतना पाप किया और इससे वह नित्य नीचेको गिरता जाता है और अतमे उसके पल्ले पाप ही रह जाता है। ज्ञानसे अपने अज्ञानका नित्य नाश करते जानेवालेके कर्ममे नित्य निर्मलता बढती जाती है, ससारकी दृष्टिमे उसके कर्मोंमे पूर्णता और पुण्यता होती है। उसके सब कर्म स्वाभाविक जान पड़ते हैं। वह समदर्शी होता है। उसकी नजरो मे विद्या और विनयवाला ब्रह्मज्ञाता ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता, विवेकहीन—पशुसे भी गयाबीता—मनुष्य सब समान हैं। मतलब, कि सबकी वह समान भावसे सेवा करेगा—यह नहीं कि किसीको बडा मानकर उसका मान करेगा और दूसरेको तुच्छ समझकर उसका तिरस्कार करेगा। अनासक्त मनुष्य अपनेको सबका देनदार मानेगा, सबको उनका लहना चुकावेगा और पूरा न्याय करेगा। उसने जीते-जी जगतको जीत लिया है, वह ब्रह्ममय है। अपना प्रिय करनेवालेपर वह रीझता नहीं, गाली देनेवालेपर खीझता नही। आसक्तिवान सुखको बाहर ढूढता है, अनासक्त निरंतर भीतर से शाति पाता है, क्योंकि उसने बाहरसे जीवको समेट लिया है। इद्रियजन्य सारे भोग दुःखके कारण हैं। मनुष्य-को काम-क्रोधसे उत्पन्न उपद्रव सहन करने चाहिए। अनासक्त योगी सब प्राणियोके हितमे ही लगा रहता है। वह शकाओसे पीडित नही होता। ऐसा योगी

बाहरी जगतसे निराला रहता है, प्राणायामादिके प्रयोगोसे अतर्मुखताका यत्न करता रहता है और इच्छा, भय, क्रोध आदिसे पृथक रहता है। वह मुझे ही सबका महेश्वर, मित्ररूप, यज्ञादिके भोक्ताकी भाति जानता है और शांति प्राप्त करता है।

छठा अध्याय

मंगलप्रभात
१६-१२-३०

श्रीभगवान कहते हैं—कर्म-फल त्यागकर कर्त्तव्य-कर्म करनेवाला मनुष्य सन्यासी कहलाता है और योगी भी कहलाता है। जो क्रियामात्रका त्याग कर बैठता है वह आलसी है। असली बात तो है मनके घोडे दौड़ाना छोडनेकी। जो योग अर्थात् समत्वको साधना चाहता है उसको कर्म बिना गुजर हो नही। जिसे समत्व प्राप्त होगया है वह शात दिखाई देता है। तात्पर्य, उसके विचारमात्रमें कर्मका बल आ गया रहता है। जब मनुष्य इद्रियके विषयो में या कर्ममें आसक्त न हो और मनकी सारी तरगोको छोड दे तब कहना चाहिए कि उसने योग साधा है, वह योगारूढ हुआ है।

आत्माका उद्धार आत्मासे ही होता है। तब

कह सकते है कि आत्मा स्वय ही अपना शत्रु बनता है और मित्र बनता है। जिसने मनको जीता है उसका आत्मा मित्र है, जिसने नही जीता है उसका आत्मा शत्रु है। मनको जीतनेवालेकी पहचान है कि उसके लिए सरदी-गरमी, सुख-दु ख, मान-अपमान सब एक समान होते है। योगी उसका नाम है जिसे ज्ञान है, अनुभव है, जो अविचल है, जिसने इद्रियोंपर विजय पाई है और जिसके लिए सोना, मिट्टी या पत्थर समान है। वह शत्रु-मित्र, साधु-असाधु इत्यादि के प्रति समभाव रखता है। ऐसी स्थितिको पहुचने-के लिए मन स्थिर करना, वासनाए त्यागना और एकांत-मे बैठकर परमात्माका ध्यान करना चाहिए। केवल आसन आदि ही बस नही है। समत्व-प्राप्तिके इच्छु-कोको ब्रह्मचर्यादि महाव्रतोका भली प्रकार पालन करना चाहिए। यो आसनवद्ध हुए यम-नियमोका पालन करनेवाले मनुष्यको अपना मन परमात्मामे स्थिर करनेसे परम शाति प्राप्त होती है।

यह समत्व ठूस-ठूसकर खानेवाला तो नही पा सकता, पर कोरे उपवाससे भी नही मिलता, न बहुत सोनेवालेको मिलता है, वैसे ही बहुत जागनेसे भी हाथ नही आता। समत्व-प्राप्तिके इच्छुकको तो सबमे —खानेमे, पीनेमे, सोने-जागनेमे भी मर्यादाकी रक्षा करनी चाहिए। एक दिन खूब खाया और दूसरे दिन उपवास, एक दिन खूब सोये और दूसरे दिन जागरण, एक दिन खूब काम करना और दूसरे दिन अलसाना,

यह योगकी निशानी नही है। योगी तो सदैव स्थिर-चित्त होता है और कामना मात्रका वह अनायास त्याग किये रहता है। ऐसे योगी की स्थिति निर्वात स्थानमे दीपककी भांति स्थिर रहती है। उसे जगके खेल अथवा अपने मनमे उठनेवाले विचारोंकी लहरे डावाडोल नही कर सकती। धीरे-धीरे किंतु दृढता-पूर्वक प्रयत्न करनेसे यह योग सध सकता है। मन चचल है, इससे इधर-उधर दौडता है, उसे धीरे-धीरे स्थिर करना चाहिए। उसके स्थिर होनेसे ही शांति मिलती है। या मनकी स्थिरताके लिए निरतर आत्म-चिंतन आवश्यक है। ऐसा मनुष्य सब जीवोंको अपनेमे और अपनेको सबमें देखता है, क्योंकि वह मुझे सबमे और सबको मुझमे देखता है। जो मुझमे लीन है, मुझे सर्वत्र देखता है, वह स्वय नही रह गया है, इसलिए चाहे जो करता हुआ भी मुझीमे पिरोया हुआ रहता है। उसके हाथसे कभी कुछ अकरणीय नही हो सकता।

अर्जुनको यह योग कठिन लगा। वह बोला, "यह आत्म-स्थिरता कैसे प्राप्त हो? मन तो बदरके समान है। मनका रोकना हवा रोकनेके समान है। ऐसा मन कब और कैसे वशमे आता है।"

भगवानने उत्तर दिया, "तेरा कहना सच है। पर राग-द्वेपको जीतने और प्रयत्न करनेसे कठिनको आसान किया जा सकता है। 'निस्सदेह' मनको जीते बिना योगका साधन नही बन सकता।"

तब फिर अर्जुन पूछता है, "मान लीजिये कि मनुष्यमे श्रद्धा है, पर उसका प्रयत्न मंद होनेसे वह सफल नही होता। ऐसे मनुष्यकी क्या गति होती है ? वह बिखरे बादलकी तरह नष्ट तो नही हो जाता ?"

भगवान बोले, "ऐसे श्रद्धालुका नाश तो होता ही नही। कल्याण-मार्गीकी अवगति नही होती। ऐसा मनुष्य मरनेपर कर्मानुसार पुण्यलोकमे बसनेके बाद पृथ्वीपर लौट आता है और पवित्र घरमे जन्म लेता है। ऐसा जन्म लोकोमे दुर्लभ है। ऐसे घरमे उसके पूर्व-सस्कार उदय होते है। अब प्रयत्नमे तेजी आती है और अंतमे उसे सिद्धि मिलती है। यो प्रयत्न करते-करते कोई जल्दी और कोई अनेक जन्मोके बाद अपनी श्रद्धा और प्रयत्नके बलके अनुसार समत्वको पाता है। तप, ज्ञान, कर्मकाडसबधी कर्म —इन सबसे समत्व विशेष है, क्योकि तपादिका अतिम परिणाम भी समता ही होना चाहिए। इस-लिए तू समत्व लाभ कर और योगी हो। अपना सर्वस्व मुझे अर्पण कर और श्रद्धापूर्वक मेरी ही आराधना करनेवालोको श्रेष्ठ समझ।"

इस अध्यायमे प्राणायाम-आसन आदिकी स्तुति है। पर स्मरण रक्खे कि भगवानने उसीके साथ ब्रह्मचर्यका अर्थात् ब्रह्म-प्राप्तिके यम-नियमादि पालन-की आवश्यकता बतलाई है। यह समझ लेना आवश्यक है कि अकेली आसनादि क्रियासे कभी समत्व

नही प्राप्त हो सकता। यदि उस हेतुसे वे क्रियाएं हो तो आसन-प्राणायामादि मन को स्थिर करनेमे, एकाग्र करनेमे थोड़ी-सी मदद करते हैं, अन्यथा उन्हे अन्य शारीरिक व्यायामोकी श्रेणी मे समझकर उतनी ही—शरीरसुधारभर ही—कीमत माननी चाहिए। शारीरिक व्यायामरूपमे प्राणायामादिका बहुत उपयोग है। व्यायामोमे यह व्यायाम सात्विक है। शारीरिक दृष्टिसे इसका साधन उचित है। पर उससे सिद्धिया पाने और चमत्कार देखनेको ये क्रियाएं करनेमे मैंने लाभके बजाय हानि होते देखी है। यह अध्याय तीसरे, चौथे और पाचवे अध्यायका उपसहाररूप समझना चाहिए। यह प्रयत्नशीलको आश्वासन देता है। हमे समता प्राप्त करनेका प्रयत्न हारकर कभी नही छोडना चहिए।

सातवां अध्याय

मगलप्रभात

२३-१२-३०

भगवान बोले, 'हे पार्थ! अब मैं तुम्हे बतलाऊगा कि मुझमे चित्त पिरोकर और मेरा आश्रय लेकर कर्मयोगका आचरण करता हुआ मनुष्य निश्चयपूर्वक मुझे सम्पूर्ण रीतिसे कैसे पहचान सकता है। इस अनुभवयुक्त ज्ञानके बाद फिर और कुछ जाननेको बाकी नही

रहेगा। हजारोमें कोई-कोई ही उसकी प्राप्तिका प्रयत्न करता है और प्रयत्न करनेवालोमें कोई ही सफल होता है।

पृथ्वी, जल, आकाश, तेज और वायु तथा मन, बुद्धि और अहकारवाली आठ प्रकारकी एक मेरी प्रकृति है। इसे 'अपरा' प्रकृति और दूसरेको 'परा' प्रकृति कहते हैं, जो जीवरूप है। इन दो प्रकृतियोसे अर्थात् देह और जीवके सबधसे सारा जगत है। जैसे मालाके आधारपर उसके मणिये रहते है वैसे जगत मेरे आधार-पर विद्यमान है। तात्पर्य,—जलमे रस मै हू, सूर्य-चद्रका तेज मैं हूं, वेदोका ॐकार मैं हू, आकाशका शब्द मै हूं, पुरुपोका पराक्रम मै हूं, मिट्टीमे सुगध मै हू, अग्निका तेज मैं हू, प्राणीमात्रका जीवन मै हू, तपस्वीका तप मैं हू, बुद्धिमानकी बुद्धि मैं हू, बलवानका शुद्धबल मैं हू, जीवमात्रमे विद्यमान धर्मकी अविरोधी कामना मैं हू, सक्षेपमे सत्त्व, रजस् और तमस्से उत्पन्न होने-वाले सब भावोको मुझसे उत्पन्न हुआ जान; उनकी स्थिति मेरे आधारपर ही है। मेरी त्रिगुणी मायाके कारण इन तीन भावो या गुणोमे रचे-पचे लोग मुझ अविनाशीको पहचान नही सकते। उसे तर जाना कठिन है। पर मेरी शरण लेनेवाले इस माया को अर्थात् तीन गुणोको लाघ सकते है।

पर ऐसे मूढ लोग मेरी शरण कैसे ले सकते है कि जिनके आचार-विचारका कोई ठिकाना नही है? वे तो मायामे पड़े अधकारमे ही चक्कर काटा करते है

और ज्ञानसे वंचित रहते है, पर श्रेष्ठ आचारवाले मुझे भजते है। इनमें कोई अपना दुःख दूर करनेको मुझे भजता है, कोई मुझे पहचाननेकी इच्छासे भजता है और कोई कर्त्तव्य समझकर ज्ञानपूर्वक मुझे भजता है। मुझे भजनेका अर्थ है मेरे जगतकी सेवा करना। उसमें कोई दुःख के मारे, कोई कुछ लाभ-प्राप्तिकी इच्छासे, कोई इस खयालसे कि चलो देखा जाय क्या होता है और कोई समझ-बूझकर इसलिए कि उसके बिना उनसे रहा ही नही जाता, सेवापरायण रहते हैं। ये अंतिम मेरे ज्ञानी भक्त है और मैं कहूंगा कि मुझे ये सबसे अधिक प्यारे हैं। या यह समझो कि वे मुझे अधिक-से-अधिक पहचानते हैं और मेरे निकट-से-निकट हैं। अनेक जन्मोके बाद ही मनुष्य ऐसा ज्ञान पाता है और उसे पानेपर इस जगतमें मुझ वासुदेवके सिवा और कुछ नही देखता। पर कामनावाले मनुष्य तो भिन्न-भिन्न देवताओंको भजते हैं और जिसकी जैसी भक्ति उसको वैसा फल देनेवाला तो मैं ही हूं। उन ओछी समझवालो को मिलनेवाला फल भी वैसा ही ओछा होता है और उतनेसे ही उनको संतोष भी रहता हैं। वे अपनी कमअक्लीसे मानते हैं कि मुझे वे इंद्रियो-द्वारा पहचान सकते है। वे नही समझते कि मेरा अविनाशी और अनुपम स्वरूप इंद्रियोसे परे है तथा हाथ, कान, नाक, आंख, इत्यादिद्वारा पहचाना नही जा सकता। इसे मेरी योगमाया समझ कि इस प्रकार सारी चीजोका विधाता होनेपर भी अज्ञानी लोग

मुझे पहचान नही सकते। रागद्वेषके द्वारा सुख-दुःख होते ही रहते है और उसके कारण जगत मोहग्रस्त रहता है, पर जो उसमेसे छूट गये है और जिनके आचार-विचार निर्मल होगये है वे तो अपने व्रतमें निश्चल रहकर निरंतर मुझे ही भजते है। वे पूर्ण ब्रह्मरूपसे सब प्राणियोमे भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले जीवरूपमें रहे हुए मुझे और मेरे कर्मको जानते है। यो जो मुझे अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञरूपसे पहचानते है और इससे जिन्होने समत्व प्राप्त किया है, वे मृत्युके अनतर जन्म-मरणके बधनसे मुक्त हो जाते है; क्योकि इतना जान लेनेपर उनका मन अन्यत्र नही भटकता और सारे जगत-को ईश्वरमय देखते हुए वे ईश्वरमे ही समा जाते है।"

आठवां अध्याय

सोमप्रभात

२९-१२-३०

अर्जुन पूछता है, "आपने पूर्णब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञका नाम लिया, पर इन सबका अर्थ मैने समझा नही। फिर आप कहते है कि आपको अधिभूतरूपसे जानकर समत्वको प्राप्त हुए लोग मृत्युके समय पहचानते है। यह सब

मुझे समझाइये।"

भगवानने उत्तर दिया, "जो सर्वोत्तम नाशरहित स्वरूप है वह पूर्णब्रह्म है और जो प्राणीमात्रमें कर्त्ता भोक्तारूपसे देह धारण किये हुए है वह अध्यात्म है। प्राणीमात्रकी उत्पत्ति जिस क्रिया से होती है उसका नाम कर्म है। अत यह भी कह सकते हैं कि जिस क्रियासे उत्पत्तिमात्र होती है वह कर्म है। मेरा नाशवान देहस्वरूप अधिभूत है और यज्ञद्वारा शुद्ध हुआ अध्यात्मस्वरूप अधियज्ञ है। यो देहरूपमे, मूर्च्छित जीवरूपमे, शुद्ध जीवरूपमे और पूर्ण ब्रह्मरूपमें सर्वत्र मैं ही हू और ऐसा जो मैं हूं उसका मृत्युके समयमे जो ध्यान धरता है, अपनेको विसार देता है, किसी प्रकारकी चिंता नही करता, इच्छा नही करता वह निस्सदेह मेरे स्वरूपको प्राप्त करता है। मनुष्य जिस स्वरूपका नित्य ध्यान धरता है, अंतकालमें भी उसका ध्यान रहे तो उस स्वरूपको वह पाता है। और इसीलिए तू नित्य मेरा ही स्मरण रख। मुझमे ही मन-बुद्धि पिरो रख। तब मुझे ही पावेगा। तू इस प्रकार चित्तके स्थिर न हो पानेकी बात कहेगा। मेरा कहना है कि नित्यके अभ्याससे, नित्यके प्रयत्नसे इस प्रकार मनुष्य एकध्यान अवश्य हो जाता है; क्योंकि मैं तुझसे कह चुका हू कि मूलकी दृष्टिसे विचारनेपर तो देहधारी भी मेरा ही स्वरूप है। इसलिए मनुष्यको पहलेसे ही तैयारी करनी चाहिए कि मृत्युके समय मन चलायमान न हो, भक्तिमें लीन रहे, प्राणको

स्थिर रखे और सर्वज्ञ पुरातन, नियन्ता, सूक्ष्म होते हुए भी सबके पालनकी शक्ति रखनेवाले, चिंतनद्वारा तत्काल न पहचाने जा सकनेवाले, सूर्यके समान अंधकार-अज्ञान मिटानेवाले परमात्माका ही स्मरण करे।

इस परम पद को वेद अक्षरब्रह्म नामसे पहचानते हैं, राग-द्वेषादि त्यागी मुनि उसे पाते है और उस पदकी प्राप्तिके सब इच्छुक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। तात्पर्य, काया, वाचा और मनको अंकुशमें रखते हैं, विपयमात्रका तीनो प्रकारसे त्याग करते है। इंद्रियोको समेट लेकर ॐका उच्चारण करते, मेरा ही चिंतन करते-करते देह छोडनेवाले स्त्री-पुरुष परम पद पाते है। ऐसोका चित्त कही अन्यत्र नही भटकता और यो मुझे पाकर यह दु:ख-निवासरूपी जन्म फिर नही लेना पडता। इस जन्म-मरणके चक्कर-से छूटनेका उपाय मेरी प्राप्ति ही है।

अपने सौ वर्षके जीवनकालसे मनुष्य कालका अनुमान लगाता है और उतने समयमे हजारो जाल फैलाता है; पर काल तो अनत है। हजारों युगोको ब्रह्माके एक दिनके बराबर समझ। इसमे मनुष्यके एक दिनकी या सौ वर्षकी क्या बिसात है? इस तनिकसे समयको लेकर इतनी व्यर्थकी दौड़-धूप क्यो? जिस अनंत कालके चक्रमे मनुष्यका जीवन क्षणमात्रके समान है उसमे तो ईश्वरका ध्यान ही शोभा देता है, क्षणिक भोगोके पीछे दौड़ना नही। ब्रह्माके रात-दिनमें उत्पत्ति

और नाश चलता ही रहता है और चलता रहेगा।

उत्पत्ति-लय करनेवाला ब्रह्मा भी मेरा ही भाव है। वह अव्यक्त है, इंद्रियोसे नही जाना जा सकता। इससे भी परे मेरा अन्य अव्यक्त स्वरूप है, जिसका कुछ वर्णन मैंने तुमसे किया है। उसे पानेवाला जन्म-मरणसे छूट जाता है; क्योंकि इस स्वरूपके लिए रात-दिनवाला द्वंद्व नही है, यह केवल शांत अचल स्वरूप है। इसके दर्शन अनन्य भक्ति से ही होते है। इसीके आधारपर सारा जगत है और वह स्वरूप सर्वत्र व्याप्त है।

कहते है कि उत्तरायणके शुक्लपक्षके दिनोमें मरनेवाला उपर्युक्त प्रकारसे स्मरण करता हुआ मुझे पाता है और दक्षिणायनमे, कृष्णपक्षकी रात्रिमे मृत्यु पानेवालेके पुनर्जन्मके चक्कर बाकी रह जाते हैं। इसका अर्थ यो किया जा सकता है कि उत्तरायण और शुक्लपक्ष यह निष्काम सेवा-मार्ग है और दक्षिणायन और कृष्णपक्ष स्वार्थमार्ग है। सेवा-मार्ग अर्थात् ज्ञानमार्ग, स्वार्थमार्ग अर्थात् अज्ञानमार्ग। ज्ञानमार्गसे चलनेवालेको मोक्ष है और अज्ञानमार्ग से चलनेवाले को बंधन। इन दोनो मार्गोको जान लेनेपर कौन मोहमें रहकर अज्ञानमार्गको पसंद करेगा? इतना जाननेपर मनुष्यमात्रको सब पुण्य-फल छोड़कर, अनासक्त रहकर, कर्तव्यमे परायण रहकर मैंने जो कहा है वह उत्तम स्थान पानेका ही प्रयत्न करना चाहिए।

नवां अध्याय

सोमप्रभात

५-१-३१

गत अध्यायके अंतिम श्लोकमें योगीका उच्च स्थान बतला देनेपर भगवान के लिए अब भक्तिकी महिमा बतलाना ही बाकी रह जाता है; क्योंकि गीताका योगी शुष्क ज्ञानी नही है, न बाह्याचारी भक्त ही। गीताका योगी ज्ञान और भक्तिमय अनासक्त कर्म करनेवाला है। अत भगवान कहते है--तुझमे द्वेष नही है, इससे तुझे मै गुह्य ज्ञान कहता हू कि जिसे पाकर तेरा कल्याण होगा। यह ज्ञान सर्वोपरि है, पवित्र है और आचारमे अनायास लाया जा सकने योग्य है। जिसे इसमें श्रद्धा नही होती वह मुझे नही पा सकता। मेरे स्वरूपको मनुष्यप्राणी इद्रियोद्वारा नही पहचान सकते, तथापि इस जगतमें वह व्यापक है। जगत उसके आधारपर स्थित है। वह जगतके आधारपर नही है। फिर योंभी कहा जाता है कि ये प्राणी मुझमें नही है और मैं उनमें नही हूं। यद्यपि मैं उनकी उत्पत्तिका कारण हू और उनका पोषणकर्त्ता हूं। वे मुझमैं नही है और मैं उनमे नही हूं, क्योकि वे अज्ञानमे रहनेके कारण मुझे जानते नही है, उनमैं भक्ति नहीं है। तू समझ कि यह मेरा चमत्कार है।

पर मैं प्राणियोमें नही हूं, ऐसा जान पड़ता है;

तथापि वायुकी भांति मैं सर्वत्र फैला हुआ हूं। और सारे जीव युगका अंत होनेपर लय हो जाते हैं और आरंभ होनेपर फिर जन्मते हैं। इन कर्मोका कर्त्ता होनेपर भी वह मुझे बंधनकारक नहीं हैं, क्योंकि उनमें मुझे आसक्ति नहीं है, उनमें मैं उदासीन हूं। वे कर्म होते रहते हैं, क्योंकि यह मेरी प्रकृति है, मेरा स्वभाव है। पर ऐसा जो मैं हूं उसे लोग पहचानते नहीं हैं, इसलिए वे नास्तिक बने रहते हैं। मेरे अस्तित्व-से ही इनकार करते हैं। ऐसे लोग झूठे हवाई महल बनाते रहते हैं। उनके कर्म भी व्यर्थ होते हैं और वे अज्ञानसे भरपूर होनेके कारण आसुरी वृत्तिवाले होते हैं। पर दैवी वृत्तिवाले, अविनाशी और सिरजन-हार जानकर, मुझे भजते हैं। वे दृढ़-निश्चयी होते हैं, नित्य-प्रयत्नवान रहते हैं, मेरा भजन-कीर्तन करते और मेरा ध्यान धरते हैं। इसके सिवा कितने ही मुझे एक ही माननेवाले हैं। कितने ही मुझे बहुरूप मानते हैं। मेरे अनंतगुण होनेके कारण बहुरूपसे माननेवाले भिन्न गुणोंको भिन्न रूपसे देखते हैं। पर इन सबको तू भक्त जान।

यज्ञका संकल्प मैं, यज्ञ मैं, पितरोंका आधार मैं, यज्ञकी वनस्पति मैं, मंत्र मैं, आहुति मैं, हविष्य मैं, अग्नि मैं और जगतका पिता मैं, माता मैं, जगतको धारण करनेवाला मैं, पितामह मैं, जानने योग्य भी मैं, ॐकार मंत्र मैं, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद मैं, गति मैं, पोषण मैं, प्रभु मैं, साक्षी मैं, आश्रय मैं, कल्याण

चाहनेवाला भी मैं, उत्पत्ति और नाश मै, सर्दी-गर्मी मैं, सत् और असत् भी मैं हू।

वेद में वर्णित क्रियाएं फल-प्राप्तिके लिए होती है। अत. उन्हे करनेवाले स्वर्ग चाहे पावे; पर जन्म-मरणके चक्करसे नही छूटते। पर जो एक ही भावसे मेरा चितन करते रहते है और मुझे ही भजते है, उनका सारा भार मै उठाता हू। उनकी आवश्यकताएं मै पूरी करता हूं और उनकी मै ही सभाल करता हू। अन्य कुछ, दूसरे देवताओंमें श्रद्धा रखकर उन्हे भजते है, इसमें अज्ञान है तथापि अतमें तो वे भी मुझे ही भजनेवाले माने जायंगे, क्योकि यज्ञमात्रका मैं ही स्वामी हूं। पर मेरी इस व्यापकताको न जानकर वे अंतिम स्थितिको पहुंच नही सकते। देवताओंको पूजनेवाले देवलोक, पितरोंको पूजनेवाले पितृलोक, भूतप्रेतादिको पूजनेवाले उनका लोक और ज्ञानपूर्वक मुझे भजनेवाले मुझे पाते है। जो मुझे एक पत्तातक भक्तिपूर्वक अर्पण करते है उन प्रयत्नशील मनुष्योंकी भक्तिको मै स्वीकार करता हूं। इसलिए जो कुछ तू करे वह सब मुझे अर्पण करके ही कर। तब शुभ-अशुभ फलका उत्तरदायित्व तेरा नही रहेगा। जब तूने फलमात्र का त्याग कर दिया तब तेरेलिए जन्म-मरणके चक्कर नही रह गये। मुझे सब प्राणी समान है। एक प्रिय और दूसरा अप्रिय हो, यह नही है। पर जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते है वे तो मुझमे है और मै उनमें हूं। इसमे पक्षपात नही

है, वल्कि यह उन्होने अपनी भक्तिका फल पाया है। इस भक्तिका चमत्कार ऐसा है कि जो एक भावसे मुझे भजते है वे दुराचारी हों तो भी साधु बन जाते है। सूर्यके सामने जैसे अंधेरा नही ठहरता वैसे मेरे पास आते ही मनुष्यके दुराचारोका नाश हो जाता है। इसलिए तू निश्चय समझ ले कि मेरी भक्ति करनेवाले कभी नाशको प्राप्त ही नही होते। वे तो धर्मात्मा होते है और शाति भोगते हैं। इस भक्तिकी महिमा ऐसी है कि जो पापयोनिमे जन्मे माने जाते है वे, और निरक्षर स्त्रिया, वैश्य और शूद्र, जो मेरा आश्रय लेते है वे, मुझे पाते ही हैं; तव पुण्यकर्म करनेवाले ब्राह्मण-क्षत्रियोका तो कहना ही क्या रहा? जो भक्ति करता है उसे उसका फल मिलता है। इसलिए तू जव असार संसारमे आ गया है तो मुझे भजकर उसे तर जा। अपना मन मुझमे पिरो दे, मेरा ही भक्त रह, अपने यज भी मेरे लिए कर, अपने नमस्कार भी मुझे ही पहुंचा और इस भांति मुझमे तू परायण होगा और अपनी आत्माको मुझमें होमकर शून्यवत् हो जायगा तो तू मुझे ही पावेगा।

मंगलप्रभात

टिप्पणी—इसमेसे हम पाते है कि भक्तिका तात्पर्य है ईश्वरमे आसक्ति। अनासक्तिके अभ्यासका भी यह सरल-से-सरल उपाय है। इससे अध्यायके आरभ मे प्रतिज्ञा की है कि भक्ति राजयोग है और सरल मार्ग है। हृदयमें जो वैठ जाय वह सरल है,

जो न बैठे वह विकट है। इसीसे उसे 'सिरका सौदा' भी माना गया है। पर यह ऐसा है कि देखनेवाले जलते है। अंदर पड़े हुए महासुख मानते हैं। कवि लिखता है कि उबलते तेलकी कड़ाहीमें सुधन्वा हँसता था और बाहर खड़े हुए कांपते थे। कथा है कि नंद अंत्यजकी जब अग्निपरीक्षा हुई तब वह अग्नि में नाचता था। इन सबकी सचाईकी ऐतिहासिकताकी खोजकी जरूरत नही है। जो किसी भी चीजमें लीन होता है उसकी ऐसी ही स्थिति होती है। वह अपनेको भूल जाता है; पर प्रभुको छोडकर दूसरेमें लीन कौन होगा ?

'शक्कर गन्नेका स्वाद छोड़ कडुवे नीमको मत घोल रे,
सूरज-चादका तेज तज, जुगनूसे मन मत जोड़ रे।'

अब नवां अध्याय बतलाता है कि प्रभु-आसक्ति अर्थात् भक्ति के बिना फल मे अनासक्ति असभव है। अंतिम श्लोक सारे अध्याय का निचोड़ है और हमारी भाषामें उसका अर्थ है— "तू मुझमें समा जा।"

दसवां अध्याय

सोमप्रभात

१२-१-३१

भगवान कहते है—दोबारा भक्तोके हितके लिए कहता हूं सो सुन! देव और महर्षिगण तक मेरी

उत्पति नही जानते है, क्योंकि मेरेलिए उत्पन्नता ही नही है। मै उनकी और अन्य सबकी उत्पत्तिका कारण हू। जो ज्ञानी मुझे अजन्मा और अनादिरूप-मे पहचानते है वे सब पापोंसे मुक्त हो जाते है; क्योंकि परमेश्वरको इस रूपमे जानने और अपनेको उसकी प्रजा अथवा उसके अंगकी भांति पहचाननेपर मनुष्य-की पापवृत्ति नही रह सकती। पापवृत्तिका मूल ही निज सबधी अज्ञान है।

जैसे प्राणी मुझसे पैदा हुए है, वैसे उनके भिन्न-भिन्न भाव भी, जैसे क्षमा, सत्य, सुख, दु:ख, जन्म-मृत्यु, भय-अभय आदि भी मुझसे उत्पन्न हुए है। यह सब मेरी विभूति है। जो यह जान लेते है उनमें सहज ही समता उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि वे अहताको छोड देते है। उनका चित्त मुझमें ही पिरोया हुआ रहता है, वे मुझे अपना सबकुछ अर्पण करते है, परस्पर मेरे विषयमे ही वार्तालाप करते है, मेरा ही कीर्तन करते है और संतोष तथा आनंदसे रहते है। इस प्रकार जो मुझे प्रेमपूर्वक भजते है और मुझमे ही जिनका मन रहता है उन्हे मैं ज्ञान देता हू और उसके द्वारा वे मुझे पाते है।

तब अर्जुनने स्तुति की—आप ही परब्रह्म है, परमधाम है, पवित्र है, ऋषि आदि आपको आदिदेव, अजन्मा, ईश्वररूपसे भजते हैं ऐसा आप ही कहते है। हे स्वामी, हे पिता! आपका स्वरूप कोई जानता नही है, आपही अपनेको जानते हैं। अब मुझसे अपनी

विभूतियां और साथ ही यह कहिये कि आपका चिंतन करते हुए मैं आपको कैसे पहचान सकता हूं ?

भगवान्ने जवाब दिया—मेरी विभूतियां अनंत है, उनमेंसे थोड़ी खास-खास तुमसे कह देता हूं। सब प्राणियोके हृदयमे रहा हुआ मैं हू। मैं ही उनकी उत्पत्ति, उनका मध्य और उनका अंत हू। आदित्यो-मे विष्णु मै, उज्ज्वल वस्तुओमें प्रकाश देनेवाला सूर्य मैं, वायुओमे मरीचि मैं, नक्षत्रोमे चद्र मै, वेदोमे साम-वेद मैं, देवोमें इद्र मै, इद्रियोमें मन मै, प्राणियोमे चेतन-शक्ति मैं, रुद्र मे शकर मै, यक्ष-राक्षसोमे कुबेर मैं, दैत्योमे प्रह्लाद मैं, पशुओमे सिह मै, पक्षियोमे गरुड मैं और छल करनेवालोमें द्यूत (जुवा) भी मुझे ही जान। इस जगत मे जो कुछ होता है वह मेरी मरजी विना हो ही नही सकता। अच्छा और बुरा भी मै ही होने देता हूं तभी होता है। यह जानकर मनुष्यको अभिमान छोडना चाहिए और बुरेसे बचना चाहिए, क्योकि भले-बुरेका फल देनेवाला भी मैं हूं। तू इतना जान कि यह सारा जगत मेरी विभूतिके एक अंश-मात्रसे स्थित है।

ग्यारहवां अध्याय

सोमप्रभात

१२-१-३१

अर्जुनने विनय की, "भगवान् ! आपने मुझे आत्माके विषयमें जो वचन कहे उससे मेरा मोह दूर हो गया है। आप ही सब है, आप ही कर्ता है, आप ही संहर्ता है, आप नाशरहित हैं। यदि संभव हो तो अपने ईश्वरीरूपका दर्शन मुझे कराइये।"

भगवान बोले, "मेरे रूप हजारो हैं और अनेक रंगवाले हैं। उसमे आदित्य, वसु, रुद्र इत्यादि समाये हुए है। मुझमें सारा जगत—चर और अचर—समाया हुआ है। यह रूप तू अपने चर्म-चक्षुओंसे नही देख सकता। अतः मैं तुझे दिव्य चक्षु देता हूं, उनके द्वारा तू देख।"

संजयने धृतराष्ट्रसे कहा, "हे राजन्! भगवानने अर्जुनको यह कहकर अपना जो अद्भुत रूप दिखाया उसका वर्णन नही किया जा सकता। हम लोग नित्य एक सूर्य देखते है, पर खयाल कीजिये कि ऐसे हजारो सूर्य नित्य उगें तो उनका तेज जैसा होगा उससे भी अधिक यह तेज चकाचौंध पैदा करनेवाला था। इसके आभूषण और वस्त्र भी ऐसे ही दिव्य थे। उसके दर्शन करके अर्जुनके रोएं खड़े हो गये, उसका सिर चकराने लगा और कांपते-कांपते वह स्तुति करने लगा—

हे देव ! आपकी इस विशाल देहमें मैं तो सब कुछ और सब किसीको देखता हू। ब्रह्मा उसमें है, महादेव उसमें है, उसमे ऋषि हैं, सर्प हैं, आपके हाथ-मुंहका गिनना कठिन है। आपका आदि नही है, अंत नहीं है, मध्य नही है। आपका रूप मानो तेजका सुमेरु है। देखते आखें चौंधिया जाती हैं, सुलगते हुए अंगारोंकी भांति आप झलक रहे हैं और तप रहे हैं। आप ही जगतके आधार है, आप ही पुराण-पुरुष है, आप ही धर्मके रक्षक है। जहा देखता हूं वहा आपके अवयव दिखाई दे रहे है। सूर्य-चंद्र तो आपकी आंखो-सरीखे जान पडते है। आपने ही इस पृथ्वी और आकाशको व्याप्त कर रखा है। आपका तेज सारे जगतको तपा रहा है। यह जगत थरथरा रहा है। देव, ऋषि, सिद्ध इत्यादि सब हाथ जोडकर कापते हुए आपकी स्तुति कर रहे है। यह विराट् रूप और यह तेज देखकर मै तो व्याकुल होगया हू, शांति और धैर्य छूटा जा रहा है। हे देव ! प्रसन्न होइये। आपकी दाढ़े विकराल है, आपके मुंहमें, जैसे दीपकपर पतंगे गिरते हैं, वैसे इन लोगोको गिरते देख रहा हूं और आप उनको चूर कर रहे है। यह उग्र रूप आप कौन है ? आपकी प्रवृत्तिको मै समझ नही पा रहा हूं।

भगवान् बोले—लोकोका नाश करनेवाला मैं काल हूं। तू चाहे लड़ या न लड़, इन सबका नाश समझ। तू तो निमित्तमात्र है।

अर्जुन बोला—हे देव ! हे जगन्निवास ! आप अक्षर हैं, सत् हैं, असत् है और उससे जो परे है वह भी आप ही हैं। आप आदिदेव है, आप पुराणपुरुष हैं, आप इस जगतके आश्रय है। आप ही जानने योग्य हैं। वायु, यम, अग्नि, प्रजापति भी आप ही है। आपको हजारो नमस्कार पहुचे। अब अपना मूल रूप धारण कीजिये।

इसपर भगवान्ने कहा—तेरे ऊपर प्रसन्न होकर मैंने तुझे अपना विश्वरूप दिखाया है। वेदाभ्याससे, यज्ञसे, अन्य शास्त्रोके अभ्याससे, दानसे, तपसे भी यह रूप नही देखा जा सकता, जो तूने आज देखा है। इसे देखकर तू परेशान मत हो। भय त्यागकर शांत हो और मेरा परिचित रूप देख। मेरे यह दर्शन देवोको भी दुर्लभ है। यह दर्शन केवल शुद्ध भक्तिसे ही हो सकते हैं। जो अपने सब कर्म मुझे समर्पण करता है, मुझमे परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्तिमात्रको छोड़ता है और प्राणीमात्रके विषयमें प्रेममय रहता है वही मुझे पाता है।

टिप्पणी—दसवेकी भाति इस अध्यायको भी मैंने जान-बूझकर सक्षिप्त किया है। यह अध्याय काव्यमय है। इसलिए या तो मूलमें अथवा अनुवाद-रूपमे जैसा है वैसा ही बारंबार पढ़ने योग्य है। इससे भक्तिका रस उत्पन्न होनेकी संभावना है। वह रस पैदा हुआ है या नही यह जाननेकी कसौटी अंतिम श्लोक है। सर्वार्पण बिना और सर्वव्यापक प्रेमके

बिना भक्ति नही है। ईश्वरके कालरूपका मनन करनेसे और उसके मुखमे सृष्टिमात्रको समा जाना है—प्रतिक्षण कालका यह काम चलता ही रहता है—इसका भान आ जानेसे सर्वार्पण और जीवमात्रके साथ ऐक्य अनायास हो जाता है। चाहे, बिनचाहे इस मुखमें हम अकल्पित क्षणमे पडनेवाले है। वहां छोटे-बड़ेका, नीच-ऊंचका, स्त्री-पुरुषका, मनुष्य-मनुष्येतरका भेद नही रहता है। सब कालेश्वरके एक कौर है, यह जानकर हम क्यो दीन, शून्यवत् न बने, क्यों सबके साथ मैत्री न करे? ऐसा करनेवालेको वह काल-स्वरूप भयकर नही, बल्कि शातिस्थल लगेगा।

बारहवां अध्याय

मंगलप्रभात

४-११-३०

आज तो बारहवे अध्यायका सार देना चाहता हू।[1] यह भक्तियोग है। विवाहके अवसरपर दपतीको पांच यज्ञों में इसे भी एक यज्ञरूपसे कठ करके मनन करनेको हम कहते है। भक्तिके बिना ज्ञान तथा कर्म शुष्क है और उनके बधनरूप हो जानेकी सभावना है। इसलिए भक्ति-भावसे गीताका यह मनन आरंभ

[1] गाधीजीने यह अध्याय सबसे पहले लिखकर भेजा था। पर अध्याय-क्रमके लिए यह यथास्थान दिया गया है।—सपादक

करना चाहिए।

अर्जुनने भगवानसे पूछा—साकार और निराकार-को पूजनेवाले भक्तोमे अधिक श्रेष्ठ कौन है ?

भगवानने उत्तर दिया—जो मेरे साकार रूपका श्रद्धापूर्वक मनन करते हैं, उसमें लीन होते हैं, वे श्रद्धालु मेरे भक्त हैं। पर जो निराकार तत्त्वको भजते हैं और उसे भजने के लिए समस्त इंद्रियोंका संयम करते हैं, सब जीवोके प्रति समभाव रखते हैं, उनकी सेवा करते हैं, किसीको ऊंच-नीच नहीं गिनते वे भी मुझे पाते हैं। इसलिए यह नहीं कह सकते कि दोनोंमे अमुक श्रेष्ठ है ; पर निराकारकी भक्ति शरीरधारीद्वारा संपूर्ण रूपसे होना अशक्य माना जाता है, निराकार निर्गुण है, अत मनुष्यकी कल्पनासे परे है। अत. सब देहधारी जाने-अनजाने साकारके ही भक्त हैं। इसलिए तू तो मेरे साकार विश्वरूपमें ही अपना मन पिरो। सब उसे सौंप दे। पर यह न कर सकता हो तो चित्तके विकारोको रोकने-का अभ्यास कर, यानी, यम-नियम आदिका पालन करके प्राणायाम, आसन आदिकी मदद लेकर मनको वशमें कर। ऐसा भी न कर सकता हो तो जो कुछ करता है सो मेरे ही लिए करता है इस धारणासे अपने सब काम कर तो तेरा मोह, तेरी ममता क्षीण होती जायगी और त्यो-त्यो तू निर्मल—शुद्ध होता जायगा और तुझमें भक्तिरस आ जायगा। यह भी न हो सकता हो तो कर्ममात्रके फलका त्याग करके यानी फलकी इच्छा

छोड़ दे। तेरे हिस्सेमें जो काम आ पड़े उसे करता रह। फलका मालिक मनुष्य हो ही नहीं सकता। बहुतेरे अंगोंके एकत्र होनेपर तब फल उपजता है, अतः तू केवल निमित्तमात्र हो जा। जो चार रीतियां मैंने बताई है उनमें किसीको कमोबेश मत मानना। इनमें जो तुझे अनुकूल हो उससे तू भक्तिका रस ले ले। ऐसा लगता है कि ऊपर जो यम-नियम, प्राणायाम, आसन आदिका मार्ग बता आये हैं उनकी अपेक्षा श्रवण-मनन आदि ज्ञानमार्ग सरल है। उसकी अपेक्षा उपासना रूप ध्यान सरल है और ध्यानकी अपेक्षा कर्मफल-त्याग सरल है। सबके लिए एक ही वस्तु समानभावसे सरल नहीं होती और किसी-किसीको सभी मार्ग लेने पड़ते हैं। वे एक दूसरेके साथ मिले-जुले तो है ही। चाहे जिस मार्गसे हो तुझे तो भक्त होना है। जिस मार्गसे भक्ति सधे उस मार्गसे उसे साध। मैं तुझे भक्तके लक्षण बतलाता हूं—भक्त किसीका द्वेष न करे, किसीके प्रति वैर-भाव न रखे, जीवमात्रसे मैत्री रखे, जीव-मात्रके प्रति करुणाका अभ्यास करे, ऐसा करनेके लिए ममता छोड़े, अपनापन मिटाकर शून्यवत् हो जाय, दु:ख-सुखको समान माने। कोई दोष करे तो उसे क्षमा करे, (यह जानकर कि स्वयं अपने दोषोंके लिए संसारसे क्षमाका भूखा है) संतोषी रहे, अपने शुभ निश्चयोंसे कभी विचलित न हो। मन-बुद्धिसहित सर्वस्व मेरे अर्पण करे। उससे लोगोंको उद्वेग नहीं होना चाहिए, न लोग उससे डरे, वह स्वयं लोगोंसे दु:ख न माने, न

डरे। मेरा भक्त हर्ष, शोक, भय आदिसे मुक्त होता है। उसे किसी प्रकारकी इच्छा नहीं होती, वह पवित्र होता है, कुशल होता है, वह बड़े-बड़े आरम्भोंको त्यागे हुए होता है, निश्चयमे दृढ़ होते हुए भी शुभ और अशुभ परिणाम, दोनोका वह त्याग करता है, अर्थात् उसके बारेमे निश्चिंत रहता है। उसके लिए शत्रु कौन और मित्र कौन ? उसे मान क्या, अपमान क्या ? वह तो मौन धारण करके जो मिल जाय उससे संतोष रख-कर एकाकीकी भांति विचरता हुआ सब स्थितियोमें स्थिर होकर रहता है। इस भांति श्रद्धालु होकर चलने-वाला मेरा भक्त है।

टिप्पणी—

प्रश्न—"भक्त आरंभ न करे' का क्या मतलब है, कोई दृष्टांत देकर समझाइयेगा ?

उत्तर—'भक्त आरभ न करे' इसका मतलब यह है कि किसी भी व्यवसायके मसूबे न गांठे। जैसे एक व्यापारी, आज कपड़ेका व्यापार करता है तो कल उसमें लकड़ीका और शामिल करनेका उद्यम करने लगा, अथवा कपड़ेकी एक दूकान है तो कल पाच और दूकाने खोल बैठा, इसका नाम आरम्भ है। भक्त उसमें न पड़े। यह नियम सेवाकार्य के बारे में भी लागू होता है। आज खादीकी मारफत सेवा करता है तो कल गायकी मारफत, परसों खेतीकी मारफत और चौथे दिन डाक्टरीकी मारफत। इस प्रकार सेवक भी फुद-कता न फिरे। उसके हिस्सेमें जो आजाय, उसे पूरी

तरह करके मुक्त हो। जहां 'मैं' गया वहां 'मुझे' क्या करनेको रह जाता है?

"सूतरने तातणे मने हरजीए बांधी,
जेम ताणे तेम तेमनी रे
मने लागी कटारी प्रेमनी रे।"[1]

भक्तके सब आरंभ भगवान रचता है। उसे सब कर्मप्रवाह प्राप्त होते हैं, इससे वह 'संतुष्टो येन केनचित्' रहे। सर्वारंभत्यागका भी यही अर्थ है। सर्वारंभ अर्थात् सारी प्रवृत्ति या काम नहीं, बल्कि उन्हें करनेके विचार, मनसूबे गाठना। उनका त्याग करनेके मानी उनका आरंभ न करना, मनसूबे गाठनेकी आदत हो तो उसे छोड देना। 'इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्' यह आरंभ त्यागका उलटा है। मेरे खयालमें तुम जो जानना चाहते हो, सब इसमें आ जाता है। कुछ बाकी रह गया हो तो पूछना।

तेरहवाँ अध्याय

सोमप्रभात

२६-१-३२

श्रीभगवान बोले—इस शरीरका दूसरा नाम क्षेत्र है और उसके जाननेवालेको क्षेत्रज्ञ कहते हैं। सब

---

१ मुझे भगवानने सूतके धागेसे बांध लिया है। ज्यों-ज्यों तानतेहैं, मैं उनकी होती जाती हूं। मुझे तो प्रेम-कटारी लगी है।

शरीरमे मौजूद जो मै (भगवान) हू, उसे क्षेत्रज्ञ समझ, और वास्तविक ज्ञान वह है कि जिससे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद जाना जाय। पच महाभूत—पृथ्वी, पानी, आकाश, तेज और वायु, अहता, बुद्धि, प्रकृति, दस इद्रियां—पाच ज्ञानेन्द्रियां और पाच कर्मेन्द्रिया—एक मन, पांच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दु ख, सघात अर्थात् शरीर जिससे वना हुआ है उसकी एक होकर रहनेकी शक्ति, शरीरके परमाणुओमे एक दूसरेसे चिपटे रहनेका गुण, यह सव मिलकर विकारोवाला क्षेत्र वना। इस शरीरको और उसके विकारोको जानना चाहिए, क्योकि उनको त्यागना है। इस त्याग के लिए ज्ञान चाहिए। यह ज्ञान अर्थात् मानीपनेका त्याग, दभ-का त्याग, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, शुद्धता, स्थिरता, विषयोपर अकुश, विषयोमे वैराग्य, अहंकारका त्याग, जन्म, मृत्यु, वुढापा और उसके सिलसिलेमे रहे हुए रोगसमूह दु ख-समूह और नित्य होनेवाले दोषोका पूरा भान, स्त्री-पुत्र, घर-द्वार, सगे-सम्वन्धी इत्यादि-मेसे मनको खीच लेना और ममता छोड़ना, अपने मनोनुकूल कुछ हो या मनके प्रतिकूल—उसमें समता रखना, ईश्वरकी अनन्य भक्ति, एकान्तसेवन, लोगोमे मिलकर भोग भोगने की ओर अरुचि, आत्माके विषयमे ज्ञानकी प्यास और अंतमे आत्मदर्शन। इससे विपरीतका नाम अज्ञान है। इस ज्ञानके साधनसे जो जाननेकी चीज है—ज्ञेय है और जिसे जाननेसे मोक्ष मिलती है उनके विषयमे थोडा सुन। यह ज्ञेय अनादि

परब्रह्म है। अनादि है—अर्थात् उसे जन्म नही है—जब कुछ नही था तब भी वह परब्रह्म तो था। वह सत् नही है और असत् भी नही है। उससे भी परे है। अन्य दृष्टिसे उसे सत् कह सकते हैं, क्योकि वह नित्य है। तथापि उसकी नित्यताको भी मनुष्य नही पहचान सकता, इससे उसे सत्से भी परे कहा, उससे कुछ भी सूना नही है। उसे हजारो हाथ-पावोंवाला कह सकते है और इस प्रकार उसे हाथ-पैर आदि है यह जान पड़ते हुए भी वह इंद्रियरहित है, उसे इंद्रियो-की आवश्यकता नही है, उनसे वह अलिप्त है। इंद्रियां तो आज है और कल नही है। परब्रह्म तो नित्य है ही। और यद्यपि वह सबमे व्याप्तहै और सबको धारण किये हुए है, इससे गुणोंका भोक्ता कहा जा सकता है; तथापि जो उसे नही पहचानते उनके हिसाबसे तो वह बाहर ही है। प्राणियोके अन्दर तो वह है ही, क्योकि सर्वव्यापक है। वैसे ही वह गति करता है और स्थिर भी है। सूक्ष्म है, इसलिए वह ऐसा भी है कि न जान पड़े। दूर भी है और नजदीक भी है। नाम-रूपका नाश है तथापि वह तो है ही, इस प्रकार अविभक्त है, पर असख्य प्राणियोमे है यह भी कहते हैं, इससे वह विभक्तरूपसे भी भासित होता है। वह उत्पन्न करता है, पालता है और वही मारता है। तेजोका तेज है, अंधकारसे परे है, ज्ञानका किनारा उसमे आगया है। इन सबमे मौजूद परब्रह्म यही जानने योग्य अर्थात् ज्ञेय है। ज्ञानमात्रकी प्राप्ति केवल

उसकी प्राप्तिके लिए ही है।

प्रभु और उसकी माया दोनो अनादिसे चलते आये हैं। मायामेसे विकार पैदा होते है, और उनसे अनेक प्रकारके कर्म पैदा होते हैं। मायाके कारण जीव सुख-दु ख, पाप-पुण्यका भोगनेवाला बनता है। यह जानकर जो अलिप्त रहकर कर्तव्य-कर्म करता है वह कर्म करता हुआ भी फिर जन्म नही लेता; क्योकि वह सर्वत्र ईश्वरको देखता है और उसकी प्रेरणाके बिना एक पत्ता तक नही हिल सकता, यह जानकर वह अपने बारेमे अहताको नही मानता है, अपनेको शरीरसे अलग देखता है और समझता है कि जैसे आकाश सर्वत्र होते हुए भी निर्लिप्त ही रहता है, वैसे जीव शरीर मे रहते हुए भी ज्ञानद्वारा निर्लिप्त रह सकता है।

चौदहवां अध्याय

मौनवार

२५-१-३२

श्रीभगवान बोले—जिस उत्तम ज्ञानको पाकर ऋषि-मुनियोंने परम सिद्धि पाई है वह मैं तुझसे फिर कहता हू। उस ज्ञानके पाने और उसके अनुसार धर्मका आचरण करनेसे लोग जन्म-मरणके चक्करसे बच जाते हैं। हे अर्जुन, यह समझ कि मै जीवमात्रका माता-

पिता हूं। प्रकृति-जन्य तीन गुण—सत्त्व, रजस् और तमस्—देहीको बांधनेवाले है। इन गुणोको उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ भी कह सकते हैं। इनमे सत्त्वगुण निर्मल और निर्दोष है, प्रकाश देनेवाला है और इससे उसका संग सुखद होता है। रजस् रागसे, तृष्णासे पैदा होता है और वह मनुष्यको गडवडमे डालता है। तमस्का मूल अज्ञान है, मोह है और इससे मनुष्य प्रमादी और आलसी वनता है। अत संक्षेप मे कहा जाय तो सत्त्वमेंसे सुख, रजस्मेसे तृष्णादि और तमस्मेसे आलस्य पैदा होता है। रजस् और तमस्को दवाकर सत्त्व जय प्राप्त करता है और सत्त्व और रजस्को दवाकर तमस् जय पाता है। देहके सब कामोमें जब ज्ञानका अनुभव देखनेमे आवे तव यह जानना कि अब सत्त्वगुण प्रधान रूपसे काम कर रहा है। जब लोभ, गडवड़, अशांति, प्रतिद्वंद्विता दिखाई दे तब रजस्की वृद्धि जानो और जब अज्ञान, आलस्य, मोहका अनुभव हो तब समझो कि तमस्का राज्य है। जिसके जीवनमे सत्त्वगुण प्रधान होता है वह मृत्युके अंतमे ज्ञानमय निर्दोष लोकमे जन्म पाता है, रजस्-प्रधान जो होता है वह धांधली (गडबड) लोकमे जाता है और तमस्-प्रधान मूढ योनि मे जन्मता है। सात्त्विक कर्मका फल निर्मल, राजसका दु खमय और तामसका अज्ञानमय होता है। सात्त्विक लोककी उच्चगति, राजसकी, मध्यम और तामसकी अधोगति होती है। मनुष्य जब गुणोके सिवा दूसरे को कर्ता नही समझता और गुणोसे परे जो

मैं हूं उसे जानता है तब वह मेरे भावको पाता है। देहमें विद्यमान इन तीन गुणोंको जो देही पार कर जाता है वह जन्म, जरा और मृत्युके दुःखोसे छूटकर अमृतमय मोक्षको प्राप्त होता है।

अर्जुन पूछता है--गुणातीतकी ऐसी सुन्दर गति होती है तो बतलाइये कि इसके लक्षण कैसे हैं, इसका आचरण कैसा है और तीनो गुणोको किस प्रकार पार किया जाय ?

भगवान उत्तर देते हैं--जो मनुष्य अपनेपर जो आ पड़े, फिर भले ही प्रकाश हो या प्रवृत्ति हो, या मोह हो, ज्ञान हो, गड़बड़ हो या अज्ञान, उसका अतिशय दुःख या सुख न माने या इच्छा न करे ; जो गुणोंके बारेमे तटस्थ रहकर विचलित नही होता, गुण अपने गुणानुसार बरतते है यह समझकर जो स्थिर रहता है, जो सुख-दुःखको सम मानता है, जिसे लोहा, पत्थर या सोना समान है, जिसे प्रिय-अप्रियकी बात नही है, जिसपर अपनी स्तुति या निंदा कोई प्रभाव नही डाल सकती, जिसे मान-अपमान समान है, जो शत्रु-मित्रके प्रति समभाव रखता है, जिसने सब आरभोका त्याग किया है वह गुणातीत कहलाता है। मेरे बताये इन लक्षणोसे भड़कनेकी जरूरत नही है, न आलसी होकर सिरपर हाथ रखकर बैठ जानेकी। मैंने तो सिद्धकी दशा बतलाई है। उसे पहुचनेका मार्ग यह है--अव्यभिचाररहित भक्तियोगके द्वारा मेरी सेवा कर। (तीसरे अध्यायसे लगाकर) तुझे बताया है कि कर्म

बिना, प्रवृत्ति बिना कोई सांसतक नही ले सकता, अत. कर्म तो देहीमात्रको लगे हुए है। जो गुणोंको पार कर जाना चाहता है, वह साधक सब कर्म मुझे अर्पण करे और फलकी इच्छातक भी न करे। ऐसा करनेमे उसके कर्म उसे विघ्नरूप नही होगे, क्योंकि ब्रह्म मै हू, मोक्ष मै हू, सनातन धर्म मै हू, अनत सुख मै हू, जो कहो वह मै हू। मनुष्य शून्यवत् हो जाय तो मुझे ही सर्वत्र देखे, इसे गुणातीत कहेगे।

पंद्रहवां अध्याय

जड गहरी पकडी है, तथापि उसे असहकाररूपी शास्त्रसे काटना चाहिए कि जिससे आत्माको वह लोक प्राप्त हो सके जहांसे उसे वापस चक्कर न करना पडे। ऐसा करनेके लिए वह निरतर उस आदि पुरुपको भजे कि जिसकी मायासे यह पुरानी प्रवृत्ति पसरी हुई है। जिन्होने मान-मोहको छोड दिया है, जिन्होने संग-दोपको जीत लिया, जो आत्मामे लीन हैं, जो विपयोसे अलग हो गये हैं, जिन्हे सुख-दुःख समान है, वह ज्ञानी उस अव्यय पदको पाते है।

इस जगह सूर्यको या चन्द्रको या अग्निको तेज पहुचानेकी जरूरत नही पडती। जहा जाने के बाद लौटना नही रह जाता, वह मेरा परम धाम है।

जीवलोकमे मेरा सनातन अग जीवरूपमे प्रकृतिमें विद्यमान मनसहित छ इंद्रियोको आकर्पित करता है। जब जीव देह धारण करता है और तजता है तब, जैसे वायु अपने स्थलसे गंधोको साथ लिये चलता है, यह जीव भी इद्रियोको साथ लिये हुए विचरता है। कान आंख, त्वचा, जीभ और नाक तथा मन इतनोका सहारा लेकर जीव विपयोका सेवन करता है। गति करते हुए, स्थिर रहते हुए या भोग भोगते हुए गुणोवाले इस जीवको मोहमे पडे हुए अजानी पहचानते नहीं, ज्ञानी पहचानते हैं। यत्न करनेवाले योगी अपनेमे विद्यमान इस जीवको पहचानते हैं; पर जिसने समभावरूपी योगको नही साधा है वह यत्न करता हुआ भी उसे पहचानता नही है।

सूर्यका जो तेज जगतको प्रकाशित करता है, जो चन्द्रमा मे है, जो अग्निमे है, उन सारे तेजोको मेरा तेज जान। अपनी शक्तिद्वारा शरीरमे प्रवेश करके मैं जीवोको धारण करता हू। रस उत्पन्न करनेवाला सोम बनकर ओषधिमात्रका पोषण करता हू। प्राणियोंकी देहमे रह करके जठराग्नि बनकर प्राण, अपान वायुको समान करके, चार प्रकारका अन्न पचाता हू। सबके हृदयके भीतर विद्यमान हू। मेरे द्वारा ही स्मृति है, ज्ञान है, उसका अभाव है, सब वेदोके द्वारा जानने योग्य जो है वह मैं हूं। वेदान्त भी मैं हूं, वेदान्त को जाननेवाला भी मैं हू।

इस लोक मे कहा जाता है कि दो पुरुष हैं—क्षर और अक्षर अथवा नाशवान और नाशरहित। इनमे जीव क्षर कहलाते है, उनमे स्थिर हुआ मैं अक्षर हू, और उससे भी परे जो उत्तम पुरुष है वह परमात्मा कहलाता है। वह अव्यय ईश्वर तीनों लोकमे प्रवेश करके उसका पालन करता है वह भी मैं हूं, इससे मैं क्षर और अक्षरसे भी उत्तम हू, और लोकमे, वेदमे पुरुषोत्तमरूप से प्रसिद्ध हू। इस प्रकार जो ज्ञानी मुझे पुरुषोत्तमरूप से पहचानता है वह सब जानता है और मुझे सब भावोद्वारा भजता है।

हे निष्पाप अर्जुन, यह अति गुह्य शास्त्र मैंने तुझे कहा है। इसे जानकर मनुष्य बुद्धिमान बनता है और अपने ध्येयको पहुचता है।

सोलहवां अध्याय

यरवदा मंदिर

७-२-३२

श्रीभगवान कहते हैं—अब मैं तुझे धर्मवृत्ति और अधर्मवृत्तिका भेद बतलाता हूं। धर्मवृत्तिके बारेमें तो मैं पहले बहुत कह गया हूं, तो भी उसके लक्षण कहे जाता हूं। जिसमे धर्मवृत्ति होती है उसमे निर्भयता, अंतःकरणकी शुद्धि, ज्ञान, समता, इंद्रिय-दमन, यज्ञ, शास्त्रोंका अभ्यास, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शांति, किसीकी चुगली न खाना अर्थात् अपैशुन्यता, भूतमात्रके प्रति दया, अलोलुपता, कोमलता, मर्यादा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धीरज, अंतर और बाहरकी स्वच्छता, अद्रोह और निरभिमानता होती है।

अधर्म वृत्तिवालेमे दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान देखनेमे आता है।

धर्मवृत्ति मनुष्यको मोक्षकी ओर ले जाती है। अधर्मवृत्ति बंधनमे डालती है। हे अर्जुन, तू तो धर्मवृत्ति लेकर ही जन्मा है।

अधर्मवृत्तिका थोडा विस्तार कह देता हूं कि जिससे उसका त्याग सहजमे लोग कर सके।

अधर्मवृत्तिवाला प्रवृत्ति और निवृत्तिका भेद नही जानता है, उसे शुद्ध-अशुद्धका या सत्यासत्यका भान नही होता तो फिर उसके बर्तावका तो ठिकाना ही कहांसे होगा? उसके मन जगत झूठा, निराधार है,

जगतका कोई नियंता नही है, स्त्री-पुरुषका सबध ही उसका जगत है, अत. इसमें विषय-भोगके सिवा दूसरा विचार नही मिलता।

ऐसी वृत्तिवालोके कार्य भयानक होते है, उनकी मति मंद होती है, ऐसे लोग अपने दुष्ट विचारोको पकडे रहते है और जगतके नाश के लिए ही उनकी सब प्रवृत्तियां होती है। उनकी कामनाओका अंत ही नही आता। वे दभ, मान, मदमे भूले रहते है। उनकी चिंताका भी पार नही होता। उन्हे नित्य नये भोग चाहिए। सैकडों आशाओंके महल चुनते रहते है और अपनी कामनाकि पोषणके लिए द्रव्य एकत्र करनेमे न्याय-अन्यायका भेद बिल्कुल छोड देते है।

'आज यह पाया और कल वह और प्राप्त करूंगा, इस शत्रुको आज मारा फिर दूसरेको मारूगा, मैं बलवान हूं, मेरे पास ऋद्धि सिद्धि है, मेरे समान दूसरा कौन है, कीर्ति-प्राप्तिके लिए यज्ञ करूगा, दान दूगा और चैन की वशी बजाऊगा', यो मन-ही-मन मानता हुआ वह खुश होता रहता है और अत मे मोह-जालमे फसकर नरक-वास पाता है।

ये आसुरी वृत्तिवाले प्राणी अपने घमडमे भूले रह-कर परनिदा करते हुए सर्वव्यापक ईश्वरका द्वेष करते है और इससे वह बारबार आसुरी योनिमे जन्मते हैं।

नरकके, आत्माको नाश करनेवाले, ये तीन दर-वाजे है---काम, क्रोध और लोभ। सबको इन तीनो का त्याग करना चाहिए। उनका त्याग करनेवाले

कल्याणमार्गके पथिक होते हैं और वे परम गतिको पाते हैं।

जो अनादि सिद्धांतरूपी शास्त्रों का त्याग करके स्वेच्छासे भोग में पड़े रहते हैं, वे न सुख पाते हैं और न कल्याणमार्गमें रहकर शांति पाते हैं। इससे कार्य—अकार्यका निर्णय करनेमें अनुभवियोंसे अचल सिद्धांत जान लेने चाहिए और उनका अनुसरण करके आचार विचारका निश्चय करना चाहिए।

सत्रहवां अध्याय

यरवदा मंदिर

१४-२-३२

अर्जुन पूछता है—जो शिष्टाचार छोड़कर भी श्रद्धापूर्वक सेवा करते है, उनकी गति कैसी होती है ?

भगवान उत्तर देते हैं—श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है—सात्विकी, राजसी और तामसी। श्रद्धाके अनुसार मनुष्य होता है।

सात्विक मनुष्य ईश्वरको राजस यक्ष-राक्षसोंको और तामस भूत-प्रेतोंको भजता है।

पर किसीकी श्रद्धा कैसी है यह एकाएक नहीं जाना जासकता। उसका आहार कैसा है, उसका तप कैसा है, यज्ञ कैसा है, दान कैसा है, यह जानना चाहिए और उन सबके भी तीन-तीन प्रकार हैं जो बतलाता हूं।

जिस आहारसे आयु, निर्मलता, बल, आरोग्य, सुख और रुचि बढ़ती है वह आहार सात्त्विक कहलाता है। जो तीखा, खट्टा, चरपरा और गरम होता है वह राजस है। उससे दु:ख और रोग उत्पन्न होते है। जो रीधा हुआ आहार बासी हो बदबू करता हो, जूठा हो और अन्य प्रकारसे अपवित्र हो, उसे तामस जानना।

जिस यज्ञके करनेमे फलकी इच्छा नही है, जो कर्तव्यरूपसे तन्मयतासे होता है वह सात्त्विक माना जाता है। जिसमें फलकी आशा है और दंभ भी है उसे राजस यज्ञ जानना। जिसमे कोई विधि नही है, न कुछ उपज है, न कोई मंत्र है, न कोई त्याग है वह यज्ञ तामस है।

जिसमें संतोंकी पूजा है, पवित्रता है, ब्रह्मचर्य है, अहिंसा है, वह शारीरिक तप है। सत्य, प्रिय, हितकर वचन और धर्म-ग्रन्थका अभ्यास वाचिक तप है। मनकी प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, सयम, शुद्ध भावना, यह मानसिक तप कहलाता है। ऐसा शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप जो समभावसे फलेच्छाका त्याग करके किया जाता है वह सात्त्विक तप कहलाता है। जो तप मानकी आशासे, दभपूर्वक किया जाता है उसे राजस जानना और जो तप पीडित होकर और दुराग्रहसे या दूसरेके नाशके लिए किया जाय, जिसमे शरीरस्थ आत्माको क्लेश हो, वह तप तामस है।

कर्तव्य-बुद्धिसे दिया गया, बिना फलेच्छाके देश, काल, पात्र देखकर दिया गया दान सात्त्विक है। जिसमे

बदलेकी आशा है और जिसे देते हुए संकोच है वह दान राजस है और देश-कालादिका विचार किये बिना, तिरस्कृत भावसे या मान बिना दिया हुआ दान तामस है।

वेदोंने ब्रह्मका वर्णन ॐ तत्सत्‌रूपसे किया है, अतः श्रद्धालुको चाहिए कि यज्ञ, दान, तप आदि क्रिया इसका उच्चारण करके करे। ॐ अर्थात् एकाक्षरी ब्रह्म। तत् अर्थात् वह। सत् अर्थात् सत्य, कल्याणरूप। मतलब कि ईश्वर एक है, वही है, वही सत्य है, वही कल्याण करनेवाला है। ऐसी भावना रखकर और ईश्वरार्पण-बुद्धिसे जो यज्ञादि करते हैं उनकी श्रद्धा सात्त्विक है और वह शिष्टाचारको न जाननेके कारणसे अथवा जानते हुए भी, ईश्वरार्पणबुद्धिसे उससे कुछ भिन्न करते हैं, तथापि वह दोषरहित है।

पर जो क्रिया ईश्वरार्पणबुद्धिके बिना होती है वह बिना श्रद्धाकी मानी जाती है। वह असत् है।

अठारहवां अध्याय

यरवदा मंदिर

२१-२-३२

पिछले सोलह अध्यायोंके मननके बाद भी अर्जुनके मनमें शंका बनी रह जाती है, क्योंकि गीताका संन्यास उसे प्रचलित संन्याससे भिन्न लगता है। उसे

लगता है, त्याग और सन्यास दो अलग-अलग चीजे है क्या !

इस शंकाका निवारण करते हुए भगवान इस अंतिम अध्यायमे गीता-शिक्षणका सार दे देते हैं।

कितने ही कर्मोंमें कामना भरी होती है; अनेक प्रकारकी इच्छाओंकी पूर्तिके लिए मनुष्य अनेक उद्यम रचता है। यह काम्य कर्म है। अन्य आवश्यक और स्वाभाविक कर्म है, जैसे सांस लेना, देहकी रक्षाभरको खाना, पीना, पहनना, ओढना, सोना इत्यादि। और तीसरा कर्म पारमार्थिक है। इनमेंसे काम्य कर्मका त्याग गीताका सन्यास है और कर्ममात्रके फलका त्याग गीता-मान्य त्याग है।

कह सकते है कि कर्ममात्रमे कुछ दोष तो अवश्य हैं ही, तथापि यज्ञार्थ अर्थात् परोपकारार्थ कर्मका त्याग विहित नही है। यज्ञमे दान और तप आ जाते है, पर परमार्थमें भी आसक्ति, मोह नही होना चाहिए, अन्यथा उसमे बुराईके घुस आनेकी सभावना है।

मोहवश नियत कर्मका त्याग तामस त्याग है। देहके कष्टके खयालसे किया हुआ त्याग राजस है, पर सेवा-कार्य करनेकी भावनासे, बिना फलकी इच्छाका त्याग सच्चा सात्त्विक त्याग है। अत. यहां कर्ममात्रका त्याग नही है, बल्कि कर्तव्यकर्मके फलका त्याग है और दूसरे अर्थात् काम्य कर्मका त्याग तो है ही। ऐसे त्यागी को शकाए नही उठती। उसकी भावना शुद्ध होती है और वह सुविधा-असुविधाका विचार नही करता।

जो कर्म-फलका त्याग नही करते है उन्हे तो अच्छे-बुरे फल भोगने ही पडते हैं। इससे वे बंधनमे पड़े रहते हैं। फल-त्यागी बंधनमुक्त हो जाता है।

और कर्मके विषयमे मोह क्या ? अपने कर्तापनका अभिमान मिथ्या है। कर्ममात्रकी सिद्धिमे पांच कारण होते है—स्थान, कर्ता, साधन, क्रियाए और यह सब होनेपर भी अंतिम दैव है।

यह समझकर मनुष्यको अभिमानका त्याग करना चाहिए। अहंता छोड़कर कुछ भी करनेवालेके बारेमें कहा जा सकता है कि वह करते हुए भी नही करता है; क्योकि उसे वह कर्म बंधन-कर्ता नही होता। ऐसे निरभिमान, शून्यवत् बने हुए मनुष्यके विषय मे कह सकते हैं कि वह मारते हुए भी नही मारता है। इसके मानी यह नही होते कि कोई मनुष्य शून्यवत् होते हुए भी हिंसा करता है और अलिप्त रहता है, निरभिमानी को हिंसा करनेका प्रयोजन ही क्या है।

कर्मकी प्रेरणामें तीन वस्तुएं होती है—ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञान। और उसे तीन अंग होते हैं—इंद्रियां, क्रिया और कर्ता। जो करना है वह ज्ञेय है। जो उसकी रीति है वह ज्ञान है और जाननेवाला जो है वह परिज्ञाता है। इस प्रकार प्रेरणा होनेके बाद कर्म होता है। उसमे इंद्रियां कारण होती है, जो करनेको है वह क्रिया और उसका करनेवाला जो है वह कर्ता है। इस प्रकार विचारमेसे आचार होता है। जिसके द्वारा हम प्राणीमात्रमे एक ही भाव देखें, अर्थात् सब-कुछ भिन्न-

भिन्न लगते हुए भी गहराईमें उतरनेपर एक ही भासित हों तो वह सात्त्विक ज्ञान है।

इससे उलटा, जो भिन्न दिखाई देता है, वह भिन्न ही भासित हो तो वह राजस ज्ञान है।

और जहां कुछ पता ही नही लगता और सब बिना कारणके गड़बड लगता है वह तामस ज्ञान है।

ज्ञानके विभागकी भांति कर्मके भी विभाग है। जहां फलेच्छा नही है, राग-द्वेष नही है, वह कर्म सात्त्विक है। जहां भोगकी इच्छा है, जहा 'मै करता हू' यह अभिमान है और इससे जहां हो-हल्ला है वह राजस कर्म है। जहा परिणामकी, हानिकी या हिंसाकी, शक्ति की परवाह नही है और जो मोहके वश होकर होता है वह तामस कर्म है।

कर्मकी भांति कर्ता भी तीन तरहके समझने चाहिए। सात्त्विक कर्ता वह है जिसे राग नही है, अहंकार नही है, तथापि जिसमें दृढता है, साहस है, और जिसे अच्छे-बुरे फलसे हर्ष-शोक नही है। राजस कर्तामें राग होता है, लोभ होता है, हिंसा होती है, हर्ष-शोक तो जरूर ही होता है, तो फिर कर्म-फलकी इच्छाका तो कहना ही क्या? और तामस कर्ता अव्यवस्थित, दीर्घसूत्री, हठी, शठ, आलसी, सक्षेपमें कहा जाय तो सस्काररहित होता है।

बुद्धि, धृति और सुखके भी भिन्न-भिन्न प्रकार जानने योग्य हैं।

सात्त्विक बुद्धि प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-

अभय और बंध-मोक्ष आदिका सही भेद करती और जानती है। राजसी बुद्धि यह भेद करने तो चलती है, पर गलत या विपरीत कर लेती है और तामसी बुद्धि तो धर्मको अधर्म मानती है। सब उलटा ही निहारती है।

धृति अर्थात् धारणा, कुछ भी ग्रहण करके उससे लगे रहनेकी शक्ति। यह शक्ति अल्पाधिक प्रमाणमे सबमे है। यदि यह न हो तो जगत एक क्षण भी न टिक सके। अब जिसमे मन, प्राण और इंद्रियोकी क्रियाकी समता है, समानता है और एक निष्ठा है, वहां धृति सात्त्विकी है और जिसके द्वारा मनुष्य धर्म, काम और अर्थको आसक्तिपूर्वक धारण करता है वह धृति राजसी है। जो धृति मनुष्यको निंदा, भय, शोक, निराशा, मद वगैरह नही छोडने देती, वह तामसी है।

सात्त्विक सुख वह है जिसमे दुःखका अनुभव नही है, जिसमे आत्मा प्रसन्न रहता है, जो शुरूमे जहर-सा लगनेपर भी, परिणाममे, अमृतके समान ही है। विषय-भोग मे जो शुरूमे मधुर लगता है, पर बादको जहरके समान हो जाता है, वह राजस सुख है और जिसमे केवल मूर्च्छा, आलस्य, निद्रा ही है वह तामस सुख है।

इस-प्रकार सब वस्तुओके तीन हिस्से किये जा सकते हैं। ब्राह्मणादि चार वर्ण भी इन तीन गुणोके अल्पाधिक्यके कारण हुए है। ब्राह्मणके कर्ममें शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, अनुभव, आस्तिकता होनी चाहिए। क्षत्रियोमे शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्धमे पीछे न हटना, दान, राज्य चलानेकी

शक्ति होनी चाहिए। खेती, गो-रक्षा और व्यापार वैश्यका कर्म है और शूद्रका सेवा। इसका यह मतलब नही कि एकके गुण दूसरे में नही होते, अथवा इन गुणोंको हासिल करनेका उसे हक नही है; पर उपर्युक्त भातिके गुण या कर्मसे उस-उस वर्णकी पहचान हो सकती है। यदि हरएक वर्णके गुण-कर्म पहचाने जायं तो परस्पर द्वेष-भाव न हो, स्पर्द्धा न हो। ऊंच-नीचकी भावनाकी यहां कोई गुंजाइश नही है, बल्कि सब अपने स्वभावके अनुसार निष्काम भावसे अपने कर्म करते रहे तो उन कर्मोको करते हुए वे मोक्षके अधिकारी हो जाते है। इसीलिए कहा है कि परधर्म चाहे सरल लगता हो, स्वधर्म चाहे खोखला लगता हो, तो भी स्वधर्म अच्छा है। स्वभावजन्य कर्मंमे पाप न होनेकी सभावना है, क्योकि उसीमें निष्कामताकी पाबदी हो सकती है, दूसरा करनेकी इच्छामे ही कामना आजाती है। बाकी तो जैसे अग्निमात्रमे धुआ है वैसे ही कर्ममात्रमे दोष तो अवश्य है, पर सहजप्राप्त कर्म फलकी इच्छाके बिना होते है, इसलिए कर्मका दोष नही लगता।

जो इस प्रकार स्वधर्म का पालन करता हुआ शुद्ध हो गया है, जिसने मनको वशमे कर रखा है, जिसने पाच विषयोको छोड़ दिया है, जिसने राग-द्वेपको जीत लिया है, जो एकांतसेवी अर्थात् अंतरध्यानी रह सकता है, जो अल्पाहार करके मन, वचन, कायाको अंकुशमे रखता है, ईश्वरका ध्यान जिसे बराबर बना रहता है, जिसने अहकार, काम, क्रोध, परिग्रह इत्यादि

तज दिये है, वह शात योगी ब्रह्मभावको पाने योग्य है। ऐसा मनुष्य सबके प्रति समभाव रखता है और हर्ष-शोक नही करता, ऐसा भक्त ईश्वर-तत्त्वको यथार्थ जानता है और ईश्वरमे लीन हो जाता है। इस प्रकार जो भगवानका आश्रय लेता है वह अमृत पद पाता है। इसलिए भगवान कहते हैं—"सब मुझे अर्पण कर, मुझमे परायण हो और विवेक-बुद्धिका आश्रय लेकर मुझमे चित्त पिरो दे। ऐसा करेगा तो सारी विडंबनाओसे छूट जायगा, पर जो अहकार रखकर मेरी नहीं सुनेगा तो विनाशको प्राप्त होगा। सौ बातकी एक बात तो यह है कि सभी प्रपचोको त्यागकर मेरी शरण ले तो तू पापमुक्त हो जायगा। जो तपस्वी नही है, भक्त नही हैं, जिसे सुननेकी इच्छा नही है और जो मेरा द्वेष करता है उससे यह ज्ञान मत कहना; पर यह परम गुह्य ज्ञान जो मेरे भक्तोको देगा वह मेरी भक्ति करने के कारण अवश्य मुझे पावेगा।"

अतमें सजय धृतराष्ट्रसे कहता है—जहां योगेश्वर कृष्ण है, जहा धनुर्धारी पार्थ है, वहां श्री है, विजय है, वैभव है और अविचल नीति है।

यहा कृष्णको योगेश्वर विशेषण दिया गया है। इससे उसका शाश्वत अर्थ, शुद्ध अनुभव ज्ञान किया गया है, और धनुर्धारी पार्थ कहकर यह बतलाया गया है कि जहा ऐसे अनुभवसिद्ध ज्ञानको अनुसरण करनेवाली क्रिया है, वहा परम नीतिकी अविरोधिनी मनोकामना सिद्ध होती है।

अ ना स क्ति यो ग

[श्रीमद्भगवद्गीताकी हिन्दी-टीका]

प्रस्तावना

(१)

जैसे स्वामी आनद आदि मित्रोके प्रेमके वश होकर मैंने सत्यके प्रयोगो भरके लिए आत्मकथा लिखना आरम्भ किया था वैसे गीताका अनुवाद भी। स्वामी आनदने असहयोगके जमानेमे मुझसे कहा था, "आप गीताका जो अर्थ करते है, वह अर्थ तभी समझमे आ सकता है जब आप एक वार समूची गीताका अनुवाद कर जाय और उसके ऊपर जो टीका करनी हो वह करें और वह सपूर्ण एक वार हम पढ जाय। फुट-कर श्लोकोंमेसे अहिंसादिका प्रतिपादन मुझे तो ठीक नही लगता है।" मुझे उनकी दलीलमे सार जान पडा। मैंने जवाव दिया, "अवकाश मिलनेपर यह करूगा।" फिर मैं जेल गया। वहा तो गीता का अध्ययन कुछ अधिक गहराईसे करने का मौका मिला। लोकमान्यका ज्ञानका भडार पढा। उन्होने ही पहले मुझे मराठी, हिन्दी और गुजराती अनुवाद प्रेमपूर्वक भेजे थे और सिफारिश की थी कि मराठी न पढ सकू तो गुजराती अवश्य पढू। जेलके वाहर तो उसे न पढ पाया, पर जेल मे गुजराती-अनुवाद पढा। इसे पढनेके वाद गीताके सबध मे अधिक पढनेकी इच्छा हुई और गीतासबधी अनेक ग्रथ उलटे-पलटे।

मुझे गीताका प्रथम परिचय एडविन आर्नल्डके पद्य-अनुवाद से सन् १८८८-८९ मे प्राप्त हुआ। उससे गीताका गुजराती-अनुवाद पढनेकी तीव्र इच्छा हुई और जितने अनुवाद हाथ लगे उन्हें पढ गया, परन्तु ऐसी पढाई मुझे अपना अनुवाद जनता के सामने रखनेका विल्कुल अधिकार नही देती। इसके सिवा मेरा सस्कृत-ज्ञान अल्प है, गुजरातीका ज्ञान विद्वत्ताके विचारसे कुछ नही है। तव मैंने अनुवाद करनेकी धृष्टता क्यो की?

गीताको मैंने जिस प्रकार समझा है, उस प्रकार उसका आचरण करनेका मेरा और मेरे साथ रहनेवाले कई साथियोका वरावर प्रयत्न

है। गीता हमारे लिए आध्यात्मिक निदान-ग्रंथ है। उनके अनुसार आचरणमें निष्फलता रोज आती है, पर वह निष्फलता हमारा प्रयत्न रहते हुए है, इस निष्फलतामें सफलताकी फूटती हुई किरणोंकी झलक दिखाई देती है। यह नन्हा-सा जन-समुदाय जिस अर्थको आचार में परिणत करनेका प्रयत्न करता है वह इस अनुवादमें है।

इसके सिवा स्त्रियां, वैश्य और शूद्र-सरीखे, जिन्हें अक्षरज्ञान थोड़ा ही है, जिन्हें मूल संस्कृतमें गीता समझनेका समय नहीं है, इच्छा नहीं है, परन्तु जिन्हें गीतारूपी सहारेकी आवश्यकता है, उन्हींके लिए इस अनुवादकी कल्पना है।[1] गुजराती भाषाका मेरा ज्ञान कम होनेपर भी उसके द्वारा गुजरातियोंको मेरे पास जो कुछ पूंजी हो वह दे जानेकी मुझे सदा भारी अभिलाषा रही है। मैं यह चाहता अवश्य हूं कि आज गंदे साहित्यका जो प्रवाह जोरोंसे जारी है उस समयमें हिंदू-धर्ममें अद्वितीय माने जानेवाले इस ग्रंथका सरल अनुवाद गुजराती जनताको मिले और उसमेंसे वह उस प्रवाहका सामना करनेकी शक्ति प्राप्त करे।

इस अभिलाषामें दूसरे गुजराती-अनुवादोंकी अवहेलना नहीं है। उन सबका स्थान भले ही हो—पर उनके पीछे उनके अनुवादकोंका आचाररूपी अनुभवका दावा हो, ऐसा मेरी जानकारीमें नहीं है। इस अनुवादके पीछे अड़तीस वर्षके आचारके प्रयत्नका दावा है। इसलिए मैं यह अवश्य चाहता हूं कि प्रत्येक गुजराती भाई और बहन, जिन्हें धर्मको आचरणमें लानेकी इच्छा है, इसे पढ़ें, विचारें और इसमेंसे शक्ति प्राप्त करें।

इस अनुवादमें मेरे साथियोंकी मेहनत मौजूद है। मेरा संस्कृत-ज्ञान बहुत अधूरा होनेके कारण शब्दार्थपर मुझे पूरा विश्वास नहीं हो सकता था, अतः इतनेभरके लिए इस अनुवादको विनोबा, काका कालेलकर, महादेव देसाई और किशोरलाल मशरूवालाने देख लिया है।

(२)

अब गीताके अर्थपर आता हूं।

सन् १८८८-८९ में जब गीताका प्रथम दर्शन हुआ तभी मुझे ऐसा

[1] गांधीजीका अनुवाद गुजरातीमें है। यह उसीका हिंदी-रूपान्तर है।

लगा कि यह ऐतिहासिक ग्रथ नही है, वरन् इसमे भौतिक युद्धके वर्णनके वहाने प्रत्येक मनुष्यके हृदयके भीतर निरतर होते रहनेवाले द्वद्व युद्धका ही वर्णन है, मानुषी योद्धाओकी रचना हृदयगत युद्धको रोचक वनानेके लिए गढी हुई कल्पना है। यह प्राथमिक स्फुरणा धर्मका और गीताका विशेष विचार करनेके वाद पक्की हो गई। महाभारत पढनेके वाद यह विचार और भी दृढ हो गया। महाभारत ग्रथको मैं आधुनिक अर्थमे इतिहास नही मानता। इसके प्रवल प्रमाण आदिपर्वमे ही है। पात्रोकी अमानुषी और अतिमानुषी उत्पत्तिका वर्णन करके व्यास भगवानने राजा-प्रजा के इतिहास को मिटा दिया है। उसमे वर्णित पात्र मूलमे ऐतिहासिक भले ही हो, परतु महाभारतमे तो उनका उपयोग व्यास भगवानने केवल धर्म का दर्शन कराने के लिए ही किया है।

महाभारतकारने भौतिक युद्धकी आवश्यकता नही, उसकी निरर्थकता सिद्ध की है। विजेतासे रुदन कराया है, पश्चात्ताप कराया है और दु खके सिवा और कुछ नही रहने दिया।

इस महाग्रथमे गीता शिरोमणिरूपसे विराजती है। उसका दूसरा अध्याय भौतिक युद्धव्यवहार सिखानेके वदले स्थितप्रज्ञ के लक्षण सिखाता है। स्थित-प्रज्ञका ऐहिक युद्धके साथ कोई सवध नही होता, यह वात उसके लक्षणोमेसे ही मुझे प्रतीत हुई है। साधारण पारिवारिक झगडोके औचित्य-अनौचित्यका निर्णय करनेके लिए गीताजैसी पुस्तककी रचना सभव नही है।

गीताके कृष्ण मूर्तिमान् शुद्ध सपूर्ण ज्ञान हैं, परतु काल्पनिक हैं। यहा कृष्ण नामके अवतारी पुरुष का निषेध नही है। केवल सपूर्ण कृष्ण काल्पनिक हैं, सपूर्णावतारका आरोपण पीछेसे हुआ है।

अवतारसे तात्पर्य है शरीरधारी पुरुषविशेष। जीवमात्र ईश्वरके अवतार है; परतु लौकिक भाषामे सवको हम अवतार नही कहते। जो पुरुष अपने युगमे सवसे श्रेष्ठ धर्मवान है, उसे भावी प्रजा अवताररूपसे पूजती है। इसमे मुझे कोई दोष नही जान पडता। इसमे न तो ईश्वरके वडप्पन मे कमी आती है, न उसमे सत्य को आघात पहुचता है। "आदम खुदा नही, लेकिन खुदाके नूर से आदम जुदा नही।" जिसमे धर्म-जागृति अपने युगमे सवसे अधिक है वह विशेषावतार है। इस विचारश्रेणीसे

कृष्ण-रूपी सपूर्णावतार आज हिंदूधर्ममें साम्राज्य भोग रहा है।

यह दृश्य मनुष्यकी अतिम सदभिलाषाका सूचक है। मनुष्यको ईश्वररूप हुए विना चैन नहीं पडता, शाति नही मिलती। ईश्वररूप होनेके प्रयत्नका नाम सच्चा और एकमात्र पुरुषार्थ है और यही आत्म-दर्शन है। यह आत्मदर्शन सब धर्म-ग्रथोका विषय है, वैसे ही गीताका भी है। पर गीताकारने इस विषयका प्रतिपादन करनेके लिए गीता नही रची। वरन् आत्मार्थीको आत्मदर्शनका एक अद्वितीय उपाय बतलाना गीताका आशय है। जो चीज हिंदूधर्म-ग्रथोंमें छुट-फुट दिखाई देती है, उसे गीताने अनेक रूपो, अनेक शब्दोंमें, पुनरुक्तिका दोष स्वीकार करके भी, अच्छी तरह स्थापित किया है।

वह अद्वितीय उपाय है 'कर्मफल-त्याग'।

इस मध्यबिंदुके चारो ओर गीताकी सारी सजावट है। भक्ति, ज्ञान इत्यादि उसके आसपास तारामंडलरूपमे सज गये है। जहा देह है वहा कर्म तो है ही। उनमेसे कोई मुक्त नही है; तथापि देहको प्रभुका मदिर बनाकर उसके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है, यह सब धर्मोंने प्रतिपादन किया है, परतु कर्ममात्र मे कुछ दोष तो है ही, मुक्ति तो निर्दोषकी ही होती है। तब कर्मबंधनमे से अर्थात् दोषस्पर्शमेसे कैसे छुटकारा हो? इसका जवाब गीताजीने निश्चयात्मक शब्दोंमे दिया है—"निष्काम कर्मसे, यज्ञार्थ कर्म करके, कर्मफल-त्याग करके, सब कर्मोको कृष्णार्पण करके, अर्थात् मन, वचन और कायाको ईश्वरमें होम करके।"

पर निष्कामता या कर्मफलत्याग कहनेभरसे नहीं हो जाता। यह केवल बुद्धि का प्रयोग नही है। यह हृदय-मथनसे ही उत्पन्न होता है। यह त्याग-शक्ति पैदा करनेके लिए ज्ञान चाहिए। एक प्रकारका ज्ञान तो बहुतेरे पडित पाते हैं। वेदादि उन्हें कठ होते हैं; परंतु उनमेसे अधिकाश भोगादि-में लगे-लिपटे रहते हैं। ज्ञानका अतिरेक शुष्क पाडित्यके रूपमें न हो जाय, इस खयालसे गीताकारने ज्ञानके साथ भक्तिको मिलाया और उसे प्रथम स्थान दिया। विना भक्तिका ज्ञान हानिकर है। इसलिए कहा गया, "भक्ति करो तो ज्ञान मिल ही जायगा।" पर भक्ति तो 'सिर का सौदा' है, इसलिए गीताकारने भक्तके लक्षण स्थितप्रज्ञकेसे बतलाये हैं।

तात्पर्य, गीताकी भक्ति बाह्याचारिता नही है, अंधश्रद्धा नही है। गीतामें बताये उपचारका बाह्य चेष्टा या क्रियाके साथ कम-से कम संबंध है। माला, तिलक, अर्घ्यादि साधन भले ही भक्त बरते, पर वे भक्तिके लक्षण नही हैं।* जो किसीका द्वेष नही करता, जो करुणाका भंडार है और ममतारहित है, जो निरहंकार है जिसे सुख दुःख, शीत-उष्ण समान हैं, जो क्षमाशील है, जो सदा संतोषी है, जिसके निश्चय कभी बदलते नही, जिसने मन और बुद्धि ईश्वरको अर्पण कर दिये है, जिससे लोग उद्वेग नहीं पाते, जो लोगो का भय नही रखता, जो हर्ष-शोक-भयादिसे मुक्त है, जो पवित्र है, जो कार्यदक्ष होनेपर भी तटस्थ है, जो शुभाशुभका त्याग करनेवाला है, जो शत्रु-मित्रपर समभाव रखनेवाला है, जिसे मान-अपमान समान है, जिसे स्तुतिसे खुशी नही होती और निंदासे ग्लानि नही होती, जो मौनधारी है, जिसे एकान्त प्रिय है, जो स्थिरबुद्धि है, वह भक्त है। यह भक्ति आसक्त स्त्री-पुरुषोंमें संभव नही है।

इसमेंसे हम देखते हैं कि ज्ञान प्राप्त करना, भक्त होना ही आत्म-दर्शन है। आत्मदर्शन उससे भिन्न वस्तु नही है। जैसे रुपयेके बदलेमे जहर खरीदा जा सकता है और अमृत भी लाया जा सकता है, वैसे ज्ञान या भक्तिके बदले बंधन भी लाया जा सके और मोक्ष भी, यह संभव नही है। यहा तो साधन और साध्य, बिल्कुल एक नही तो लगभग एक ही वस्तु हैं। साधनकी पराकाष्ठा जो है वही मोक्ष है और गीताके मोक्षका अर्थ परमशांति है।

किंतु ऐसे ज्ञान और भक्तिको कर्मफलत्यागकी कसौटीपर चढना ठहरा। लौकिक कल्पनामे शुष्क पंडित भी ज्ञानी मान लिया जाता है। उसे कुछ काम करनेको नही रहता। हाथसे लोटा तक उठाना भी उसके लिए कर्मबंधन है। यज्ञशून्य जहा ज्ञानी गिना जाय वहा लोटा उठाने-जैसी तुच्छ लौकिक क्रिया को स्थान ही कैसे मिल सकता है?

लौकिक कल्पनामे भक्तसे मतलब है वाह्याचारी,' माला लेकर जप

---

* 'जो बाह्याचारमे लीन रहता है और शुद्ध भावसे मानता है कि यही भक्ति है।

करनेवाला। सेवाकर्म करने भी उसकी मालामे विक्षेप पडता है। इस-लिए वह खाने-पीने आदि भोग भोगनेके समय ही मालाको हाथमे छोडता है, चक्की चलाने या रोगीकी सेवा-शुश्रूषा करनेके लिए कभी नहीं छोडता।

इन दोनो वर्गोको गीताने साफतौरसे कह दिया, "कर्म बिना किसी-ने सिद्धि नही पाई। जनकादि भी कर्मद्वारा ज्ञानी हुए। यदि मैं भी आलस्यरहित होकर कर्म न करता रहू तो इन लोकोका नाश हो जाय।" तो फिर लोगोके लिए पूछना ही क्या रह जाता है?

परतु एक ओरसे कर्ममात्र बधनरूप हैं, यह निर्विवाद है। दूसरी ओरसे देही इच्छा-अनिच्छासे भी कर्म करता रहता है। शारीरिक या मानसिक सभी चेष्टाए कर्म हैं। तब कर्म करते हुए भी मनुष्य बधनमुक्त कैसे रहे? जहातक मुझे मालूम है, इस समस्याको गीताने जिस तरह हल किया है वैसे दूसरे किसी भी धर्मग्रथने नही किया है। गीताका कहना है, "फलासक्ति छोडो और कर्म करो", "आशारहित होकर कर्म करो", "निष्काम होकर कर्म करो।" यह गीताकी वह ध्वनि है जो भुलाई नही जा सकती। जो कर्म छोडता है वह गिरता है। कर्म करते हुए भी जो उसका फल छोडता है वह चढता है। फलत्यागका यह अर्थ नही है कि परिणामके सबधमे लापरवाही रहे। परिणाम और साधनका विचार और उसका ज्ञान अत्यावश्यक है। इतना होनेके बाद जो मनुष्य परिणाम-की इच्छा किये बिना साधनमे तन्मय रहता है वह फलत्यागी है।

पर यहा फलत्यागका कोई यह अर्थ न करे कि त्यागीको फल मिलता नही। गीतामे ऐसे अर्थको कही स्थान नही है। फलत्यागसे मतलब है फलके सबधमे आसक्तिका अभाव। वास्तवमे देखा जाय तो फलत्यागीको तो हजारगुना फल मिलता है। गीताके फलत्यागमे तो अपरिमित श्रद्धाकी परीक्षा है। जो मनुष्य परिणामका ध्यान करता रहता है वह बहुत बार कर्म—कर्त्तव्यभ्रष्ट हो जाता है। उसे अधीरता घेरती है, इससे वह क्रोधके वश हो जाता है और फिर वह न करने योग्य करने लग पडता है, एक कर्म-मेसे दूसरेमे और दूसरेमेसे तीसरेमें पडता जाता है। परिणामकी चिंता करने-वालेकी स्थिति विषयाधकी-सी हो जाती है और अतमे वह विषयीकी भाति सारासारका, नीति-अनीतिका विवेक छोड देता है और फल प्राप्त

करनेके लिए हर किसी साधनसे काम लेता है और उसे धर्म मानता है।

फलासक्तिके ऐसे कटु परिणामोमेसे गीताकारने अनासक्तिका अर्थात् कर्मफल-त्यागका सिद्धात निकाला और ससार के सामने अत्यत आकर्षक भाषा मे रखा। साधारणत तो यह माना जाता है कि धर्म अर्थविरोधी वस्तु है, "व्यापार इत्यादि लौकिक व्यवहारमे धर्म नही बचाया जा सकता, धर्मको जगह नही हो सकती, धर्मका उपयोग केवल मोक्षके लिए किया जा सकता है। धर्मकी जगह धर्म शोभा देता है और अर्थकी जगह अर्थ। बहुतोसे ऐसा कहते हम सुनते हैं।" गीताकार ने इस भ्रमको दूर किया है। उसने मोक्ष और व्यवहारके बीच ऐसा भेद नही रखा है, वरन् व्यवहारमे धर्मको उतारा है। जो धर्म व्यवहार मे न लाया जा सके वह धर्म नही है, मेरी समझमे यह बात गीतामे है। मतलब, गीताके मतानुसार जो कर्म ऐसे हैं कि आसक्ति के बिना हो ही न सके, वे सभी त्याज्य हैं। ऐसा सुवर्ण-नियम मनुष्योको अनेक धर्मसकटोमेसे बचाता है। इस मतके अनुसार खून, झूठ, व्यभिचार इत्यादि कर्म अपने-आप त्याज्य हो जाते हैं। मानव-जीवन सरल बन जाता है और सरलतामेसे शांति उत्पन्न होती है।

इस विचारश्रेणीके अनुसार मुझे ऐसा जान पड़ा है कि गीताकी शिक्षाको व्यवहारमे लानेवालेको अपने-आप सत्य और अहिंसाका पालन करना पड़ता है। फलासक्तिके बिना न तो मनुष्यको असत्य बोलनेका लालच होता है, न हिंसा करनेका। चाहे जिस हिंसा या असत्य के कार्यको हम लें, यह मालूम हो जायगा कि उसके पीछे परिणाम की इच्छा रहती है। गीताकालके पहले भी अहिंसा परमधर्मरूप मानी जाती थी। पर गीताको तो अनासक्ति के सिद्धान्तका प्रतिपादन करना था। दूसरे अध्यायमे ही यह बात स्पष्ट हो जाती है।

परतु यदि गीताको अहिंसा मान्य थी अथवा अनासक्तिमे अहिंसा अपने-आप आ ही जाती है तो गीताकारने भौतिक युद्धको उदाहरणके रूपमे भी क्यो लिया? गीतायुगमे अहिंसा धर्म मानी जानेपर भी भौतिक युद्ध सर्वमान्य वस्तु होनेके कारण गीताकारको ऐसे युद्ध का उदाहरण लेते सकोच नही हुआ और न होना चाहिए था।

परतु फलत्यागके महत्त्व का अदाजा करते हुए गीताकारके मनमे

क्या विचार थे, उसने अहिंसाकी मर्यादा कहा निश्चित की थी, इसपर हमे विचार करनेकी आवश्यकता नही रहती। कवि महत्त्वके सिद्धातोको ससारके सम्मुख उपस्थित करता है, इसके यह मानी नही होते कि वह सदा अपने उपस्थित किये हुए सिद्धातोका महत्त्व पूर्णरूपसे पहचानता है या पहचाननेके बाद समूचेको भाषामे रख सकता है। इसमे काव्यकी और कविकी महिमा है। कविके अर्थका अत ही नही है। जैसे मनुष्यका, उसी प्रकार महावाक्योके अर्थका विकास होता ही रहता है। भाषाओंके इतिहाससे हमें मालूम होता है कि अनेक महान् शब्दोके अर्थ नित्य नये होते रहे हैं। यही बात गीताके अर्थके सबधमे भी है। गीताकारने स्वय महान् रूढ शब्दोके अर्थका विस्तार किया है। गीताको ऊपरी दृष्टिसे देखने पर भी यह बात मालूम हो जाती है। गीतायुगके पहले कदाचित् यज्ञमे पशुहिंसा मान्य रही हो, गीताके यज्ञमे उसकी कही गधतक नही है। उसमे तो जपयज्ञ यज्ञोका राजा है। तीसरा अध्याय बतलाता है कि यज्ञका अर्थ है मुख्यरूपमे परोपकारके लिए शरीरका उपयोग। तीसरा और चौथा अध्याय मिलाकर दूसरी व्याख्याए भी निकाली जा सकती हैं; पर पशुहिंसा नही निकाली जा सकती। यही बात गीताके सन्यासके अर्थके सबधमे है। कर्ममात्रका त्याग गीताके सन्यासको भाता ही नही। गीताका सन्यासी अतिकर्मी है तथापि अति-अकर्मी है। इस प्रकार गीताकारने महान् शब्दोका व्यापक अर्थ करके अपनी भाषाका भी व्यापक अर्थ करना हमें सिखाया है। गीताकारकी भाषाके अक्षरोंसे यह बात भले ही निकलती हो कि सपूर्ण कर्मफलत्यागीद्वारा भौतिक युद्ध हो सकता है, परतु गीताकी शिक्षाको पूर्णरूपसे अमलमे लानेका ४० वर्षतक सतत प्रयत्न करनेपर मुझे तो नम्रतापूर्वक ऐसा जान पडा है कि सत्य और अहिंसाका पूर्णरूपसे पालन किये बिना सपूर्ण कर्मफलत्याग मनुष्यके लिए असभव है।

गीता सूत्रग्रथ नहीं है। गीता एक महान् कर्मकाव्य है। उसमे जितना गहरे उतरिये, उतने ही उसमेंसे नये और सुदर अर्थ लीजिये। गीता जनसमाजके लिए है, उसमे एक ही बातको अनेक प्रकारसे कहा है। अत गीतामें आये हुए महाशब्दोका अर्थ युग-युगमे बदलता और विस्तृत होता रहेगा। गीताका मूलमत्र कभी नही बदल सकता। वह

ग्रंथ जिस रीतिसे सिद्ध किया जा सके, उस रीतिसे जिज्ञासु चाहे जो अर्थ कर सकता है।

गीता विधिनिषेध बतलानेवाली भी नहीं है। एकके लिए जो विहित होता है, वही दूसरेके लिए निषिद्ध हो सकता है। एक काल या एक देशमें जो विहित होता है, वह दूसरे कालमें, दूसरे देशमें निषिद्ध हो सकता है। निषिद्ध केवल फलासक्ति है, विहित है अनासक्ति।

गीतामें ज्ञानकी महिमा सुरक्षित है, तथापि गीता बुद्धिगम्य नहीं है, वह हृदयगम्य है। अतः वह अश्रद्धालुके लिए नहीं है। गीताकारने ही कहा है—

"जो तपस्वी नहीं है, जो भक्त नहीं है, जो सुनना नहीं चाहता और जो मेरा द्वेष करता है, उससे यह (ज्ञान) तू कभी न कहना।" १८।६७

"परन्तु यह परमगुह्य ज्ञान जो मेरे भक्तोंको देगा, वह मेरी परमभक्ति करनेके कारण निस्सन्देह मुझे ही पावेगा।" १८।६८

"और जो मनुष्य द्वेषरहित होकर श्रद्धापूर्वक केवल सुनेगा वह भी मुक्त होकर पुण्यवान जहां बसते हैं उस शुभ लोकको पावेगा।" १८।७१

(कौसानी, हिमालय)
सोमवार
आषाढ़ कृष्ण २, १९८६
ता० २४-६-२९

—मो० क० गांधी

अ ना स क्ति योग

: १ :

अर्जुनविषादयोग

जिज्ञासा बिना ज्ञान नही होता। दु ख बिना सुख नही होता। धर्मसकट—हृदयमथन सब जिज्ञासुओको एक बार होता ही है।

धृतराष्ट्र बोले—

हे संजय ! मुझे बतलाओ कि धर्मक्षेत्ररूपी कुरुक्षेत्रमे युद्ध करनेकी इच्छासे इकट्ठे हुए मेरे और पांडुके पुत्रोने क्या किया ? १

टिप्पणी—यह शरीररूपी क्षेत्र धर्मक्षेत्र है, क्योकि यह मोक्षका द्वार हो सकता है। पापसे इसकी उत्पत्ति है और पापका यह भाजन बना रहता है, इसलिए यह कुरुक्षेत्र है।

कौरव अर्थात् आसुरी वृत्तियां। पांडुपुत्र अर्थात् दैवी वृत्तिया। प्रत्येक शरीरमे भली और बुरी वृत्तियो में युद्ध चलता ही रहता है, यह कौन नही अनुभव करता ?

संजय ने कहा—

उस समय पांडवोकी सेना सजी देखकर राजा दुर्योधन आचार्य द्रोणके पास जाकर बोले— २

हे आचार्य ! अपने बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नद्वारा सजाई हुई पाडवोकी इस वडी सेनाको देखिये । ३

यहा भीम, अर्जुन-जैसे लड़नेमें शूरवीर धनुर्धर, युयुधान (सात्यकि), विराट और महारथी द्रुपदराज, ४

धृष्टकेतु, चेकितान, शूरवीर काशिराज, पुरुजित्, कुतिभोज और मनुष्यो मे श्रेष्ठ शैव्य, ५

इसी प्रकार पराक्रमी युधामन्यु, वलवान उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र (अभिमन्यु) और द्रौपदीके पुत्र ये सभी महारथी हैं । ६

हे द्विजश्रेष्ठ ! अब हमारी ओरके जो मुख्य योद्धा है उन्हे आप जान लीजिये । अपनी सेनाके नायकोंके नाम मैं आपके ध्यानमे लाने के लिए कहता हूं । ७

एक तो आप, भीष्म, कर्ण, युद्धमे जयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवा, ८

दूसरे भी बहुतेरे नाना प्रकारके शस्त्रोसे युद्ध करनेवाले शूरवीर हैं, जो मेरे लिए प्राण देनेवाले हैं। वे सब युद्धमे कुशल है । ९

भीष्मद्वारा रक्षित हमारी सेनाका बल अपूर्ण है, पर भीमद्वारा रक्षित उनकी सेना पूर्ण है । १०

इसलिए आप सब अपने-अपने स्थानसे सब मार्गोंसे भीष्मपितामहकी अच्छी तरह रक्षा करें । ११

(इस प्रकार दुर्योधनने कहा)

तब उसे आनंदित करते हुए कुरुवृद्ध प्रतापी पितामहने उच्चस्वरसे सिंहनाद करके शंख

बजाया । १२

फिर तो शंख, नगारे, ढोल, मृदंग और रणसिंगे एक साथ ही बज उठे । यह नाद भयंकर था । १३

इतनेमें सफेद घोडोवाले बड़े रथपर बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनने दिव्य शंख बजाये । १४

श्रीकृष्णने पांचजन्य शख बजाया । धनजय अर्जुनने देवदत्त शंख बजाया । भयकर कर्मवाले भीमने पौड्र नामक महाशंख बजाया । १५

कुंतीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनतविजय नामक शंख बजाया और नकुल ने सुघोष तथा सहदेवने मणि-पुष्पक नामक शख बजाया । १६

बड़े धनुषवाले काशिराज, महारथी शिखडी, धृष्टद्युम्न, विराटराज, अजेय सात्यकि, १७

द्रुपदराज, द्रौपदीके पुत्र, सुभद्रापुत्र महाबाहु अभिमन्यु, इन सबने, हे राजन्! अपने-अपने शख बजाये । १८

पृथ्वी और आकाशको गुंजा देनेवाले उस भयंकर नादने कौरवोंके हृदय विदीर्ण कर डाले । १९

हे राजन्! हनुमान चिह्नकी ध्वजावाले अर्जुनने कौरवोंको सजे देखकर, हथियार चलानेकी तैयारीके समय अपना धनुष चढ़ाकर हृषीकेशसे ये वचन कहे— २०-२१

अर्जुन बोले—

"हे अच्युत! मेरा रथ दोनो सेनाओंके बीचमे खड़ा रखो, २१

जिससे युद्धकी कामनासे खड़े हुए लोगोको मै देखू और जानू कि इस रणसग्राममे मुझे किसके साथ लड़ना है। २२

दुर्बुद्धि दुर्योधनका युद्धमे प्रिय करनेकी इच्छा-वाले जो योद्धा इकट्ठे हुए है उन्हे मैं देखू तो सही।" २३

संजय ने कहा—

हे राजन्! जब अर्जुनने श्रीकृष्णसे यों कहा तब उन्होने दोनो सेनाओके बीचमे सब राजाओ और भीष्म-द्रोणके सम्मुख उत्तम रथ खडा करके कहा— "हे पार्थ! इन इकट्ठे हुए कौरवोको देख।" २४-२५

वहा दोनों सेनाओमे विद्यमान बड़े-बूढे, पितामह आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, ससुर और स्नेहियोको अर्जुनने देखा। इन सब बांधवोको यो खडा देखकर, खेद उत्पन्न होनेके कारण दीन बने हुए, कुतीपुत्र इस प्रकार बोले— २६-२७-२८

हे कृष्ण! युद्धके लिए उत्सुक होकर इकट्ठे हुए इन स्वजन स्नेहियोको देखकर मेरे गात्र शिथिल होते जा रहे है, मुह सूख रहा है, शरीर काप रहा है और रोएँ खडे हो रहे हैं। २८-२९

हाथ से गाडीव सरक रहा है, त्वचा बहुत जलती है। मुझसे खड़ा नही रहा जाता, क्योकि मेरा दिमाग चक्कर-सा खा रहा है। ३०

इसके सिवा हे केशव! मैं तो विपरीत लक्षण देख रहा हूं। युद्धमे स्वजनोको मारकर कुछ श्रेय नही देखता। ३१

उन्हे मारकर न मैं विजय चाहता, न राज्य और सुख चाहता; हे गोविन्द ! मुझे राज्यका, भोगका या जिंदगीका क्या काम है ? ३२

जिनके लिए राज्य, भोग और सुखकी हमने चाहना की वे ये आचार्य, काका, पुत्र, पितामह, मामा, ससुर, पौत्र, साले और अन्य सबंधी जन जीवन और धनकी आशा छोडकर युद्धके लिए खडे है। ३३-३४

मुझे ये मार डाले अथवा मुझे तीनों लोकोका राज्य मिले तो भी, हे मधुसूदन ! मै उन्हे मारना नही चाहता। तो फिर एक जमीनके टुकड़ेके लिए कैसे मारू ? ३५

हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रके पुत्रोको मारकर मुझे क्या आनन्द होगा ? इन आततताइयोको मारकर भी हमे पाप ही लगेगा। ३६

इससे हे माधव ! यह उचित नही कि अपने ही बांधव धृतराष्ट्रके पुत्रोको हम मारे। स्वजनको ही मारकर कैसे सुखी हो सकते है ? ३७

लोभसे जिनके चित्त मलिन हो गये है वे कुल-नाश से होनेवाले दोषको और मित्रद्रोहके पापको भले ही न देख सके, परतु हे जनार्दन ! कुल-नाशसे होनेवाले दोष को समझतेवाले हम लोग इस पापसे बचना क्यो न जाने ? ३८-३९

कुलके नाशसे सनातन कुल-धर्मोका नाश होता है और धर्मका नाश होनेसे अधर्म समूचे कुलको डुबा देता है। ४०

हे कृष्ण ! अधर्म की वृद्धि होनेसे कुलस्त्रियां दूषित होती है और उनके दूषित होनेसे वर्णका सकर होता है । ४१

ऐसे सकरसे कुलघातकका और उसके कुलका नरकवास होता है और पिंडोदककी क्रिया से वचित रहने के कारण उसके पितरोंकी अधोगति होती है । ४२

कुलघातक लोगोके इस वर्णसंकरको उत्पन्न करनेवाले दोषोंसे सनातन जातिधर्म और कुलधर्मोका नाश होता है । ४३

हे जनार्दन ! कुलधर्मका नाश हुए मनुष्यका नरकमें अवश्य वास होता है, ऐसा हम लोग सुनते आये हैं। ४४

अहो, कैसे दुःखकी वात है कि हमलोग महापाप करनेको तुल गये हैं, अर्थात् राज्य-सुखके लोभसे स्वजनों को मारनेको तैयार हो गये हैं । ४५

निःशस्त्र और सामना न करनेवाले मुझको यदि धृतराष्ट्रके शस्त्रधारी पुत्र रणमे मार डाले तो वह मेरे लिए बहुत कल्याणकारक होगा । ४६

संजय ने कहा—

ऐसा कहकर रण मे शोकमे व्यग्रचित हुआ अर्जुन धनुष-बाण डालकर रथके पिछले भागमे बैठ गया । ४७

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'अर्जुनविषादयोग' नामक पहला अध्याय ।

: २

सांख्ययोग

मोहके वश होकर मनुष्य अधर्मको धर्म मानता है। मोहके कारण अर्जुनने अपना और पराया भेद किया, इस भेदको मिथ्या बतलाते हुए श्रीकृष्ण देह और आत्माकी भिन्नता, देहको अनित्यता और पृथक्ता तथा आत्माकी नित्यता और उसकी एकता बतलाते है। मनुष्य केवल पुरुषार्थका अधिकारी है, परिणामका नही। इसीलिए उसे कर्तव्यका निश्चय करके निश्चित भावसे उसमे लगे रहना चाहिए। ऐसी परायणतासे वह मोक्षकी प्राप्तिको पहुंच सकता है।

सजय ने कहा—

यो करुणा से दीन बने हुए और अश्रुपूर्ण व्याकुल नेत्रोवाले दु:खी अर्जुनसे मधुसूदनने ये वचन कहे —१

श्रीभगवान् बोले—

हे अर्जुन ! श्रेष्ठ पुरुषोके अयोग्य, स्वर्ग से विमुख रखनेवाला और अपयश देनेवाला यह मोह तुझे ऐसी विषम घड़ी मे कहासे हो गया ? २

हे पार्थ ! तू नामर्द मत बन। यह तुझे शोभा नही देता। हृदयकी पामर निर्बलताका त्याग करके हे परतप ! तू उठ। ३

अर्जुन बोले—

हे मधुसूदन ! भीष्मको और द्रोणको रणभूमिमे बाणोसे मैं कैसे मारूं ? हे अरिसूदन ! ये तो

पूजनीय है। ४

महानुभाव गुरुजनोको मारने के वदले इस लोकमें भिक्षान्न खाना भी अच्छा है, क्योकि गुरुजनोको मारकर तो मुझे रक्तसे सने हुए अर्थ और कामरूप भोग ही भोगने ठहरे। ५

मैं नही जानता कि दोनोमे क्या अच्छा है, हम जीते यह, या वे हमे जीते यह ? जिन्हे मारकर मैं जीना नही चाहता वे धृतराष्ट्रके पुत्र यहा सामने खड़े है। ६

कायरतासे मेरी (जातीय) वृत्ति मारी गई है। मै कर्त्तव्य-विमूढ हो गया हू। इसलिए जिसमे मेरा हित हो, वह मुझसे निश्चयपूर्वक कहनेकी आपसे प्रार्थना करता हू। मैं आपका शिष्य हू। आपकी शरणमे आया हू। मुझे मार्ग वतलाइये। ७

इस लोकमे धनधान्यसंपन्न निष्कंटक राज्य मिले और इद्रासन मिले तो उसमे भी इंद्रियोको चूस लेनेवाले मेरे शोकको दूर कर सकने-जैसा मैं कुछ नही देखता। ८

संजय ने कहा—

हे राजन्! गुडाकेश अर्जुन हृषीकेश गोविंदसे ऐसा कहकर, 'नही लड़ूगा' कहते हुए चुप हो गये। ९

हे भारत! इन दोनो सेनाओके बीचमे उदास होकर वैठे हुए अर्जुनसे मुस्कराते हुए हृषीकेशने ये वचन कहे। १०

श्रीभगवान् वोले—

तू शोक न करने-योग्यका शोक करता है और

पडिताईके बोल बोलता है, परंतु पडित मृत और जीवितोका शोक नही करते। ११

क्योकि वास्तव में देखने पर, मैं, तू या ये राजा किसी कालमे नही थे अथवा भविष्यमे नही होगे, ऐसा कुछ नही है। १२

देहधारीको जैसे इस शरीरमे कौमार, यौवन और जराकी प्राप्ति होती है, वैसे ही अन्य देह भी मिलती है। उसमे बुद्धिमान पुरुषको मोह नही होता। १३

हे कौन्तेय! इद्रियोके स्पर्श सरदी, गरमी, सुख और दु ख देनेवाले होते है। वे अनित्य होते है, आते है और जाते हैं। उन्हे तू सह। १४

हे पुरुषश्रेष्ठ! सुख-दु खमे सम रहनेवाले जिस बुद्धिमान पुरुषको ये विषय व्याकुल नही करते, वह मोक्षके योग्य बनता है। १५

असत् का अस्तित्व नही है और सत्का नाश नही है। इन दोनोका निर्णय ज्ञानियोने जाना है। १६

जिससे यह अखिल जगत व्याप्त है, उसे तू अविनाशी जान। इस अव्ययका नाश करनेमें कोई समर्थ नही है। १७

नित्य रहनेवाले, अपरिमित और अविनाशी देहीकी ये देहें नाशवान कही गई है, इसलिए हे भारत! तू युद्ध कर। १८

जो इसे मारने वाला मानता है और जो इसे मारा हुआ मानता है, वे दोनो कुछ जानते नही है। यह (आत्मा) न मारता है, न मारा जाता है। १९

यह कभी जन्मता नहीं है, मरता नहीं है। यह था और भविष्य में नहीं होगा, ऐसा भी नहीं है। इसलिए यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है, शरीरका नाश होनेसे इसका नाश नहीं होता। २०

हे पार्थ ! जो पुरुष आत्माको अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय मानता है वह किसे, कैसे मरवाता है या किसे मारता है? २१

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको छोड़कर नये धारण करता है वैसे देहधारी जीर्ण हुई देहको त्यागकर दूसरी नई देह पाता है। २२

इस (आत्मा) को शस्त्र छेदते नहीं, आग जलाती नहीं, पानी भिगोता नहीं, वायु सुखाता नहीं। २३

यह छेदा नहीं जा सकता है, जलाया नहीं जा सकता है, न भिगोया जा सकता है, न सुखाया जा सकता है। यह नित्य है, सर्वगत है, स्थिर है, अचल है और सनातन है। २४

फिर, यह इंद्रियों और मनके लिए अगम्य है, विकाररहित कहा गया है, इसलिए इसे वैसा जानकर तुझे शोक करना उचित नहीं है। २५

अथवा जो तू इसे नित्य जन्मने और मरनेवाला माने तो भी, हे महाबाहो ! तुझे शोक करना उचित नहीं है। २६

जन्मे हुएके लिए मृत्यु और मरे हुएके लिए जन्म अनिवार्य है। अतः जो अनिवार्य है उसका शोक करना उचित नहीं है। २७

हे भारत ! भूतमात्रकी जन्मके पहले की और मृत्युके पीछे की अवस्था देखी नही जा सकती; वह अव्यक्त है, बीचकी ही स्थिति व्यक्त होती है। इसमें चिन्ताका क्या कारण है? २८

टिप्पणी—भूत अर्थात् स्थावर-जगम सृष्टि।

कोई इसे आश्चर्य-समान देखता है दूसरा इसे आश्चर्यसमान वर्णन करता है और दूसरा इसे आश्चर्य-समान वर्णन किया हुआ सुनता है, परन्तु सुननेपर भी कोई इसे जानता नही है। २९

हे भारत ! सबकी देहमें विद्यमान यह देहधारी आत्मा नित्य अवध्य है, इसलिए भूतमात्रके विषयमें तुझे शोक करना उचित नही है। ३०

टिप्पणी—यहातक श्रीकृष्णने बुद्धिप्रयोगसे आत्मा-का नित्यत्व और देहका अनित्यत्व समझाकर बतलाया कि यदि किसी स्थिति मे देहका नाश करना उचित समझा जाय तो स्वजन-परिजनका भेद करके कौरव सगे है, इसलिए उन्हे कैसे मारा जाय, यह विचार मोहजन्य है। अब अर्जुनको बतलाते है कि क्षत्रिय धर्म क्या है।

स्वधर्मको समझकर भी तुझे हिचकिचाना उचित नही, क्योंकि धर्मयुद्धकी अपेक्षा क्षत्रियके लिए और कुछ अधिक श्रेयस्कर नही हो सकता ३१

हे पार्थ ! यो अपने-आप प्राप्त हुआ और मानो स्वर्गका द्वार ही खुल गया हो, ऐसा युद्ध तो भाग्यशाली क्षत्रियोंको ही मिलता है। ३२

यदि तू यह धर्मप्राप्त युद्ध नही करेगा तो स्वधर्म

और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा। ३३

सब लोग तेरी निंदा निरंतर किया करेंगे और सम्मानित पुरुषके लिए अपकीर्ति मरणसे भी बुरी है। ३४

जिन महारथियोंसे तूने मान पाया है, वे तुझे भयके कारण रणसे भागा मानेंगे और तुझे तुच्छ समझेंगे। ३५

और तेरे शत्रु तेरे बलकी निंदा करते हुए बहुतसी न कहनेयोग्य बातें कहेंगे। इससे अधिक दुःखदायी और क्या हो सकता है? ३६

यदि तू मारा जायगा तो तुझे स्वर्ग मिलेगा। यदि तू जीतेगा तो पृथ्वी भोगेगा। अतः हे कौन्तेय! लड़नेका निश्चय करके तू खड़ा हो। ३७

टिप्पणी—इस प्रकार भगवानने आत्माका नित्यत्व और देहका अनित्यत्व बतलाया। फिर यह भी बतलाया कि अनायासप्राप्त युद्ध करनेमें क्षत्रियको धर्मकी बाधा नहीं होती। इस प्रकार ३१वें श्लोकसे भगवानने परमार्थके साथ उपयोगका मेल मिलाया है। इतना कहकर फिर भगवान गीताके प्रधान उपदेशका दिग्दर्शन एक श्लोकमें कराते हैं।

सुख और दुःख, लाभ और हानि, जय और पराजयको समान समझकर युद्धके लिए तैयार हो। ऐसा करनेसे तुझे पाप नहीं लगेगा। ३८

मैंने तुझे सांख्यसिद्धांत (तर्कवाद) के अनुसार तेरा यह कर्त्तव्य बतलाया।

अब योगवादके अनुसार समझाता हू, सो सुन; इसका आश्रय लेनेसे तू कर्म-बंधनको तोड़ सकेगा। ३९

इसमे आरंभका नाश नही होता, उलटा नतीजा नही निकलता। इस धर्मका थोड़ा-सा पालन भी महा-भयसे बचा लेता है। ४०

हे कुरुनदन! योगवादीकी निश्चयात्मक बुद्धि एक-रूप होती है, परतु अनिश्चयवालोकी बुद्धियां अनेक शाखाओंवाली और अनत होती है। ४१

टिप्पणी—जब बुद्धि एकसे मिटकर अनेक (बुद्धियां) होती है, तब वह बुद्धि न रहकर वासनाका रूप धारण करती है। इसलिए बुद्धियोसे तात्पर्य है वासनाए।

अज्ञानी वेदवादी, 'इसके सिवा और कुछ नही है' यह कहनेवाले, कामनावाले, स्वर्ग को श्रेष्ठ माननेवाले, जन्म-मरणरूपी कर्मके फल देनेवाली, भोग और ऐश्वर्य-प्राप्तिके लिए किये जानेवाले कर्मोके वर्णनसे भरी हुई बाते बढ़ा-बढ़ाकर कहते हैं। भोग और ऐश्वर्यमे आसक्त रहनेवाले इन लोगोंकी वह बुद्धि मारी जाती है। इनकी बुद्धि न तो निश्चयवाली होती है और न वह समाधिमें ही स्थिर हो सकती है। ४२-४३-४४

टिप्पणी—योगवादके विरुद्ध कर्मकांड अथवा वेद-वादका वर्णन उपर्युक्त तीन श्लोकोमे आया है। कर्मकांड या वेदवादका मतलब फल उपजानेके लिए मंथन करने-वाली अगणित क्रियाए। ये क्रियाए वेदके रहस्यसे अलग और अल्प फलवाली होनेके कारण निरर्थक है।

हे अर्जुन! जो तीन गुण वेदके विषय है, उनसे

तू अलिप्त रह। सुख-दुःखादि द्वंद्वोंसे मुक्त हो। नित्य सत्य वस्तुमें स्थित रह। किसी वस्तुको पाने और संभालनेके झंझटसे मुक्त रह। आत्मपरायण हो। ४५

जैसे जो काम कुएसे निकलते हैं वे सब, सब प्रकारसे सरोवरसे निकलते हैं, वैसे जो सब वेदोंमें है वह ज्ञानवान् ब्रह्मपरायणको आत्मानुभवमेंसे मिल रहता है। ४६

कर्ममें ही तुझे अधिकार है, उससे उत्पन्न होनेवाले अनेक फलोंमें कदापि नहीं। कर्मका फल तेरा हेतु न हो। कर्म न करनेका भी तुझे आग्रह न हो। ४७

हे धनंजय! आसक्ति त्यागकर योगस्थ रहते हुए अर्थात् सफलता-निष्फलतामें समान भाव रखकर तू कर्म कर। समताका ही नाम योग है। ४८

हे धनंजय! समत्वबुद्धिकी तुलनामें केवल कर्म बहुत तुच्छ है। तू समत्वबुद्धिका आश्रय ले। फलको हेतु बनानेवाले मनुष्य दयाके पात्र हैं। ४९

बुद्धियुक्त अर्थात् समतावाले पुरुषको यहां पाप-पुण्यका स्पर्श नहीं होता, इसलिए तू समत्वके लिए प्रयत्न कर। समता ही कार्यकुशलता है। ५०

क्योंकि समत्वबुद्धिवाले लोग कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फलका त्याग करके जन्मबंधनसे मुक्त हो जाते हैं और निष्कलंक गति—मोक्षपद—पाते हैं। ५१

जब तेरी बुद्धि मोहरूपी कीचड़से पार उतर जायगी तब तुझे सुने हुएके विषयमें और सुननेको जो बाकी होगा, उसके विषयमें उदासीनता प्राप्त होगी। ५२

अनेक प्रकार के सिद्धांतोंको सुननेसे व्यग्र हुई तेरी बुद्धि जब समाधि मे स्थिर होगी तभी तू समत्वको प्राप्त होगा। ५३

अर्जुन बोले—

हे केशव ! स्थितप्रज्ञ अथवा समाधिस्थके क्या लक्षण होते हैं ? स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता, बैठता और चलता है ? ५४

श्रीभगवान बोले—

हे पार्थ ! जब मनुष्य मनमे उठती हुई समस्त कामनाओंका त्याग करता है और आत्माद्वारा ही आत्मा-मे संतुष्ट रहता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। ५५

टिप्पणी—आत्मासे ही आत्मामे संतुष्ट रहना अर्थात् आत्माका आनंद अदरसे खोजना, सुख-दु.ख देने-वाली बाहरी चीजोपर आनदका आधार न रखना। आनंद सुखसे भिन्न वस्तु है, यह ध्यानमें रखना चाहिए। मुझे धन मिलनेपर मै उसमे सुख मानू, यह मोह है। मै भिखारी होऊ, भूखका दु ख होनेपर भी चोरी या दूसरे प्रलोभनोमें न पड़नेमे जो बात मौजूद है वह आनद देती है और वही आत्मसतोप है।

दु खसे जो दु खी न हो, सुखकी की इच्छा न रखे और जो राग, भय और क्रोधसे रहित हो, वह स्थिर-बुद्धि मुनि कहलाता है। ५६

सर्वत्र रागरहित होकर जो पुरुष शुभ या अशुभकी प्राप्तिमे न हर्षित होता है, न शोक करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है। ५७

कछुआ जैसे सब ओरसे अंग समेट लेता है वैसे जब यह पुरुष इंद्रियोको उनके विषयोमेसे समेट लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर हुई कही जाती है। ५८

देहधारी निराहारी रहता है तब उसके विषय मंद पड जाते है, परन्तु रस नही जाता ; वह रस तो ईश्वरका साक्षात्कार होनेसे निवृत्त होता है। ५९

टिप्पणी—यह श्लोक उपवास आदिका निषेध नही करता, वरन् उसकी सीमा सूचित करता है। विषयोको शांत करनेके लिए उपवासादि आवश्यक है, परंतु उनकी जड अर्थात् उनमे रहनेवाला रस तो ईश्वरकी झांकी होनेपर ही निवृत्त होता है। ईश्वर-साक्षात्कारका जिसे रस लग जाता है वह दूसरे रसोको भूल ही जाता है।

हे कौन्तेय ! चतुर पुरुपके उद्योग करते रहने पर भी इंद्रियां ऐसी प्रमथनशील है कि उसके मनको भी बलात्कार से हर लेती है। ६०

इन सब इंद्रियोंको वशमे रखकर योगी को मुझमें तन्मय हो रहना चाहिए; क्योकि अपनी इंद्रियां जिसके वशमे है, उसकी बुद्धि स्थिर है। ६१

टिप्पणी—तात्पर्य, भक्तिके विना—ईश्वरकी सहायताके विना—मनुष्यका प्रयत्न मिथ्या है।

विषयोंका चिंतन करनेवाले पुरुषको उनमे आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्तिमेसे कामना होती है और कामनामेसे क्रोध उत्पन्न होता है। ६२

टिप्पणी—कामनावालेके लिए क्रोध अनिवार्य है;

क्योंकि काम कभी तृप्त होता ही नही ।

क्रोधमेसे मूढता उत्पन्न होती है, मूढतासे स्मृति भ्रांत हो जाती है, स्मृति भ्रांत होनेसे ज्ञानका नाश हो जाता है और जिसका ज्ञान नष्ट होगया वह मृतक-तुल्य है । ६३

परतु जिसका मन अपने अधिकारमे है और जिसकी इद्रिया रागद्वेष-रहित होकर उसके वशमे रहती है, वह मनुष्य इद्रियोका व्यापार चलाते हुए भी चित्त की प्रसन्नता प्राप्त करता है । ६४

चित्तकी प्रसन्नतासे उसके सब दुःख दूर हो जाते है और प्रसन्नता प्राप्त हो जानेवालेकी बुद्धि तुरंत ही स्थिर हो जाती है । ६५

जिसे समत्व नही, उसे विवेक नही, उसे भक्ति नही और जिसे भक्ति नही उसे शाति नही है । और जहा शांति नहीं, वहां सुख कहासे हो सकता है ? ६६

विषयोमें भटकनेवाली इद्रियोके पीछे जिसका मन दौड़ता है उसका मन वायु जैसे नौकाको जलमे खीच ले जाता है वैसे ही उसकी बुद्धिको जहां चाहे खीच ले जाता है । ६७

इसलिए हे महाबाहो ! जिसकी इद्रियां चारों ओरके विषयोमेसे निकलकर उसके वशमें आ जाती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है । ६८

जब सब प्राणी सोते रहते है तब सयमी जागता रहता है । जब लोग जागते रहते है तब ज्ञानवान् मुनि सोता रहता है । ६९

टिप्पणी—भोगी मनुष्य रातके बारह-एक बजे तक नाच, रग, खानपान आदिमें अपना समय बिताते हैं और फिर सबेरे सात-आठ बजे तक सोते है। संयमी रातके सात-आठ बजे सोकर मध्यरात्रिमे उठकर ईश्वरका ध्यान करते हैं। इसके सिवा भोगी ससारका प्रपच बढाता है और ईश्वरको भूलता है, उधर संयमी सासारिक प्रपचोसे बेखबर रहता है और ईश्वरका साक्षात्कार करता है। इस प्रकार दोनोका पंथ न्यारा है। यह इस श्लोकमें भगवानने बतलाया है।

नदियोके प्रवेशसे भरता रहनेपर भी जैसे समुद्र अचल रहता है, वैसे ही जिस मनुष्यमे संसारके भोग शात हो जाते हैं, वही शांति प्राप्त करता है, न कि कामनावाला मनुष्य। ७०

सब कामनाओंका त्याग करके जो पुरुष इच्छा, ममता और अहकाररहित होकर विचरता है, वही शांति पाता है। ७१

हे पार्थ! ईश्वरको पहचाननेवालेकी स्थिति ऐसी होती है। उसे पानेपर फिर वह मोहके वश नही होता और यदि मृत्युकालमे भी ऐसी ही स्थिति टिके तो वह ब्रह्मनिर्वाण पाता है। ७२

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'सांख्ययोग' नामक दूसरा अध्याय।

: ३ :

कर्मयोग

यह अध्याय गीताका स्वरूप जाननेकी कुंजी कहा जा सकता है। इसमें कर्म कैसे करना, कौन कर्म करना और सच्चा कर्म किसे कहना चाहिए, यह साफ किया गया है और बतलाया है कि सच्चा ज्ञान पारमार्थिक कर्मों में परिणत होना ही चाहिए।

अर्जुन बोले—

हे जनार्दन! यदि आप कर्मकी अपेक्षा बुद्धिको अधिक श्रेष्ठ मानते हैं तो हे केशव! आप मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं? १

टिप्पणी—बुद्धि अर्थात् समत्वबुद्धि।

अपने मिले-जुले वचनोंसे मेरी बुद्धिको आप शंका-ग्रस्त-सी कर रहे हैं। अतः आप मुझे एक ही बात निश्चयपूर्वक कहिये कि जिससे मेरा कल्याण हो। २

टिप्पणी—अर्जुन उलझनमें पड़ जाता है, क्योंकि एक ओरसे भगवान उसे शिथिल हो जानेका उलाहना देते हैं और दूसरी ओरसे दूसरे अध्यायके ४९वें, ५०वें श्लोकोंमें कर्मत्यागका आभास मिलता है। गंभीरतासे विचारनेपर ऐसा नहीं है, यह भगवान आगे बतलायेंगे।

श्रीभगवान बोले—

हे पापरहित! इस लोकमें मैंने पहले दो अवस्थाएं बतलाई हैं: एक तो ज्ञानयोगद्वारा सांख्योंकी, दूसरी कर्मयोगद्वारा योगियोंकी। ३

कर्मका आरंभ न करनेसे मनुष्य निष्कर्मताका अनुभव नही करता है और न कर्मके केवल बाहरी त्यागसे मोक्ष पाता है। ४

टिप्पणी—निष्कर्मता अर्थात् मनसे, वाणीसे और शरीरसे कर्म न करनेका भाव। ऐसी निष्कर्मताका अनुभव कर्म न करनेसे कोई नहीं कर सकता। तब इसका अनुभव कैसे हो, सो अब देखना है।

वास्तवमें कोई एक क्षणभर भी कर्म किये विना नही रह सकता। प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुण परवश पड़े प्रत्येक मनुष्यसे कर्म कराते हैं। ५

जो मनुष्य कर्म करनेवाली इद्रियोको रोकता है, परतु उन-उन इंद्रियोके विषयोका चितन मनसे करता है, वह मूढ़ात्मा मिथ्याचारी कहलाता है।- ६

टिप्पणी—जैसे, जो वाणीको तो रोकता है; पर मनमे किसीको गाली देता है, वह निष्कर्म नही है; बल्कि मिथ्याचारी है। इसका यह तात्पर्य नही है कि जबतक मन न रोका जा सके तबतक शरीरको रोकना निरर्थक है। शरीरको रोके विना मनपर अंकुश आता ही नहीं। परंतु शरीरके अकुशके साथ-साथ मनपर अंकुश रखनेका प्रयत्न होना ही चाहिए। जो लोग भय या ऐसे बाहरी कारणोसे शरीरको रोकते हैं, परंतु मनको नहीं रोकते, इतना ही नहीं, बल्कि मनसे तो विषय भोगते हैं और मौका पानेपर शरीरसे भी भोगनेमें नही चूकते, ऐसे मिथ्याचारीकी यहां निंदा है। इसके आगेका श्लोक इससे उलटा भाव दरसाता है।

परंतु हे अर्जुन ! जो इंद्रियोको मनके द्वारा नियममें रखते हुए संगरहित होकर कर्म करनेवाली इंद्रियोंद्वारा कर्मयोगका आरंभ करता है वह श्रेष्ठ पुरुष है। ७

टिप्पणी—इसमे बाहर और भीतरका मेल साधा गया है। मनको अंकुशमे रखते हुए भी मनुष्य शरीर-द्वारा अर्थात् कर्मेन्द्रियोद्वारा कुछ-न-कुछ तो करेगा ही; परंतु जिसका मन अंकुशमे है उसके कान दूषित बातें नही सुनेंगे, वरन् ईश्वर-भजन सुनेंगे, सत्पुरुषोकी वाणी सुनेंगे। जिसका मन अपने वशमे है वह, जिसे हम लोग विषय मानते है, उसमे रस नही लेगा। ऐसा मनुष्य आत्माको शोभा देनेवाले कर्म ही करेगा। ऐसे कर्मोका करना कर्म-मार्ग है। जिसके द्वारा आत्माका शरीरके बंधनमें छूटनेका योग सधे उसका नाम कर्मयोग है। इसमे विषयासक्तिको स्थान हो ही नही सकता।

इसलिए तू नियत कर्म कर। कर्म न करनेसे कर्म करना अधिक अच्छा है। तेरे शरीरका व्यापार भी कर्म बिना नही चल सकता। ८

टिप्पणी—'नियत' शब्द मूल श्लोकमे है। उसका संबंध पिछले श्लोकसे है। उसमे मनद्वारा इंद्रियोको नियममे रखते हुए संगरहित होकर कर्म करनेवालेकी स्तुति है। अत यहा नियत कर्मका अर्थात् इंद्रियोको नियममे रखकर किये जानेवाले कर्मका अनुरोध किया गया है।

यज्ञार्थ किये जानेवाले कर्मके अतिरिक्त कर्मसे इस लोकमें बंधन पैदा होता है। इसलिए हे कौंतेय ! तू

रागरहित होकर यज्ञार्थ कर्म कर। ६

टिप्पणी—यज्ञ अर्थात् परोपकारार्थ, ईश्वरार्थ किये हुए कर्म।

यज्ञके सहित प्रजाको उत्पन्न करके प्रजापति ब्रह्माने कहा, "यज्ञद्वारा तुम्हारी वृद्धि हो। यह तुम्हें इच्छित फल दे। १०

"तुम यज्ञद्वारा देवताओंका पोषण करो और देवता तुम्हारा पोषण करें और एक-दूसरेका पोषण करके तुम परम कल्याणको पाओ। ११

"यज्ञद्वारा संतुष्ट हुए देवता तुम्हें इच्छित भोग देंगे। उनका बदला दिये बिना, उनका दिया हुआ जो भोगेगा वह अवश्य चोर है।" १२

टिप्पणी—यहां देवका अर्थ है भूतमात्र, ईश्वरकी सृष्टि। भूतमात्रकी सेवा देव-सेवा है और वह यज्ञ है।

जो यज्ञसे उबरा हुआ खानेवाले हैं, वे सब पापोंसे छूट जाते हैं। जो अपने लिए ही पकाते हैं, वे पाप खाते हैं। १३

अन्नमेंसे भूतमात्र उत्पन्न होते हैं। अन्न वर्षासे उत्पन्न होता है। वर्षा यज्ञसे होती है और यज्ञ कर्मसे होता है। १४

तू जान ले कि कर्म प्रकृतिसे उत्पन्न होता है, प्रकृति अक्षरब्रह्मसे उत्पन्न होती है और इसलिए सर्वव्यापक ब्रह्म सदा यज्ञमें विद्यमान है। १५

इस प्रकार प्रवर्तित चक्रका जो अनुसरण नहीं करता, वह मनुष्य अपना जीवन पापी बनाता है,

इद्रियसुखोंमे फसा रहता है और हे पार्थ ! वह व्यर्थ जीता है । १६

पर जो मनुष्य आत्मामें रमण करनेवाला है, जो उसीसे तृप्त रहता है और उसीमे सतोष मानता है, उसे कुछ करनेको नही रहता । १७

करने, न करनेमे उसका कुछ भी स्वार्थ नही है । भूतमात्रमे उसे कोई निजी स्वार्थ नही है । १८

इसलिए तू तो सगरहित रहकर निरतर कर्तव्य कर्म कर । असग रहकर ही कर्म करनेवाला पुरुष मोक्ष पाता है । १९

जनकादिकने कर्मसे ही परमसिद्धि प्राप्त की । लोकसग्रहकी दृष्टिसे भी तुझे कर्म करना उचित है । २०

जो-जो आचरण उत्तम पुरुष करते हैं, उसका अनुकरण दूसरे लोग करते है । वे जिसे प्रमाण बनाते है, उसका लोग अनुसरण करते है । २१

हे पार्थ ! मुझे तीनो लोकोमे कुछ भी करनेको नही है । पाने योग्य कोई वस्तु न पाई हो ऐसा नही है, तो भी मैं कर्ममे लगा रहता हू । २२

टिप्पणी—सूर्य, चद्र, पृथ्वी इत्यादिकी अविराम और अचूक गति ईश्वरके कर्म सूचित करती है। ये कर्म मानसिक नही, किंतु शारीरिक गिने जायगे । ईश्वर निराकार होते हुए भी शारीरिक कर्म करता है, यह कैसे कहा जा सकता है, इस शकाकी गुजाइश नही है, क्योकि वह अशारीरिक होनेपर भी शरीरोकी तरह आचरण करता हुआ दिखाई देता है। इसलिए

वह कर्म करते हुए भी अकर्मी है और अलिप्त है। मनुष्यो को समझना तो यह है कि जैसे ईश्वरकी प्रत्येक कृति यंत्रवत् काम करती है वैसे मनुष्यको भी बुद्धिपूर्वक, किन्तु यंत्रकी भांति ही नियमित काम करना उचित है। मनुष्यकी विशेषता यंत्रगतिका अनादर करके स्वेच्छाचारी हो जानेमे नही है, बल्कि ज्ञानपूर्वक उस गतिका अनुकरण करनेमे है। अलिप्त रहकर, असग रहकर, यंत्रकी तरह कार्य करनेसे उसे घिस्सा नही लगता। वह मरनेतक ताजा रहता है। देह अपने नियमके अनुसार समयपर नष्ट होती है, परन्तु उसमे रहनेवाला आत्मा जैसा था, वैसा ही बना रहता है।

यदि मैं कभी अंगडाई लेनेके लिए भी रुके बिना कर्ममे लगा न रहू, तो हे पार्थ ! लोग सब तरहसे मेरे बर्तावका अनुसरण करेंगे। २३

यदि मैं कर्म न करू तो ये लोक भ्रष्ट हो जायं; मैं अव्यवस्थाका कर्ता बनू और इन लोकोका नाश करु। २४

हे भारत ! जैसे अज्ञानी लोग आसक्त होकर कर्म करते हैं, वैसे ज्ञानीको आसक्तिरहित होकर लोक-कल्याणकी इच्छासे कर्म करना चाहिए। २५

कर्ममे आसक्त अज्ञानी मनुष्योकी बुद्धिको ज्ञानी डांवाडोल न करे, परतु समत्वपूर्वक अच्छे प्रकारसे कर्म करके उन्हे सब कर्मोमे लगावे। २६

सब कर्म प्रकृतिके गुणोद्वारा किये हुए होते है। अहकारसे मूढ बना हुआ मनुष्य 'मैं कर्ता हूं' यह

मानता है। २७

हे महाबाहो ! गुण और कर्मके विभागका रहस्य जाननेवाला पुरुष 'गुण गुणोमे बर्त रहे है' यह मानकर उनमें आसक्त नही होता। २८

टिप्पणी—जैसे श्वासोच्छ्वास आदि क्रियाए अपने-आप होती है, उनमे मनुष्य आसक्त नही होता और जब उन अगोंको व्याधि होती है तभी मनुष्यको उनकी चिन्ता करनी पडती है या उसे उन अगोके अस्तित्वका भान होता है, वैसे ही स्वाभाविक कर्म अपने-आप होते हों तो उनमे आसक्ति नही होती। जिसका स्वभाव उदार है वह स्वयं अपनी उदारताको जानता तक नही ; पर उससे दान किये बिना रहा ही नही जाता। ऐसी अनासक्ति अभ्यास और ईश्वरकृपासे ही प्राप्त होती है।

प्रकृतिके गुणोसे मोहे हुए मनुष्य, गुणोके कर्मोंमें आसक्त रहते है। ज्ञानियोको चाहिए कि वे इन अज्ञानी मदबुद्धि लोगोको अस्थिर न करे। २९

अध्यात्मवृत्ति रखकर, सब कर्म मुझे अर्पण करके, आसक्ति और ममत्वको छोड, रागरहित होकर तू युद्ध कर। ३०

टिप्पणी—जो देहमे विद्यमान आत्माको पहचानता और उसे परमात्माका अश जानता है वह सब परमात्माको ही अर्पण करेगा, वैसे ही, जैसे कि नौकर मालिकके नामपर काम करता है और सब कुछ उसीको अर्पण करता है।

श्रद्धा रखकर, द्वेष छोड़कर जो मनुष्य मेरे इस

मतके अनुसार चलते हैं, वे भी कर्मबंधनसे छूट जाते हैं। ३१

परन्तु जो मेरे इस अभिप्रायमें दोष निकालकर उसका अनुसरण नहीं करते, वे ज्ञानहीन मूर्ख हैं। उनका नाश हुआ समझ। ३२

ज्ञानी भी अपने स्वभावके अनुसार बरतते हैं, प्राणीमात्र अपने स्वभावका अनुसरण करते हैं, वहां बलात्कार क्या कर सकता है? ३३

टिप्पणी—यह श्लोक दूसरे अध्यायके ६१वें या ६८वें श्लोकका विरोधी नहीं है। इंद्रियोंका निग्रह करते-करते मनुष्यको मर मिटना है, लेकिन फिर भी सफलता न मिले तो निग्रह अर्थात् बलात्कार निरर्थक है। इसमें निग्रहकी निंदा नहीं की गई है, स्वभावका साम्राज्य दिखाया गया है। यह तो मेरा स्वभाव है, यह कहकर कोई खोटाई करने लगे तो वह इस श्लोकका अर्थ नहीं समझता। स्वभावका हमें पता नहीं चलता। जितनी आदतें हैं सब स्वभाव नहीं हैं। आत्माका स्वभाव ऊर्ध्वगमन है। अत. आत्मा जब नीचेकी ओर जाय तब उसका प्रतिकार करना कर्त्तव्य है। इसीसे नीचेका श्लोक स्पष्ट करता है।

अपने-अपने विषयोंके सम्बन्धमें इंद्रियोंको राग-द्वेष रहता ही है। मनुष्यको उनके वश न होना चाहिए, क्योंकि वे मनुष्यके मार्ग के बाधक हैं। ३४

टिप्पणी—कानका विषय है सुनना। जो भावे वह सुननेकी इच्छा राग है। जो न भावे, वह सुननेकी

अनिच्छा द्वेष है। 'यह तो स्वभाव है' कहकर राग-द्वेषके वश नही होना चाहिए, उनका मुकाबला करना चाहिए। आत्माका स्वभाव सुख-दुःखसे अछूते रहना है। उस स्वभावतक मनुष्यो को पहुचना है।

पराये धर्मके सुलभ होनेपर भी उससे अपना धर्म विगुण हो तो भी अधिक अच्छा है। स्वधर्ममे मृत्यु भली है। परधर्म भयावह है। ३५

टिप्पणी—समाजमे एकका धर्म झाड़ू देनेका होता है और दूसरेका धर्म हिसाब रखनेका होता है। हिसाब रखनेवाला भले ही श्रेष्ठ गिना जाय, परतु झाड़ू देनेवाला अपना धर्म त्याग दे तो वह भ्रष्ट हो जायगा और समाजको हानि पहुचेगी। ईश्वरके दरबारमे दोनोंकी सेवाका मूल्य उनकी निष्ठाके अनुसार कूता जायगा। पेशेकी कीमत वहां तो एक ही होती है। दोनो ईश्वरार्पण बुद्धिसे अपना कर्त्तव्य-पालन करे तो समानरूपसे मोक्षके अधिकारी बनते है।

अर्जुन बोले—

फिर यह पुरुष बलात्कारपूर्वक प्रेरित हुए की भाति, न चाहता हुआ भी, किसकी प्रेरणासे पाप करता है? ३६

श्रीभगवान बोले—

रजोगुणसे उत्पन्न होनेवाला यह (प्रेरक) काम है, क्रोध है, इसका पेट ही नही भरता। यह महापापी है। इसे इस लोकमें शत्रुरूप समझो। ३७

टिप्पणी—हमारा वास्तविक शत्रु अतरमें रहने-

वाला काम कहिये या क्रोध कहिये वही है।

जैसे धुएसे आग या मैलसे दर्पण अथवा झिल्लीसे गर्भ ढका रहता है, वैसे कामादिरूप शत्रुसे यह ज्ञान ढका रहता है। ३८

हे कौंतेय ! तृप्त न किया जा सकनेवाला यह कामरूप अग्नि नित्यका शत्रु है, उससे ज्ञानीका ज्ञान ढका हुआ है। ३९

इंद्रियां, मन और बुद्धि, इस शत्रुके निवास-स्थान है। इनके द्वारा ज्ञानको ढककर यह शत्रु देहधार को बेसुध कर देता है। ४०

टिप्पणी—इंद्रियोमे काम व्याप्त होनेपर मन मलिन होता है, उससे विवेकशक्ति मंद पड़ती है, उससे ज्ञानका नाश होता है (देखो अध्याय २, श्लोक ६२-६४)

हे भरतर्षभ ! इसलिए तू पहले तो इंद्रियोको नियममे रखकर ज्ञान और अनुभवका नाश करनेवाले इस पापीका त्याग अवश्य कर। ४१

इंद्रियां सूक्ष्म हैं, उनसे अधिक सूक्ष्म मन है, उससे अधिक सूक्ष्म बुद्धि है। जो बुद्धिसे भी अत्यंत सूक्ष्म है वह आत्मा है। ४२

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि यदि इंद्रियां वशमे रहे तो सूक्ष्म कामको जीतना सहज होजाय।

इस प्रकार बुद्धिसे परे आत्माको पहचानकर और आत्माद्वारा मनको वशमे करके हे महाबाहो ! कामरूप दुर्जय शत्रुका संहार कर। ४३

टिप्पणी—यदि मनुष्य शरीरस्थ आत्माको जान ले तो मन उसके वशमें रहेगा, इन्द्रियोंके वशमें नहीं रहेगा। और मन जीता जाय तो काम क्या कर सकता है ?

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्म-विद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'कर्मयोग' नामक तीसरा अध्याय।

: ४ :

ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

इस अध्यायमें तीसरेका विशेष विवेचन है और भिन्न-भिन्न प्रकारके कई यज्ञोंका वर्णन है।

श्रीभगवान बोले—

यह अविनाशी योग मैंने विवस्वान् (सूर्य) से कहा। उन्होंने मनुसे और मनुने इक्ष्वाकुसे कहा। १

इस प्रकार परंपरासे प्राप्त, राजर्षियोंका जाना हुआ यह योग दीर्घकालके बलसे नष्ट होगया। २

वही पुरातन योग मैंने आज तुझसे कहा है। कारण, तू मेरा भक्त है और यह योग उत्तम मर्मकी बात है। ३

अर्जुन बोले—

आपका जन्म तो अभी हुआ है, विवस्वान्का पहले

हो चुका है। तब मैं कैसे जानूं कि आपने वह (योग) पहले कहा था ? ४

श्रीभगवान बोले—

हे अर्जुन ! मेरे और तेरे जन्म तो बहुत हो चुके है। उन सबको मैं जानता हू, तू नही जानता। ५

मैं अजन्मा, अविनाशी और इसके सिवा भूतमात्र-का ईश्वर हू, तथापि अपने स्वभावको लेकर अपनी मायाके बलसे जन्म ग्रहण करता हू। ६

हे भारत ! जब-जब धर्म मंद पडता है, अधर्म जोर करता है, तब-तब मैं जन्म धारण करता हू। ७

साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंके विनाश तथा धर्मका पुनरुद्धार करनेके लिए युग-युगमें मैं जन्म लेता हू। ८

टिप्पणी—यहां श्रद्धालुको आश्वासन है और सत्य की—धर्मकी—अविचलताको प्रतिज्ञा है। इस संसार-मे उतार-चढ़ाव हुआ ही करता है, परतु अन्तमें धर्मकी ही जय होती है। संतोका नाश नही होता, क्योंकि सत्य-का नाश नही होता। दुष्टोंका नाश ही है, क्योंकि असत्य का अस्तित्व नही है। मनुष्यको चाहिए कि इसका खयाल रखकर अपने कर्तापनके अभिमानके कारण हिंसा न करे, दुराचार न करे। ईश्वरकी गहन माया अपना काम करती ही रहती है। यही अवतार या ईश्वरका जन्म है। वस्तुत. तो ईश्वरका जन्मना होता ही नही।

हे अर्जुन ! इस प्रकार जो मेरे दिव्य जन्म और कर्मका रहस्य जानता है वह शरीरका त्याग करके

पुनर्जन्म नहीं पाता, बल्कि मुझे पाता है। ९

टिप्पणी—क्योंकि जब मनुष्यका दृढ़ विश्वास हो जाता है कि ईश्वर सत्यकी ही जय कराता है तब वह सत्यको नही छोडता, धीरज रखता है, दुःख सहन करता है और ममतारहित रहनेके कारण जन्म-मरण के चक्करसे छूटकर ईश्वरका ही ध्यान धरते हुए उसीमें लय हो जाता है,

राग, भय और क्रोधसे रहित हुए, मेरा ही ध्यान धरते हुए, मेरा ही आश्रय लेनेवाले ज्ञानरूपी तपसे पवित्र हुए बहुतोने मेरे स्वरूपको पाया है। १०

जो जिस प्रकार मेरा आश्रय लेते है, उस प्रकार मैं उन्हे फल देता हू। चाहे जिस तरह भी हो, हे पार्थ! मनुष्य मेरे मार्गका अनुसरण करते है—मेरे शासनमे रहते है। ११

टिप्पणी—तात्पर्य, कोई ईश्वरीय नियमका उल्लंघन नही कर सकता। जैसा बोता है वैसा काटता है; जैसा करता है वैसा भरता है। ईश्वरीय कानूनमे—कर्मके नियममे अपवाद नही है। सबको समान अर्थात् अपनी योग्यताके अनुसार न्याय मिलता है।

कर्मकी सिद्धि चाहनेवाले इस लोकमे देवताओंको पूजते है। इससे उन्हे कर्मजनित फल तुरन्त मनुष्य-लोकमे ही मिल जाता है। १२

टिप्पणी—देवतासे मतलब स्वर्गमें रहनेवाले इन्द्र-वरुणादि व्यक्तियोसे नही है। देवताका अर्थ है ईश्वर-की अंशरूपी शक्ति। इस अर्थमें मनुष्य भी देवता

है। भाप, बिजली आदि महान् शक्तियां देवता हैं। उनकी आराधना करनेका फल तुरत और इस लोकमें मिलता हुआ हम देखते हैं। वह फल क्षणिक होता है। वह आत्माको ही संतोष नहीं देता तो मोक्ष तो दे ही कहांसे सकता है?

गुण और कर्मके विभागानुसार चार वर्ण मैंने उत्पन्न किये है, उनका कर्ता होनेपर भी मुझे तू अवि-नाशी अकर्ता जानना। १३

मुझे कर्म स्पर्श नहीं करते है। मुझे इनके फलकी लालसा नहीं है। इस प्रकार जो मुझे अच्छी तरह जानते है, वे कर्मके बंधनमे नहीं पड़ते। १४

टिप्पणी—क्योंकि मनुष्यके सामने, कर्म करते हुए अकर्मी रहनेका सर्वोत्तम दृष्टान्त है। और सबका कर्त्ता ईश्वर ही है, हम निमित्तमात्र ही है, तो फिर कर्त्तापनका अभिमान कैसे हो सकता है?

ऐसे जानकर पूर्वकालमे मुमुक्षु व्यक्तियोंने कर्म किये हैं। इससे तू भी पूर्वज जैसे सदासे करते आये हैं वैसे कर। १५

कर्म क्या है, अकर्म क्या है, इस विषयमे समझ-दारोंको भी मोह हुआ है। उस कर्मके विषयमे मैं तुझे यथार्थरूपसे बतलाऊंगा। उसे जानकर तू अशुभसे बचेगा। १६

कर्म, निषिद्धकर्म और अकर्मका भेद जानना चाहिए। कर्मकी गति गूढ है। १७

कर्ममें जो अकर्म देखता है और अकर्ममें जो कर्म

देखता है, वह लोगोमे बुद्धिमान गिना जाता है। वह योगी है और वह संपूर्ण कर्म करनेवाला है। १८

टिप्पणी—कर्म करते हुए भी जो कर्तापनका अभिमान नही रखता, उसका कर्म अकर्म है, और जो कर्मका बाहरसे त्याग करते हुए भी मनके महल बनाता ही रहता है, उसका अकर्म कर्म है। जिसे लकवा हो गया है वह जब इरादा करके—अभिमानपूर्वक—बेकार हुए अंगको हिलाता है, तब हिलता है। वह बीमार अंगको हिलानेरूपी क्रियाका कर्ता बना। आत्माका गुण अकर्ताका है। मोहग्रस्त होकर अपनेको कर्ता माननेवाले आत्माको मानो लकवा होगया है और वह अभिमानी होकर कर्म करता है। इसी भांति जो कर्मकी गतिको जानता है, वही बुद्धिमान योगी कर्त्तव्यपरायण गिना जाता है। 'मैं करता हूं' यह माननेवाला कर्म-विकर्मका भेद भूल जाता है और साधनके भले-बुरेका विचार नही करता। आत्माकी स्वाभाविक गति ऊर्ध्व है, इसलिए जब मनुष्य नीति-मार्गसे हटता है तब यह कहा जाना चाहिए कि उसमें अहंकार अवश्य है। अभिमानरहित पुरुषके कर्म स्वभावसे ही सात्त्विक होते है।

जिसके समस्त आरम्भ कामना और संकल्परहित है, उसके कर्म ज्ञानरूपी अग्निद्वारा भस्म होगये है; ऐसेको ज्ञानी लोग पंडित कहते है। १९

जिसने कर्मफलका त्याग किया है, जो सदा संतुष्ट रहता है, जिसे किसी आश्रयकी लालसा नही है, वह

कर्ममे अच्छी तरह लगे रहनेपर भी, कहा जा सकता है कि वह कुछ भी नही करता। २०

टिप्पणी—अर्थात् उसे कर्मका बंधन-भोगना नही पड़ता।

जो आशारहित है, जिसका मन अपने वशमें है जिसने सारा सग्रह छोड़ दिया है और जिसका शरीर ही भर कर्म करता है, वह करते हुए भी दोषी नही होता। २१

टिप्पणी—अभिमानपूर्वक किया हुआ कुल-कर्म चाहे जैसा सात्त्विक होनेपर भी बधन करनेवाला है। वह जब ईश्वरार्पण बुद्धिसे, बिना अभिमानके, होता है तब बधनरहित बनता है। जिसका 'मैं' शून्यताको प्राप्त होगया है, उसका शरीरभर ही कर्म करता है। सोते हुए मनुष्यका शरीरभर ही कर्म करता है, यह कहा जा सकता है। जो कैदी विवश होकर अनिच्छासे हल चलाता है, उसका शरीर ही काम करता है। जो अपनी इच्छासे ईश्वरका कैदी बना है, उसका भी शरीरभर ही काम करता है। खुद तो शून्य बन गया है, प्रेरक ईश्वर है।

जो यथालाभसे संतुष्ट रहता है, जो सुख-दुःखादि द्वद्वोसे मुक्त होगया है, जो द्वेषरहित होगया है, जो सफलता, निष्फलतामे तटस्थ है, वह कर्म करते हुए भी बंधनमे नही पड़ता है। २२

जो आसक्तिरहित है, जिसका चित्त ज्ञानमय है, जो मुक्त है और जो यज्ञार्थ ही कर्म करनेवाला है, उसके

सारे कर्म लय हो जाते है । २३

(यज्ञमें) अर्पण ब्रह्म है, हवनकी वस्तु—हवि ब्रह्म है, ब्रह्मरूपी अग्निमे हवन करनेवाला भी ब्रह्म है; इस प्रकार कर्मके साथ जिसने ब्रह्मका मेल साधा है वह ब्रह्मको ही पाता है। २४

इसके सिवा कितने ही योगी देवताओ का पूजन-रूपी यज्ञ करते है और कितने ही ब्रह्मरूप अग्निमे यज्ञ द्वारा यज्ञको ही होमतें है। २५

और कितने ही श्रवणादि इद्रियोका संयमरूप यज्ञ करते है और कुछ शब्दादि विषयोको इद्रियाग्निमें होमते है। २६

टिप्पणी—सुननेकी क्रिया इत्यादिका संयम करना एक बात है और इद्रियोको उपयोगमे लाते हुए उनके विषयो को प्रभुप्रीत्यर्थ काममे लाना दूसरी बात है, जैसे भजनादि सुनना। वस्तुतः तो दोनो एक है ।

और कितने ही समस्त इद्रियकर्मोको और प्राण-कर्मोको ज्ञानदीपकसे प्रचलित की हुई आत्मसयमरूपी योगाग्निमें होमते है । २७

टिप्पणी—अर्थात् परमात्मामें तन्मय हो जाते है ।

इस प्रकार कोई यज्ञार्थ द्रव्य देनेवाले होते हैं; कोई तप करनेवाले होते हैं। कितने ही अष्टांग योग साधनेवाले होते है । कितने ही स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञ करते है। ये सब कठिन व्रतधारी प्रयत्नशील याज्ञिक है। २८

कितने ही प्राणायाममे तत्पर रहनेवाले अपानको

प्राणवायुमे होमते है, प्राणको अपानमें होमते हैं, अथवा प्राण और अपान दोनोका अवरोध करते हैं। २९

टिप्पणी—ये तीन प्रकारके प्राणायाम हैं—रेचक, पूरक और कुंभक। संस्कृतमें प्राणवायुका अर्थ गुजराती-(और हिन्दी) की अपेक्षा उल्टा है। वहां प्राणवायु अंदरसे बाहर निकलनेवाली वायुको कहते हैं। हम बाहरसे जिसे अंदर खीचते हैं उसे प्राणवायु (आक्सीजन) कहते हैं।

इसके सिवा दूसरे, आहारका संयम करके प्राणोंको प्राणमें होमते हैं। यज्ञोद्वारा अपने पापोको क्षीण करनेवाले ये सब यज्ञके जाननेवाले हैं। ३०

हे कुरुसत्तम! यज्ञसे बचा हुआ अमृत खानेवाले लोग सनातन ब्रह्मको पाते हैं। यज्ञ न करनेवालेके लिए यह लोक नही है तो परलोक तो हो ही कहांसे सकता है? ३१

इस प्रकार वेदमें अनेक प्रकारके यज्ञोका वर्णन हुआ है। इन सबको कर्मसे उत्पन्न हुआ जान। इस प्रकार सबको जानकर तू मोक्ष पावेगा। ३२

टिप्पणी—यहां कर्मका व्यापक अर्थ है। अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आत्मिक। ऐसे कर्मके बिना यज्ञ नहीं हो सकता। यज्ञ बिना मोक्ष नही होता। इस प्रकार जानना और तदनुसार अचारण करना, इसका नाम यज्ञोंका जानना है। तात्पर्य यह कि मनुष्य अपने शरीर, बुद्धि और आत्माको प्रभुप्रीत्यर्थ—लोक-सेवार्थ काममे न लावे तो वह चोर ठहरता है और

मोक्षके योग्य नही बन सकता । केवल बुद्धिशक्तिको ही काममे लावे और शरीर तथा आत्माको चुरावे तो वह पूरा याज्ञिक नही है । इन शक्तियोको प्राप्त किये बिना उसका परोपकारार्थ उपयोग नही हो सकता । इसलिए आत्म-शुद्धिके बिना लोकसेवा असभव है । सेवकको शरीर, बुद्धि और आत्मा अर्थात् नीति, तीनोका समानरूपसे विकास करना कर्त्तव्य है

हे परतप ! द्रव्ययज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अधिक अच्छा है, क्योकि हे पार्थ ! कर्ममात्र ज्ञानमे ही पराकाष्ठाको पहुचते है । ३३

टिप्पणी—परोपकारवृत्तिसे दिया हुआ द्रव्य भी यदि ज्ञानपूर्वक न दिया गया हो तो बहुत बार हानि करता है, यह किसने अनुभव नही किया है ? अच्छी वृत्तिसे होनेवाले सब कर्म तभी शोभा देते है जब उनके साथ ज्ञानका मेल हो । इसलिए कर्ममात्रकी पूर्णाहुति तो ज्ञानमे ही है ।

इसे तू तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानियोकी सेवा करके और नम्रतापूर्वक विवेकसहित बारबार प्रश्न करके जानना । वे तेरी जिज्ञासा तृप्त करेंगे । ३४

टिप्पणी—ज्ञान प्राप्त करनेकी तीन शर्ते—प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा इस युगमे खूब ध्यानमें रखने योग्य है । प्रणिपात अर्थात् नम्रता, विवेक; परिप्रश्न अर्थात् बारबार पूछना ; सेवारहित नम्रता खुशामदमें शुमार हो सकती है । फिर, ज्ञान खोजके बिना संभव नही है, इसलिए जबतक समझमें न आवे तबतक

शिष्यका गुरुसे नम्रतापूर्वक प्रश्न पूछते रहना जिज्ञासा-की निशानी है। इसमे श्रद्धाकी आवश्यकता है। जिसपर श्रद्धा नही होती उसकी ओर हार्दिक नम्रता नही होती, उसकी सेवा तो हो ही कहासे सकती है?

यह ज्ञान पानेके बाद हे पाडव! तुझे फिर ऐसा मोह न होगा। इस ज्ञानके द्वारा तू भूतमात्रको आत्मा-मे और मुझमे देखेगा। ३५

टिप्पणी—'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का यही अर्थ है। जिसे आत्मदर्शन होगया है वह अपनी और दूसरेकी आत्मामें भेद नही देखता।

तू समस्त पापियोमे बडे-से-बड़ा पापी होनेपर भी ज्ञानरूपी नौकाद्वारा सब पापोंको पार कर जायगा। ३६

हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि इंधनको भस्म कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मोंको भस्म कर देता है। ३७

ज्ञानके समान इस संसारमें दूसरा कुछ पवित्र नही है। योगमे—समत्वमें पूर्णताप्राप्त मनुष्य समयपर अपने-आपमे उस ज्ञान को पाता है। ३८

श्रद्धावान् ईश्वरपरायण, जितेंद्रिय पुरुष ज्ञान पाता है। और ज्ञान पाकर तुरंत परमशांतिको पाता है। ३९

जो अज्ञानी और श्रद्धारहित होकर संशयवान है, उसका नाश होता है। संशयवानके लिए न तो यह लोक है, न परलोक। उसे कही सुख नही है। ४०

जिसने समत्वरूपी योगद्वारा कर्मोको अर्थात् कर्म-फलका त्याग किया है और ज्ञानद्वारा संशयको छिन्न

कर डाला है वैसे आत्मदर्शीको हे धनजय ! कर्म बधन-रूप नही होते । ४१

इसलिए हे भारत ! हृदयमे अज्ञानसे उत्पन्न हुए संशयको आत्मज्ञानरूपी तलवारसे नाश करके योग—समत्व—धारण करके खड़ा हो । ४२

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यातर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसवादका 'ज्ञानकर्म-संन्यासयोग' नामक चौथा अध्याय ।

: ५ :

कर्मसंन्यासयोग

इस अध्यायमे बतलाया गया है कि कर्मयोगके बिना कर्मसन्यास हो ही नही सकता और वस्तुत. दोनो एक ही है ।

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! कर्मोके त्यागकी और फिर कर्मोके योगकी आप स्तुति करते हैं । मुझे ठीक निश्चयपूर्वक कहिये कि इन दोनोमे श्रेयस्कर क्या है ? १

श्रीभगवान बोले—

कर्मोका त्याग और योग दोनो मोक्ष देनेवाले हैं । उनमे भी कर्मसन्यासमे कर्मयोग बढकर है । २

जो मनुष्य द्वेष नही करता और इच्छा नही करता, उसे नित्य सन्यासी जानना चाहिए । जो सुख-दु खादि

द्वंद्वसे मुक्त है, वह सहजमें बंधनोंसे छूट जाता है। ३

टिप्पणी—तात्पर्य, कर्मका त्याग संन्यासका खास लक्षण नहीं है, बल्कि द्वंद्वातीत होना ही है—एक मनुष्य कर्म करता हुआ भी संन्यासी हो सकता है। दूसरा, कर्म न करते हुए भी मिथ्याचारी हो सकता है। (देखो अध्याय ३ श्लोक ६)

सांख्य और योग—ज्ञान और कर्म—ये दो भिन्न हैं, ऐसा अज्ञानी कहते हैं, पंडित नहीं कहते। एकमें अच्छी तरह स्थिर रहनेवाला भी दोनोंका फल पाता है। ४

टिप्पणी—ज्ञानयोगी लोकसंग्रहरूपी कर्मयोगका विशेष फल संकल्पमात्रसे प्राप्त करता है। कर्मयोगी अपनी अनासक्तिके कारण बाह्य कर्म करते हुए भी ज्ञानयोगीकी शांतिका अधिकारी अनायास बनता है।

जो स्थान सांख्यमार्गी पाता है वही योगी भी पाता है। जो सांख्य और योगको एक रूप देखता है वही सच्चा देखनेवाला है। ५

हे महाबाहो! कर्मयोगके बिना कर्मत्याग कष्ट-साध्य है. परन्तु समभाववाला मुनि शीघ्र मोक्ष पाता है। ६

जिसने योग साधा है, जिसने हृदयको विशुद्ध किया है, जिसने मन और इंद्रियोंको जीता है और जो भूतमात्र को अपने जैसा ही समझता है, ऐसा मनुष्य कर्म करते हुए भी उनसे अलिप्त रहता है। ७

देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते, खाते, चलते,

सोते, सांस लेते, बोलते, छोडते, लेते, आंख खोलते, मूदते केवल इद्रिया ही अपना काम करती है, ऐसी भावना रखकर तत्त्वज्ञ योगी यह समझे कि 'मैं कुछ भी नही करता हू।' ८-९

टिप्पणी—जबतक अभिमान है तबतक ऐसी अलिप्त स्थिति नही आती। अतः विषयासक्त मनुष्य यह कहकर छूट नही सकता कि 'विषयोंको मै नही भोगता, इद्रियां अपना काम करती है।' ऐसा अनर्थ करनेवाला न गीताको समझता है और न धर्मको जानता है। यह बात नीचेका श्लोक स्पष्ट करता है।

जो मनुष्य कर्मोको ब्रह्मार्पण करके आसक्ति छोडकर आचरण करता है वह पापसे उसी तरह अलिप्त रहता है जैसे पानीमे रहनेवाला कमल अलिप्त रहता है। १०

शरीरसे, मनसे, बुद्धिसे या केवल इद्रियोसे भी योगीजन आसक्तिरहित होकर आत्मशुद्धिके लिए कर्म करते हैं। ११

समतावान कर्मफलका त्याग करके परमशांति पाता है। अस्थिरचित कामनायुक्त होनेके कारण फलमे फसकर बंधनमे रहता है। १२

संयमी पुरुष मनसे सब कर्मोका त्याग करके नव-द्वारवाले नगररूपी शरीरमे रहते हुए भी, कुछ न करता, न कराता हुआ सुखसे रहता है। १३

टिप्पणी—दो नाक, दो कान, दो आंखे, मल-त्यागके दो स्थान और मुख, शरीरके ये नौ मुख्य द्वार

हैं। वैसे तो त्वचाके असंख्य छिद्रमात्र दरवाजे ही हैं। इन दरवाजोंका चौकीदार यदि इनमें आने-जानेवाले अधिकारियोंको ही आने-जाने देकर अपना धर्म पालता है तो उसके लिए कहा जा सकता है कि वह, यह आवा-जाही होते रहनेपर भी, उसका हिस्सेदार नही बल्कि केवल साक्षी है; इससे वह न करता है, न कराता है।

जगतका प्रभु न कर्तापनको रचता है, न कर्म रचता है, न कर्म और फलका मेल साधता है। प्रकृति ही सब करती है। १४

टिप्पणी—ईश्वर कर्ता नही है। कर्मका नियम अटल और अनिवार्य है। और जो जैसा करता है उसको वैसा भरना ही पडता है। इसीमे ईश्वरकी महान् दया और उसका न्याय विद्यमान है। शुद्ध न्यायमे शुद्ध दया है। न्यायकी विरोधी दया, दया नहीं है, बल्कि क्रूरता है। पर मनुष्य त्रिकालदर्शी नही है। अत. उसके लिए तो दया—क्षमा—ही न्याय है। वह स्वयं निरंतर न्यायका पात्र बना हुआ क्षमाका याचक है। वह दूसरेका न्याय क्षमासे ही चुका सकता है। क्षमाके गुणका विकास करनेपर ही अंतमे अकर्ता—योगी—समतावान—कर्ममें कुशल बनता है।

ईश्वर किसीके पाप या पुण्यको नहीं ओढ़ता। अज्ञानद्वारा ज्ञानके ढक जानेसे लोग मोहमे फसते हैं। १५

टिप्पणी—अज्ञानसे, 'मै करता हू' इस वृत्तिसे

मनुष्य कर्मबंधन बांधते हुए भी भले-बुरे फलका आरोप ईश्वरपर करता है, यह मोहजाल है।

परंतु जिनके अज्ञानका आत्मज्ञानद्वारा नाश हो गया है, उनका वह सूर्यके समान, प्रकाशमय ज्ञान परमतत्त्वका दर्शन कराता है। १६

ज्ञानद्वारा जिनके पाप धुल गये है, वे ईश्वरका ध्यान धरनेवाले, तन्मय हुए, उसमे स्थिर रहनेवाले, उसीको सर्वस्व माननेवाले लोग मोक्ष पाते है। १७

विद्वान् और विनयवान् ब्राह्मणमे, गायमें, हाथीमें, कुत्तेमें और कुत्तेको खानेवाले मनुष्यमें ज्ञानी समदृष्टि रखते हैं। १८

टिप्पणी—तात्पर्य, सबकी, उनकी आवश्यकतानुसार सेवा करते है। ब्राह्मण और चांडालके प्रति समभाव रखनेका अर्थ यह है कि ब्राह्मणको साप काटनेपर उसके घावको जैसे ज्ञानी प्रेमभावसे चूसकर उसका विष दूर करनेका प्रयत्न करेगा; वैसा ही बर्ताव चांडालको भी सांप काटनेपर करेगा।

जिनका मन समत्वमें स्थिर होगया है उन्होंने इस देहमे रहते ही संसारको जीत लिया है। ब्रह्म निष्कलंक और समभावी है, इसलिए वे ब्रह्ममे ही स्थिर होते हैं। १९

टिप्पणी—मनुष्य जैसा और जिसका चिंतन करता है वैसा हो जाता है। इसलिए समत्वका चिंतन करके, दोषरहित होकर, समत्वके मूर्तिरूप निर्दोष ब्रह्मको

पाता है।

जिसकी बुद्धि स्थिर हुई है, जिसका मोह नष्ट हो-गया है, जो ब्रह्मको जानता है और ब्रह्मपरायण रहता है, वह प्रियको पाकर सुख नही मानता और अप्रियको पाकर दु खका अनुभव नही करता। २०

बाह्य विषयोमे आसक्ति न रखनेवाला पुरुष अपने अत करणमे जो आनद भोगता है वह अक्षय आनद पूर्वोक्त ब्रह्मपरायण पुरुष अनुभव करता है। २१

टिप्पणी—अतर्मुख होनेवाला ही ईश्वरका साक्षात्कार कर सकता है और वही परम आनंद पाता है। विषयोसे निवृत्त रहकर कर्म करना और ब्रह्मसमाधिमें रमण करना ये दो भिन्न वस्तुएं नही हैं, वरन् एक ही वस्तुको देखनेकी दो दृष्टियां है—एक ही सिक्केकी दो पोठें हैं।

विषयजनित भोग अवश्य दु खोके कारण हैं। हे कौतेय ! वे आदि और अंतवाले हैं। बुद्धिमान् मनुष्य उनमें नही फसता। २२

देहातके पहले जिस मनुष्यने इस देहसे ही काम और क्रोधके वेगको सहन करनेकी शक्ति प्राप्त की है उस मनुष्यने समत्वको पाया है, वह सुखी है। २३

टिप्पणी—मरे हुए शरीरको जैसे इच्छा या द्वेष नही होता, सुख-दु ख नही होता, वैसे जो जीवित रहते भी मृतसमान, जड़भरतकी भांति देहातीत रह सकता है वह इस संसारमे विजयी हुआ है और वह वास्तविक सुखको जानता है।

जिसे आंतरिक आनंद है, जिसके हृदयमें शांति है, जिसे निश्चितरूपसे अंतर्ज्ञान हुआ है वह ब्रह्मरूप हुआ योगी ब्रह्मनिर्वाण पाता है। २४

जिनके पाप नष्ट होगये है, जिनकी शकाएं शांत होगई है, जिन्होंने मनपर अधिकार कर लिया है और जो प्राणीमात्रके हितमे ही लगे रहते है, ऐसे ऋषि ब्रह्म-निर्वाण पाते हैं। २५

जो अपनेको पहचानते है, जिन्होने काम-क्रोधको जीता है और जिन्होने मनको वश किया है, ऐसे यतियो-को सर्वत्र ब्रह्मनिर्वाण ही है। २६

बाह्य विषयभोगोका बहिष्कार करके, दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थिर करके, नासिकाद्वारा आने-जाने-वाले प्राण और अपान वायुकी गतिको एक समान रखकर, इद्रिय, मन और बुद्धिको वशमें करके तथा इच्छा, भय और क्रोधसे रहित होकर जो मुनि मोक्ष-परायण रहता है, वह सदा मुक्त ही है। २७-२८

टिप्पणी—प्राणवायु अंदरसे बाहर निकलनेवाली और अपान बाहरसे अंदर जानेवाली वायु है। इन श्लोकोमे प्राणायामादि यौगिक क्रियाओका समर्थन है। प्राणायामादि तो बाह्य क्रियाएं है और उनका प्रभाव शरीरको स्वस्थ रखने और परमात्माके रहने-योग्य मदिर बनानेतक ही परिमित है। भोगीका साधारण व्यायामादिसे जो काम निकलता है, वही योगीका प्राणायामादिसे निकलता है। भोगीके व्याया-मादि उसकी इद्रियोको उत्तेजित करनेमें सहायता

पहुचाते है। प्राणायामादि योगीके शरीरको निरोगी और कठिन बनानेपर भी, इंद्रियोको शांत रखनेमें सहायता करते हैं। आजकल प्राणायामादिकी विधि बहुत ही कम लोग जानते हैं और उनमे भी बहुत थोड़े उसका सदुपयोग करते है। जिसने इंद्रिय, मन और बुद्धिपर अधिक नहीं तो प्राथमिक विजय प्राप्त की है, जिसे मोक्षकी उत्कट अभिलाषा है, जिसने राग-द्वेषादिको जीतकर भयको छोड़ दिया है, उसे प्राणायामादि उपयोगी और सहायक होते है। अंत शौच-रहित प्राणायामादि बंधनका एक साधन बनकर मनुष्यको मोहकूपमें अधिक नीचे ले जा सकते है—ले जाते हैं, ऐसा बहुतोका अनुभव है। इससे योगींद्र पतंजलिने यम-नियमको प्रथम स्थान देकर उसके साधकके लिए ही मोक्षमार्गमें प्राणायामादिको सहायक माना है।

यम पांच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम पांच हैं—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान।

यज्ञ और तपके भोक्ता, सर्वलोकके महेश्वर और भूतमात्रके हित करनेवाले ऐसे मुझको जानकर (उक्त मुनि) शांति प्राप्त करता है २९

टिप्पणी—कोई यह न समझे कि इस अध्यायके चौदहवें, पंद्रहवे तथा ऐसे ही दूसरे श्लोकोका यह श्लोक विरोधी है। ईश्वर सर्वशक्तिमान होते हुए कर्ता-अकर्ता, भोक्ता-अभोक्ता जो कहो सो है और नहीं है। वह अवर्णनीय है। मनुष्यकी भाषासे वह अतीत है।

इससे उसमें परस्परविरोधी गुणों और शक्तियोंका भी आरोपण करके, मनुष्य उसकी झांकीकी आशा रखता है।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'कर्मसंन्यासयोग' नामक पांचवां अध्याय।

: ६ :

ध्यानयोग

इस अध्यायमें योगसाधनके—समत्व प्राप्त करनेके—कितने ही साधन बतलाये गए हैं।

श्रीभगवान बोले—

कर्मफलका आश्रय लिये बिना जो मनुष्य विहित कर्म करता है वह संन्यासी है, वह योगी है। जो अग्निका और समस्त क्रियाओंका त्याग करके बैठ जाता है वह नहीं। १

टिप्पणी—अग्निसे तात्पर्य है साधनमात्र। जब अग्निके द्वारा होम होते थे तब अग्निकी आवश्यकता थी। इस युगमें यदि चरखेको सेवाका साधन मानें तो उसका त्याग करनेसे संन्यासी नहीं हुआ जा सकता।

हे पांडव! जिसे संन्यास कहते हैं उसे तू योग जान। जिसने मनके संकल्पोंको त्यागा नहीं वह कभी

योगी नहीं हो सकता। २

योग साधनेवालेको कर्म साधन है, जिसने उसे साधा है उसे शांति साधन है। ३

टिप्पणी—जिसकी आत्मशुद्धि होगई है, जिसने समत्व सिद्ध कर लिया है, उसे आत्मदर्शन सहज है। इसका यह अर्थ नहीं है कि योगारूढको लोकसंग्रहके लिए भी कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। लोकसंग्रहके विना तो वह जी ही नहीं सकता। अतः सेवाकर्म करना भी उसके लिए सहज हो जाता है। वह दिखावेके लिए कुछ नहीं करता। (अध्याय ३, ४ अध्याय ५, २ से मिलाइये)

जब मनुष्य इंद्रियोंके विषयोंमें या कर्ममें आसक्त नहीं होता और सब संकल्प तज देता है तब वह योगारूढ़ कहलाता है। ४

आत्मासे मनुष्य आत्माका उद्धार करे, उसकी अधोगति न करे। आत्मा ही आत्माका बंधु है और आत्मा ही आत्माका शत्रु है। ५

उसीका आत्मा बंधु है जिसने अपने बलसे मनको जीता है। जिसने आत्माको जीता नहीं, वह अपने ही साथ शत्रुका-सा वर्ताव करता है। ६

जिसने अपना मन जीता है और जो संपूर्ण रूपसे शांत होगया है उसका आत्मा सरदी-गरमी, सुख-दुःख और मान-अपमानमें समान रहता है। ७

जो ज्ञान और अनुभवसे तृप्त होगया है, जो अविचल है, जिसने इंद्रियोंको जीत लिया है और जिसे

मिट्टी, पत्थर और सोना समान है, ऐसा ईश्वरपरायण मनुष्य योगी कहलाता है। ८

हितेच्छु, मित्र, शत्रु, निष्पक्षपाती, दोनोंका भला चाहनेवाला, द्वेषी, बधु और साधु तथा पापी इन सबमे जो समानभाव रखता है वह श्रेष्ठ है। ९

चित्त स्थिर करके, वासना और संग्रहका त्याग करके, अकेला एकातमे रहकर योगी निरतर आत्माको परमात्माके साथ जोड़े। १०

पवित्र स्थानमें, न बहुत नीचा, न बहुत ऊचा ऐसा कुश, मृगचर्म और वस्त्र एक-पर-एक बिछाकर स्थिर आसन अपने लिए करके, वहा एकाग्र मनसे बैठकर चित्त और इंन्द्रियोको वश करके आत्मशुद्धिके लिए योग साधे। ११-१२

धड, गर्दन और सिर एक सीधमे अचल रखकर, स्थिर रहकर, इधर-उधर न देखता हुआ, अपने नासिकाग्र पर निगाह टिकाकर पूर्ण शातिसे, निर्भय होकर, ब्रह्मचर्यमे दृढ रहकर, मनको मारकर मुझमे परायण हुआ योगी मेरा ध्यान धरता हुआ बैठे। १३-१४

टिप्पणी—नासिकाग्रसे मतलब है भृकुटीके बीचका भाग। (देखो अध्याय ५-२७।) ब्रह्मचारीव्रतका अर्थ केवल वीर्यसंग्रह ही नही है, बल्कि ब्रह्मको प्राप्त करनेके लिए आवश्यक अहिसादि सभी व्रत है।

इस प्रकार जिसका मन नियममे है ऐसा योगी आत्माको परमात्माके साथ जोड़ता है और मेरी प्राप्तिमें मिलनेवाली मोक्षरूपी परम शाति प्राप्त

करता है। १५

हे अर्जुन ! यह समत्वरूप योग न तो प्राप्त होता है ठूसकर खानेवाले को, न उपवासीको, वैसे ही, वह बहुत सोनेवाले या बहुत जागनेवालेको प्राप्त नही होता। १६

जो मनुष्य आहार-विहारमे, दूसरे कर्मोमे, सोने-जागनेमे परिमित रहता है, उसका योग दुःखभंजन हो जाता है। १७

भलीभाति नियमबद्ध मन जब आत्मामे स्थिर होता है और मनुष्य सारी कामनाओसे निस्पृह हो बैठता है तब वह योगी कहलाता है। १८

आत्माको परमात्माके साथ जोडनेका प्रयत्न करनेवाले स्थिरचित्त योगीकी स्थिति वायुरहित स्थानमे अचल रहनेवाले दीपककी-सी कही गई है। १९

योगके सेवनसे अकुशमे आया हुआ मन जहा शाति पाता है, आत्मासे ही आत्माको पहचानकर आत्मामे जहा मनुष्य सतोप पाता है और इंद्रियोसे परे और बुद्धिसे ग्रहण करनेयोग्य अनत सुखका जहा अनुभव होता है, जहा रहकर मनुष्य मूलवस्तुसे चलायमान नही होता और जिसे पानेपर दूसरे किसी लाभको वह उससे अधिक नही मानता और जिसमे स्थिर हुआ महादुःखसे भी डगमगाता नही, उस दुःखके प्रसगसे रहित स्थितिका नाम योगकी स्थिति समझना चाहिए। यह योग ऊबे बिना दृढतापूर्वक साधने योग्य है। २०-२३

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सारी कामनाओंका पूर्ण रूपसे त्याग करके, मनसे ही इंद्रियसमूहको सब ओरसे भलीभांति नियममें लाकर अचल बुद्धिसे योगी धीरे-धीरे शांत होता जाय और मनको आत्मामें पिरोकर, दूसरी किसी बातका विचार न करे। २४-२५

जहां-जहां चंचल और अस्थिर मन भागे, वहां-वहांसे (योगी) उसे नियममें लाकर अपने वशमें लावे। २६

जिसका मन भलीभांति शांत हुआ है, जिसके विकार शांत होगये हैं, ऐसा ब्रह्ममय हुआ निष्पाप योगी अवश्य उत्तम सुख प्राप्त करता है। २७

आत्माके साथ निरंतर अनुसंधान करते हुए पाप-रहित हुआ यह योगी सरलतासे ब्रह्मप्राप्तिरूप अनंत सुखका अनुभव करता है। २८

सर्वत्र समभाव रखनेवाला योगी अपनेको सब भूतोंमें और सब भूतोंको अपनेमें देखता है। २९

जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, वह मेरी दृष्टिसे ओझल नहीं होता और मैं उसकी दृष्टिसे ओझल नहीं होता। ३०

मुझमें लीन हुआ जो योगी भूतमात्रमें रहनेवाले मुझको भजता है, वह चाहे जिस तरह बर्तता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है। ३१

टिप्पणी—'आप' जबतक है तबतक तो परमात्मा 'पर' है, 'आप' मिट जानेपर—शून्य होनेपर ही

एक परमात्माको सर्वत्र देखता है। (अध्याय १३-२३ की टिप्पणी देखिये।)

हे अर्जुन ! जो मनुष्य अपने जैसा सबको देखता है और सुख हो या दुःख, दोनोको समान समझता है, वह योगी श्रेष्ठ गिना जाता है। ३२

अर्जुन बोले—

हे मधुसूदन ! यह (समत्वरूपी) योग जो आपने कहा, उसकी स्थिरता मैं चचलताके कारण नही देख पाता। ३३

क्योंकि हे कृष्ण ! मन चंचल ही है, मनुष्यको मथ डालता है और बड़ा बलवान है। जैसे वायुको दबाना बहुत कठिन है वैसे मनको वशमे करना भी मैं कठिन मानता हू। ३४

श्रीभगवान बोले—

हे महाबाहो ! सच है कि मन चचल होनेके कारण वशमें करना कठिन है। पर हे कौंतेय ! अभ्यास और वैराग्यसे वह वशमे किया जा सकता है। ३५

मेरा मत है कि जिसका मन अपने वशमे नही है, उसके लिए योग साधना बड़ा कठिन है, पर जिसका मन अपने वशमे है और जो यत्नवान है वह उपाय-द्वारा साध सकता है। ३६

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! जो श्रद्धावान तो है पर यत्नमे मंद होनेके कारण योगभ्रष्ट हो जाता है, वह सफलता न पानेपर,कौन-सी गति पाता है ? ३७

हे महाबाहो! योगसे भ्रष्ट हुआ, ब्रह्ममार्गमें भटका हुआ वह छिन्न-भिन्न बादलोकी भांति उभयभ्रष्ट होकर नष्ट तो नही हो जाता? ३८

हे कृष्ण! मेरा यह सशय दूर करनेमे आप समर्थ है। आपके सिवा दूसरा कोई इस सशयको दूर करनेवाला नही मिल सकता। ३९

श्रीभगवान बोले—

हे पार्थ! ऐसे मनुष्योका नाश न तो इस लोकमे होता है, न परलोकमे। हे तात! कल्याणमार्गमे जानेवालेकी कभी दुर्गति होती ही नही। ४०

पुण्यशाली लोगोको मिलनेवाले स्थानको पाकर और वहा बहुत समयतक रहकर योगभ्रष्ट मनुष्य पवित्र और साधनवालेके घर जन्म लेता है। ४१

या ज्ञानवान योगीके ही कुलमे वह जन्म लेता है। ससारमे ऐसा जन्म अवश्य बहुत दुर्लभ है। ४२

हे कुरुनदन! यहा उसे पूर्व जन्मके बुद्धिसस्कार मिलते है और वहासे वह मोक्षके लिए आगे बढता है। ४३

उसी पूर्वाभ्यासके कारण वह अवश्य योगकी ओर खिचता है। योगका जिज्ञासु तक सकाम वैदिक कर्म करनेवालेकी स्थितिको पार कर जाता है। ४४

लगनसे प्रयत्न करता हुआ योगी पापसे छूटकर अनेक जन्मोसे विशुद्ध होता हुआ परम गतिको पाता है। ४५

तपस्वीसे योगी अधिक है, ज्ञानीसे भी वह अधिक

माना जाता है, वैसे ही कर्मकाडीसे वह अधिक है, इसलिए हे अर्जुन ! तू योगी बन । ४६

टिप्पणी—यहा तपस्वीकी तपस्या फलेच्छायुक्त है । ज्ञानीसे मतलब अनुभवज्ञानीसे नही है ।

सारे योगियोमे भी उसे मैं सर्वश्रेष्ठ योगी मानता हू जो मुझमे मन पिरोकर मुझे श्रद्धापूर्वक भजता है । ४७

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यातर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'ध्यानयोग' नामक छठा अध्याय ।

: ७ :

ज्ञानविज्ञानयोग

इस अध्यायमे यह समझाना आरभ किया गया है कि ईश्वरतत्त्व और ईश्वरभक्ति क्या है ।

श्रीभगवान बोले—

हे पार्थ ! मेरेमे मन पिरोकर और मेरा आश्रय लेकर योग साधता हुआ तू निश्चयपूर्वक और सपूर्णरूपसे मुझे किस तरह पहचान सकता है सो सुन । १

अनुभवयुक्त यह ज्ञान मैं तुझे पूर्णरूपसे कहूगा । इसे जाननेके बाद इस लोकमे अधिक कुछ जाननेको

नही रह जाता। २

हजारो मनुष्योमेसे कोई ही सिद्धिके लिए प्रयत्न करता है। प्रयत्न करनेवाले सिद्धोमेसे भी कोई ही मुझे वास्तविक रूपसे पहचानता है। ३

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहभाव—यह आठ प्रकारकी मेरी प्रकृति है। ४

टिप्पणी—इन आठ तत्त्वोवाला स्वरूप क्षेत्र या क्षर पुरुष है। (देखो अध्याय १३, श्लोक ५, और अध्याय १५, श्लोक १६।)

यह अपरा प्रकृति हुई। इससे भी ऊची परा प्रकृति है, जो जीवरूप है। हे महाबाहो ! यह जगत उसके आधारपर निभ रहा है। ५

भूतमात्रकी उत्पत्तिका कारण तू इन दोनोको जान। समूचे जगतकी उत्पत्ति और लयका कारण मैं हू। ६

हे धनंजय ! मुझसे उच्च दूसरा कुछ नही है। जैसे धागेमे मनके पिरोये हुए रहते है वैसे यह सब मुझमे पिरोया हुआ हुआ है। ७

हे कौंतेय ! जलमे रस मैं हूं, सूर्य-चद्रमे तेज मै हू, सब वेदोमे ओंकार मैं हू, आकाशमे शब्द मै हू और पुरुषोका पराक्रम मैं हू। ८

पृथ्वीमे सुगध मैं हू, अग्निमे तेज मै हू, प्राणीमात्र-का जीवन मैं हू, तपस्वीका तप मै हू। ९

हे पार्थ ! समस्त जीवोका सनातन बीज मुझे जान। बुद्धिमानकी बुद्धि मै हू, तेजस्वीका तेज मैं हू। १०

बलवानका काम और रागरहित बल मैं हूं और हे भरतर्षभ ! प्राणियोंमें धर्मका अविरोधी काम मैं हूं। ११

जो-जो सात्विक, राजसी और तामसी भाव हैं, उन्हें मुझसे उत्पन्न हुआ जान। परतु मैं उनमें हूं ऐसा नहीं है, वे मुझमें हैं। १२

टिप्पणी—इन भावोंपर परमात्मा निर्भर नहीं है, बल्कि वे भाव उसपर निर्भर है। उसके आधारपर हैं, रहते है और उसके वशमे है।

इन त्रिगुणी भावोंसे सारा ससार मोहित हो रहा है और इसलिए उनसे उच्च और भिन्न ऐसे मुझको—अविनाशीको—वह नही पहचानता। १३

इस मेरी तीन गुणोवाली दैवी मायाका तरना कठिन है, पर जो मेरी ही शरण लेते है वे इस माया-को तर जाते है। १४

दुराचारी मूढ, अधम मनुष्य मेरी शरण नही आते। वे आसुरीभाववाले होते है और मायाद्वारा उनका ज्ञान हरा हुआ होता है। १५

हे अर्जुन ! चार प्रकारके सदाचारी मनुष्य मुझे भजते हैं—दुःखी, जिज्ञासु, कुछ प्राप्तिकी इच्छावाले और ज्ञानी। १६

उनमे जो नित्य समभावी एकको ही भजनेवाला है, वह ज्ञानी श्रेष्ठ है। मैं ज्ञानीको अत्यंत प्रिय हू और ज्ञानी मुझे प्रिय है। १७

ये सभी भक्त अच्छे हैं, पर ज्ञानी तो मेरा आत्मा

ही है, ऐसा मेरा मत है, क्योंकि मुझे पानेके सिवा दूसरी अधिक उत्तम गति है ही नही, यह जानता हुआ वह योगी मेरा ही आश्रय लेता है। १८

बहुत जन्मोके अतमे ज्ञानी मुझे पाता है। सब वासुदेवमय है, यो जाननेवाला महात्मा बहुत दुर्लभ है। १९

अनेक कामनाओसे जिन लोगोका ज्ञान हरा गया है वे अपनी प्रकृतिके अनुसार भिन्न-भिन्न विधिका आश्रय लेकर दूसरे देवताओकी शरण जाते है। २०

जो-जो मनुष्य जिस-जिस स्वरूपकी भक्ति श्रद्धापूर्वक करना चाहता है, उस-उस स्वरूपमे उसकी श्रद्धाको मैं दृढ करता हू। २१

श्रद्धापूर्वक उस-उस स्वरूपकी वह आराधना करता है और उसके द्वारा मेरी निर्मित की हुई और अपनी इच्छित कामनाए पूरी करता है। २२

उन अल्प बुद्धिवालोको जो फल मिलता है वह नाशवान होता है। देवताओको भजनेवाले देवताओको पाते है, मुझे भजनेवाले मुझे पाते है। २३

मेरे परम अविनाशी और अनुपम स्वरूपको न जाननेवाले बुद्धिहीन लोग इद्रियोसे अतीत मुझको इद्रियगम्य मानते है। २४

अपनी योगमायासे ढका हुआ मैं सबके लिए प्रकट नही हू। यह मूढ जगत मुझ अजन्मा और अव्ययको भलीभाति नही पहचानता। २५

टिप्पणी—इस दृश्य जगतको उत्पन्न करनेका सामर्थ्य होते हुए भी अलिप्त होनेके कारण परमात्माके

अदृश्य रहनेका जो भाव है वह उसकी योगमाया है।

हे अर्जुन! जो हो चुके हैं, जो हैं और होनेवाले सभी भूतोको मैं जानता हू, पर मुझे कोई नहीं जानता। २६

हे भारत! हे परतप! इच्छा और द्वेपसे उत्पन्न होनेवाले सुख-दु खादि द्वद्वके मोहसे प्राणीमात्र इस जगतमे मोहग्रस्त रहते है। २७

पर जिन सदाचारी लोगोके पापोका अंत हो चुका है और जो द्वद्वके मोहसे मुक्त होगये हैं वे अटल व्रतवाले मुझे भजते हैं। २८

जो मेरा आश्रय लेकर जरा और मरणसे मुक्त होनेका प्रयत्न करते हैं वे पूर्णब्रह्मको, अध्यात्मको और अखिल कर्मको जानते है। २९

अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञयुक्त मुझे जिन्होने पहचाना है वे समत्वको पाये हुए मुझे मृत्युके समय भी पहचानते है। ३०

टिप्पणी—अधिभूतादिका अर्थ आठवे अध्यायमें आता है। इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि इस संसारमें ईश्वरके सिवा और कुछ भी नही है और समस्त कर्मोका कर्त्ता-भोक्ता वह है, ऐसा समझकर जो मृत्युके समय शांत रहकर ईश्वरमे ही तन्मय रहता है तथा कोई वासना उस समय जिसे नही होती, उसने ईश्वरको पहचाना है और उसने मोक्ष पाई है।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्म-

विद्यातर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसवादका 'ज्ञान-विज्ञानयोग' नामक सातवा अध्याय ।

: ८ :

अक्षरब्रह्मयोग

इस अध्यायमे ईश्वरतत्त्वको विशेषरूपसे समझाया गया है ।

अर्जुन बोले—

हे पुरुषोत्तम ! इस ब्रह्मका क्या स्वरूप है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत किसे कहते है ? अधिदैव क्या कहलाता है ? १

हे मधुसूदन ! इस देहमे अधियज्ञ क्या है और किस प्रकार है ? और सयमी आपको मृत्युके समान किस तरह पहचान सकता है ? २

श्रीभगवान बोले—

जो सर्वोत्तम अविनाशी है वह ब्रह्म है, प्राणीमात्रमे अपनी सत्तासे जो रहता है वह अध्यात्म है और प्राणी-मात्रको उत्पन्न करनेवाला सृष्टिव्यापार कर्म कहलाता है । ३

अधिभूत मेरा नाशवान स्वरूप है । अधिदैव उसमे रहनेवाला मेरा जीवस्वरूप है और हे मनुष्य-श्रेष्ठ ! अधियज्ञ इस शरीरमे स्थित किंतु यज्ञद्वारा शुद्ध हुआ जीवस्वरूप है । ४

टिप्पणी—तात्पर्य, अव्यक्त ब्रह्मसे लेकर नाशवान दृश्य पदार्थमात्र परमात्मा ही है और सब उसीकी कृति है तब फिर मनुष्यप्राणी स्वय कर्त्तापनका अभिमान रखनेके बदले परमात्माका दास बनकर सब कुछ उसे समर्पण क्यो न करे ?

अतकालमे मुझे ही स्मरण करते-करते जो देहत्याग करता है वह मेरे स्वरूपको पाता है, इसमे कोई सदेह नहीं है। ५

अथवा तो हे कौंतेय ! नित्य जिस-जिस स्वरूपका ध्यान मनुष्य धरता है, उस-उस स्वरूपको अतकालमे भी स्मरण करता हुआ वह देह छोड़ता है और इससे वह उस-उस स्वरूपको पाता है। ६

इसलिए सदा मुझे स्मरण कर और जूझता रह; इस प्रकार मुझमे मन और बुद्धि रखनेसे अवश्य मुझे पावेगा। ७

हे पार्थ ! चित्तको अभ्याससे स्थिर करके और कही न भागने देकर जो एकाग्र होता है वह दिव्य परमपुरुष-को पाता है। ८

जो मनुष्य मृत्युकालमे अचल मनसे, भक्तिसे युक्त होकर और योगबलसे भृकुटीके बीचमे अच्छी तरह प्राणको स्थापित करके सर्वज्ञ, पुरातन, नियंता, सूक्ष्म-तम, सबके पालनहार, अचिंत्य, सूर्यके समान तेजस्वी, अज्ञानरूपी अंधकारसे परे स्वरूपका ठीक स्मरण करता है वह दिव्य परमपुरुषको पाता है। ९-१०

जिसे वेद जाननेवाले अक्षर नामसे वर्णन करते हैं,

जिसमे वीतराग मुनि प्रवेश करते है और जिसकी प्राप्तिकी इच्छासे लोग ब्रह्मचर्यका पालन करते है, उस पदका सक्षिप्त वर्णन मैं तुझसे करूगा। ११

इद्रियोके सब द्वारोको रोककर, मनको हृदयमे ठहराकर, मस्तकमे प्राणको धारण करके समाधिस्थ होकर ॐ ऐसे एकाक्षरी ब्रह्मका उच्चारण और मेरा चितन करता हुआ जो मनुष्य देह त्यागता है वह परमगतिको पाता है। १२-१३

हे पार्थ ! चित्तको अन्यत्र कही रखे बिना जो नित्य और निरंतर मेरा ही स्मरण करता है वह नित्ययुक्त योगी मुझे सहजमे पाता है। १४

मुझे पाकर परमगतिको पहुचे हुए महात्मा दु खके घर अशाश्वत पुनर्जन्मको नही पाते। १५

हे कौतेय ! ब्रह्मलोकसे लेकर सभी लोक फिर-फिर आनेवाले है, परतु मुझे पानेके बाद मनुष्यको फिर जन्म नही लेना होता। १६

हजार युगतकका ब्रह्माका एक दिन और हजार युगतककी ब्रह्माकी एक रात, जो जानते है वे रातदिनके जाननेवाले हैं। १७

टिप्पणी—तात्पर्य, हमारे चौबीस घटेके रात-दिन कालचक्रके अंदर एक क्षणसे भी सूक्ष्म है। उसकी कोई गिनती नही है। इसलिए उतने समयमे मिलनेवाले भोग आकाश-पुष्पवत् है, यो समझकर हमे उनकी ओरसे उदासीन रहना चाहिए और उतना ही समय हमारे पास है उसे भगवद्भक्तिमे, सेवामे, व्यतीतकर

सार्थक करना चाहिए और यदि तत्काल आत्मदर्शन न हो तो धीरज रखना चाहिए।

(ब्रह्माका) दिन आरम्भ होनेपर सब अव्यक्तमेंसे व्यक्त होते हैं और रात पड़नेपर उनका प्रलय होता है, अर्थात् अव्यक्तमें लय हो जाते हैं। १८

टिप्पणी—यह जानकर भी मनुष्यको समझना चाहिए कि उनके हाथमें बहुत थोड़ी सत्ता है। उत्पत्ति और नाशका जोड़ा साथ-साथ चलता ही रहता है।

हे पार्थ! यह प्राणियोंका समुदाय इस तरह पैदा हो-होकर, रात पड़नेपर बरबस लय होता है और दिन उगनेपर उत्पन्न होता है। १९

इस अव्यक्तसे परे दूसरा सनातन अव्यक्त भाव है। समस्त प्राणियोंका नाश होते हुए भी वह सनातन अव्यक्त भाव नष्ट नहीं होता। २०

जो अव्यक्त, अक्षर (अविनाशी) कहलाता है, उसीको परमगति कहते हैं। जिसे पानेके बाद लोगोंका पुनर्जन्म नहीं होता, वह मेरा परमधाम है। २१

हे पार्थ! इस उत्तम पुरुषके दर्शन अनन्य भक्तिसे होते हैं इसमें भूतमात्र स्थित हैं और यह सब उससे व्याप्त है। २२

जिस समय मरकर योगी मोक्ष पाते हैं और जिस समय मरकर उन्हें पुनर्जन्म प्राप्त होता है वह काल, हे भरतर्षभ! मैं तुझसे कहूंगा। २३

उत्तरायणके छः महीनोंमें, शुक्लपक्षमें, दिनको जिस समय अग्निकी ज्वाला उठ रही हो उस समय

जिसकी मृत्यु होती है वह ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्मको पाता है। २४

दक्षिणायनके छ महीनोमे, कृष्णपक्षमे, रात्रिमे, जिस समय धुआ फैला हुआ हो उस समय मरनेवाले चद्रलोकको पाकर पुनर्जन्म पाते है। २५

टिप्पणी—ऊपरके दो श्लोक मै पूरी तौरसे नही समभता। उनके शब्दार्थका गीताकी शिक्षाके साथ मेल नही बैठता। उस शिक्षाके अनुसार तो जो भक्तिमान है, जो सेवामार्गको सेता है, जिसे ज्ञान हो चुका है, वह चाहे जभी मरे, उसे मोक्ष ही है। उससे इन श्लोकोक शब्दार्थ विरोधी है। उसका भावार्थ यह अवश्य निकल सकता है कि जो यज्ञ करता है अर्थात् परोपकारमे ही जो जीवन बिताता है, जिसे ज्ञान हो चुका है, जो ब्रह्म विद् अर्थात् ज्ञानी है, मृत्युके समय भी यदि उसकी ऐसी स्थिति हो तो वह मोक्ष पाता है। इससे विपरीत जो यज्ञ नही करता, जिसे ज्ञान नही है, जो भक्ति नही जानता वह चद्रलोक अर्थात् क्षणिक लोकको पाकर फिर ससार-चक्रमे लौटता है। चद्रके निजी ज्योति नही है।

जगतमे ज्ञान और अज्ञानके ये दो परपरासे चलते आये मार्ग माने गये है। एक अर्थात् ज्ञानमार्गसे मनुष्य मोक्ष पाता है और दूसरे अर्थात् अज्ञानमार्गसे उसे पुनर्जन्म प्राप्त होता है। २६

हे पार्थ! इन दोनो मार्गोका जाननेवाला कोई भी योगी मोहमे नही पड़ता। इसलिए हे अर्जुन! तू सर्वदा योगयुक्त रहना। २७

लय पाते हैं और कल्पका आरंभ होनेपर मैं उन्हे फिर रचता हू। ७

अपनी मायाके आधारसे मैं इस प्रकृतिके प्रभावके अधीन रहनेवाले प्राणियोके सारे समुदायको वारवार उत्पन्न करता हू। ८

हे धनजय ! ये कर्म मुझे वधन नही करते, क्योकि मैं उनमे उदासीनके समान और आसक्तिरहित वर्तता हूं। ९

मेरे अधिकारके नीचे प्रकृति स्थावर और जगम जगतको उत्पन्न करती है और इस हेतु,हे कौंतेय ! जगत घटमाल (रहँट)की भाति घूमा करता है। १०

प्राणीमात्रका महेश्वररूप जो मैं हूं उसके भावको न जानकर मूर्ख लोग मुझ मनुष्य-तनधारीकी अवज्ञा करते हैं। ११

टिप्पणी—क्योकि जो लोग ईश्वरकी सत्ता नहीं मानते, वे शरीरस्थित अंतर्यामीको नही पहचानते और उसके अस्तित्वको न मानते हुए जड़वादी बने रहते हैं।

व्यर्थ आशावाले, व्यर्थ काम करनेवाले और व्यर्थ ज्ञानवाले मूढ़ लोग मोहमें डाल रखनेवाली राक्षसी या आसुरी प्रकृतिका आश्रय लेते है। १२

इससे विपरीत, हे पार्थ ! महात्मालोग दैवी प्रकृतिका आश्रय लेकर प्राणीमात्रके आदिकारण ऐसे अविनाशी मुझको जानकर एकनिष्ठासे भजते हैं। १३

दृढ़ निश्चयवाले, प्रयत्न करनेवाले वे निरंतर

मेरा कीर्तन करते है, मुझे भक्तिसे नमस्कार करते है और नित्य ध्यान धरते हुए मेरी उपासना करते है। १४

और दूसरे लोग अद्वैतरूपसे या द्वैतरूपसे अथवा बहुत रूपसे सब कही रहनेवाले मुझको ज्ञानद्वारा पूजते है। १५

यज्ञका सकल्प मै हू, यज्ञ मै हू, यज्ञद्वारा पितरोका आधार मैं हू, यज्ञकी वनस्पति मै हू, मत्र मैं हू, आहुति मैं हू, अग्नि मैं हू और हवन-द्रव्य मै हूं। १६

इस जगतका पिता मै, माता मैं, धारण करनेवाला मै, पितामह मै, जानने योग्य मैं, पवित्र ॐकार मै, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मै ही हू। १७

गति मै, पोषक मै, प्रभु मैं, साक्षी मैं, निवास मैं, आश्रय मैं, हितैषी मै, उत्पत्ति मै, नाश मै, स्थिति मै, भडार मैं और अव्यय बीज भी मै हू। १८

धूप मै देता हू, वर्षाको मैं ही रोक रखता और बरसने देता हू। अमरता मै हू, मृत्यु मैं हू और हे अर्जुन! सत् तथा असत् भी मैं ही हू। १९

तीन वेदके कर्म करनेवाले सोमरस पीकर निष्पाप बने हुए यज्ञद्वारा मुझे पूजकर स्वर्ग मागते हैं। वे पवित्र देवलोक पाकर स्वर्ग मे दिव्य भोग भोगते है। २०

टिप्पणी—सभी वैदिक क्रियाए फल-प्राप्तिके लिए की जाती थी और उनमेसे कई क्रियाओमे सोमपान होता था, उसका यहा उल्लेख है। ये क्रियाए क्या थी, सोमरस क्या था, यह आज वास्तवमे कोई नही कह सकता।

इस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर वे पुण्यका क्षय हो जानेपर मृत्युलोकमे वापस आते हैं। इस प्रकार तीन वेदके कर्म करनेवाले फलकी इच्छा रखनेवाले जन्ममरणके चक्कर काटा करते है। २१

जो लोग अनन्यभावसे मेरा चितन करते हुए मुझे भजते है, उन नित्य मुझमे ही रत रहनेवालोके योग-क्षेमका भार मैं उठाता हूं। २२

टिप्पणी—इस प्रकार योगीको पहचाननेके तीन सुदर लक्षण है—समत्व, कर्ममे कौशल, अनन्यभक्ति। ये तीनो एक-दूसरेमे ओतप्रोत होने चाहिए। भक्तिके विना समत्व नही मिलता, समत्वके बिना भक्ति नही मिलती और कर्म-कौशलके विना भक्ति तथा समत्वका आभासमात्र होनेका भय है। योग अर्थात् अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करना और क्षेम अर्थात् प्राप्त वस्तुको सभालकर रखना।

और हे कौतेय! जो श्रद्धापूर्वक दूसरे देवताको भजते है, वे भी भले ही विधिरहित भजे, मुझे ही भजते है। २३

टिप्पणी—विधिरहित अर्थात् अज्ञानवश, मुझे एक निरजन निराकारको न जानकर।

जो मैं ही सब यज्ञोका भोगनेवाला स्वामी हू, उसे वे सच्चे स्वरूपमे नही पहचानते, इसलिए वे गिरते है। २४

देवताओका पूजन करनेवाले देवलोकोको पाते हैं, पितरोका पूजन करनेवाले पितृलोकको पाते है, भूत-

प्रेतादिको पूजनेवाले उन लोकोको पाते है और मुझे भजनेवाले मुझे पाते है। २५

पत्र, फूल, फल या जल जो मुझे भक्तिपूर्वक अर्पण करता है वह प्रयत्नशील मनुष्यद्वारा भक्तिपूर्वक अर्पित किया हुआ मै सेवन करता हू । २६

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि ईश्वरप्रीत्यर्थ जो कुछ सेवाभावसे दिया जाता है, उसका स्वीकार उस प्राणीमे रहनेवाले अतर्यामीरूपसे भगवान ही ग्रहण करते है ,

इसलिए हे कौतेय ! जो करे, जो खाय, जो हवनमे होमे, जो तू दानमे दे, जो तप करे. वह सब मुझे अर्पण करके करना । २७

इससे तू शुभाशुभ फल देनेवाले कर्मबधनसे छूट जायगा और फलत्यागरूपी समत्वको पाकर, जन्ममरण-से मुक्त होकर मुझे पावेगा । २८

सब प्राणियोमे मै समभावसे रहता हू । मुझे कोई अप्रिय या प्रिय नही है। जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते है वे मुझमे और मै भी उनमे हू । २९

भारी दुराचारी भी यदि अनन्यभावसे मुझे भजे तो उसे साधु हुआ ही मानना चाहिए, क्योंकि अब उसका अच्छा सकल्प है । ३०

टिप्पणी—क्योंकि अनन्यभक्ति दुराचारको शात कर देती है ।

वह तुरत धर्मात्मा हो जाता है और निरंतर शाति पाता है । हे कौतेय ! तू निश्चयपूर्वक जानना कि मेरे भक्तका कभी नाश नही होता । ३१

फिर हे पार्थ! जो पापयोनि हों वे भी और स्त्रियां, वैश्य तथा शूद्र जो मेरे आश्रय ग्रहण करते हैं वे परमगति पाते हैं। ३२

तब फिर पुण्यवान ब्राह्मण और राजर्षि जो मेरे भक्त हैं उनका तो कहना ही क्या है? इसलिए इस अनित्य और सुखरहित लोकमें जन्मकर तू मुझे भज। ३३

मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे निमित्त यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर, इससे मुझमें परायण होकर आत्माको मेरे साथ जोड़कर तू मुझे ही पावेगा। ३४

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'राजविद्याराजगुह्ययोग' नामक नवां अध्याय।

: १० :

विभूतियोग

सातवें, आठवें और नवें अध्यायमें भक्ति आदिका निरूपण करनेके बाद भगवान अपनी अनंत विभूतियोंका कुछ दिग्दर्शन भक्तके लिए कराते हैं।

श्रीभगवान बोले—

हे महाबाहो! फिर मेरा परम वचन सुन। यह मैं तुझ प्रियजनको तेरे हितके लिए कहूंगा। १

देव और महर्षि मेरी उत्पत्तिको नही जानते, क्योकि मैं ही देवोंका और महर्षियोका सब प्रकारसे आदि कारण हू। २

मृत्युलोकमे रहता हुआ जो ज्ञानी लोकोके महेश्वर मुझको अजन्मा और अनादि रूपमे जानता है, वह सब पापोसे मुक्त हो जाता है। ३

बुद्धि, ज्ञान, अमूढ़ता, क्षमा, सत्य, इद्रिय-निग्रह शाति, सुख, दु ख, जन्म, मृत्यु, भय और अभय, अहिसा, समता, सतोप, तप, दान, यश, अपयश, इस प्रकार प्राणियोके भिन्न-भिन्न भाव मुझसे उत्पन्न होते हैं। ४-५

सप्तर्पि, उनके पहले सनकादिक चार और(चौदह) मनु मेरे सकल्पसे उत्पन्न हुए और उनमेसे ये लोक उत्पन्न हुए हैं। ६

इस मेरी विभूति और शक्तिको जो यथार्थ जानता है वह अविचल समताको पाता है, इसमे सशय नही है। ७

मैं सबकी उत्पत्तिका कारण हूं और सब मुझसे ही प्रवृत्त होते हैं, यह जानकर समझदार लोग भावपूर्वक मुझे भजते हैं। ८

मुझमें चित्त लगानेवाले, मुझे प्राणार्पण करनेवाले एक-दूसरेको बोध कराते हुए, मेरा ही नित्य कीर्तन करते हुए, सतोप और आनदमे रहते है। ९

इस प्रकार मुझमे तन्मय रहनेवालोको और मुझे प्रेमसे भजनेवालोंको मै ज्ञान देता हूं और उससे वे मुझे

पाते हैं। १०

उनपर दया करके उनके हृदयमें स्थित मैं ज्ञानरूपी प्रकाशमय दीपकसे उनके अज्ञानरूपी अंधकारका नाश करता हूं। ११

अर्जुन बोले—

हे भगवान! आप परमब्रह्म हैं, परमधाम हैं, परम-पवित्र हैं। समस्त ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास आपको अविनाशी, दिव्यपुरुष, आदिदेव अजन्मा, ईश्वररूप मानते हैं और आप स्वयं भी वैसा ही कहते हैं। १२-१३

हे केशव! आप जो कहते हैं उसे मैं सत्य मानता हूं। हे भगवान! आपके स्वरूपको न देव जानते हैं न दानव। १४

हे पुरुषोत्तम! हे जीवोंके पिता! हे जीवेश्वर! हे देवोंके देव! जगतके स्वामी! आप स्वयं ही अपनेद्वारा अपनेको जानते हैं। १५

जिन विभूतियोंके द्वारा इन लोकोंमें आप व्याप रहे हैं, अपनी वह दिव्य विभूतियां पूरी-पूरी मुझसे आपको कहनी चाहिए। करते

हे योगिन्! आपका नित्य चिंतन करते--१६
आपको मैं कैसे पहचान सकता हूं? हे भगवान! किस किस रूपमें आपका चिंतन करना चाहिए? १७

हे जनार्दन! अपनी शक्ति और अपनी विभूतिका वर्णन मुझसे फिर विस्तारपूर्वक कीजिये। आपकी अमृत-मय वाणी सुनते-सुनते तृप्ति होती ही नहीं। १८

श्रीभगवान बोले—

हे कुरुश्रेष्ठ ! अच्छा, मै अपनी मुख्य-मुख्य दिव्य विभूतिया तुझे कहूगा । उनके विस्तारका अत तो है ही नही। १९

हे गुडाकेश ! मै सब प्राणियोके हृदयमे विद्यमान आत्मा हू । मै ही भूतमात्रका आदि, मध्य और अत हू २०

आदित्योमे विष्णु मै हू, ज्योतियोमे जगमगाता सूर्य मै हू, वायुओमे मरीचि मै हू, नक्षत्रोमे चद्र मै हू । २१

वेदोमे सामवेद मै हू, देवोमे इद्र मै हू, इद्रियोमें मन मै हू और प्राणियोका चेतन मै हू । २२

रुद्रोमे शकर मै हू, यक्ष और राक्षसोमे कुबेर मै हू, वसुओमे अग्नि मै हू, पर्वतोमे मेरु मै हू । २३

हे पार्थ ! पुरोहितोमे प्रधान बृहस्पति मुझे समझ । सेनापतियोमे कार्तिक स्वामी मै हू और सरोवरोमे सागर मै हू । २४

महर्षियोमे भृगु मै हू, वाणीमे एकाक्षरी ॐ मैं हू, यज्ञोमे जप-यज्ञ मै हू और स्थावरोमे हिमालय मै हूँ । २५

सब वृक्षोमे अश्वत्थ (पीपल) मै हू, देवर्षियोमे नारद मै हू, गधर्वोमे चित्ररथ मै हू और सिद्धोमे कपिल-मुनि मैं हू । २६

अश्वोमे अमृतमेसे उत्पन्न होनेवाला उच्चैश्रवा मुझे जान । हाथियोमे ऐरावत और मनुष्योमे राजा मैं हू । २७

हथियारोमे वज्र मैं हू, गायोमे कामधेनु मैं हू, प्रजाकी उत्पत्तिका कारण कामदेव मैं हू, सर्पोमे वासुकि मैं हू। २८

नागोमे शेषनाग मैं हू, जलचरोमे वरुण मैं हू, पितरोमे अर्यमा मैं हू और दड देनेवालोमे यम मैं हू। २९

दैत्योमे प्रह्लाद मैं हू, गिननेवालोमे काल मैं हू, पशुओमे सिंह मैं हू, पक्षियोमे गरुड मैं हूं। ३०

पावन करनेवालोमे पवन मैं हू, शस्त्रधारियोमे परशुराम मैं हू, मछलियोमे मगरमच्छ मैं हूं, नदियोमे गगा मैं हू। ३१

हे अर्जुन ! सृष्टियोका आदि, अंत और मध्य मैं हू, विद्याओमे अध्यात्मविद्या मैं हू और विवाद करनेवालोका वाद मैं हू। ३२

अक्षरोमे अकार मैं हूं, समासो मे द्वद्व मैं हूं, अविनाशी काल मैं हू और सर्वव्यापी धारण करनेवाला भी मैं हू। ३३

सबको हरनेवाली मृत्यु मैं हू, भविष्यमे उत्पन्न होनेवाले का उत्पत्तिकारण मैं हू और नारी जातिके नामोमे कीर्ति, लक्ष्मी, वाणी, समृति, मेधा (बुद्धि), धृति (धैर्य) और क्षमा मैं हू। ३४

सामोमे बृहत् (बडा) साम मैं हूं, छदोमे गायत्री छद मैं हूं। महीनोमे मार्गशीर्ष मैं हूं, ऋतुओमें वसंत मैं हू। ३५

छल करनेवालेका द्यूत मैं हू, प्रतापीका प्रभाव मैं हू, जय मैं हूं, निश्चय मैं हू, सात्त्विक भाववालेका सत्त्व

मैं हू । ३६

टिप्पणी—छल करनेवालोका द्यूत मैं हू, इस वचन-से भड़कनेकी आवश्यकता नही है । यहा सारासारका निर्णय नही है, किंतु जो कुछ होता है वह बिना ईश्वर-की मर्जीके नही होता, यह बतलाना है और सब उसके अधीन है, यह जाननेवाला छली भी अपना अभिमान छोडकर छल त्यागे ।

वृष्णिकुलमे वासुदेव मैं हू, पाडवोमें धनजय (अर्जुन) मैं हू, मुनियोमे व्यास मैं हू और कवियोमे उशना मैं हू । ३७

शासकका दड मैं हू, जय चाहनेवालोकी नीति मैं हू, गुह्य बातोमे मौन मैं हू और ज्ञानवानका ज्ञान मैं हू । ३८

हे अर्जुन ! समस्त प्राणियोकी उत्पत्तिका कारण मैं हू । जो कुछ स्थावर या जगम है, वह मेरे बिना नही है । ३९

हे परतप ! मेरी दिव्य विभूतियोका अत ही नही है । विभूतियोका विस्तार मैंने केवल दृष्टातरूपसेही बतलाया है । ४०

जो कुछ भी विभूतिमान, लक्ष्मीवान या प्रभावशाली है, उस-उसको मेरे तेजके अशसे ही हुआ समझ । ४१

अथवा हे अर्जुन ! यह विस्तारपूर्वक जानकर तुझे क्या करना है । अपने एक अशमात्रसे इस समूचे जगत-को धारण करके मैं विद्यमान हू । ४२

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'विभूतियोग' नामक दसवां अध्याय।

: ११ :

विश्वरूपदर्शनयोग

इस अध्यायमें भगवान अपना विराट स्वरूप अर्जुनको बतलाते हैं। भक्तोंको यह अध्याय बहुत प्रिय है। इसमें दलीलें नहीं, बल्कि केवल काव्य है। इस अध्यायका पाठ करते-करते मनुष्य थकता ही नहीं।

अर्जुन बोले—

आपने मुझपर कृपा करके यह आध्यात्मिक परम रहस्य कहा है। आपके मुझसे कहे हुए इन वचनोंसे मेरा यह मोह टल गया है। १

प्राणियोंकी उत्पत्ति और नाशके संबंधमें आपसे मैंने विस्तारपूर्वक सुना। हे कमलपत्राक्ष, उसी प्रकार आपका अविनाशी माहात्म्य भी सुना। २

हे परमेश्वर! आप जैसा अपनेको पहचनवाते हैं वैसे ही हैं। पुरुषोत्तम! आपके उस ईश्वरी रूपके दर्शन करनेकी मुझे इच्छा होती है। ३

हे प्रभो! वह दर्शन करना मेरेलिए आप संभव मानते हैं तो हे योगेश्वर! उस अव्यय रूपका दर्शन कराइये। ४

श्रीभगवान बोले—

हे पार्थ ! मेरे सैकडो और हजारो रूप देख। वे नाना प्रकारके, दिव्य, भिन्न-भिन्न रग और आकृति-वाले है। ५

हे भारत ! आदित्यों, वसुओं, रुद्रो, दो अश्विनी-कुमारो और मरुतोको देख। पहले न देखे गये, ऐसे बहुतसे आश्चर्योको तू देख। ६

हे गुडाकेश ! यहा मेरे शरीरमे एकरूपसे स्थित समूचा स्थावर और जगम जगत तथा और जो कुछ तू देखना चाहता हो वह आज देख। ७

इन अपने चर्मचक्षुओसे तू मुझे नही देख सकता। तुझे मै दिव्य चक्षु देता हू। तू मेरा ईश्वरीय योग देख। ८

संजयने कहा—

हे राजन् ! योगेश्वर कृष्णने ऐसा कहकर पार्थको अपना परम ईश्वरी रूप दिखलाया। ९

वह अनेक मुख और आखोवाला, अनेक अद्भुत दर्शनवाला, अनेक दिव्य आभूषणवाला और अनेक उठाये हुए दिव्य शस्त्रोवाला था। १०

उसने अनेक दिव्य मालाएँ और वस्त्र धारण कर रखे थे, जिसके दिव्य सुगधित लेप लगे हुए थे। ऐसा वह सर्वप्रकारसे आश्चर्यमय, अनंत, सर्वव्यापी देव था। ११

आकाशमे हजार सूर्योका तेज, एकसाथ प्रकाशित हो उठे तो वह तेज उस महात्माके तेज-जैसा कदाचित हो। १२

वहां इस देवाधिदेवके शरीरमें पांडवने अनेक प्रकारसे विभक्त हुआ समूचा जगत एक रूपमें विद्यमान देखा। १३

फिर आश्चर्यचकित और रोमांचित हुए धनंजय सिर झुका हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले— १४

अर्जुन बोले—

हे देव! आपकी देहमें मैं देवताओंको, भिन्न-भिन्न प्रकारके सब प्राणियोंके समुदायोंको, कमलासनपर विराजमान ईश ब्रह्माको, सब ऋषियोंको और दिव्य सर्पोंको देखता हूं। १५

आपको मैं अनेक हाथ, उदर, मुख और नेत्रयुक्त अनंत रूपवाला देखता हूं। आपका अंत नहीं है, न मध्य है, न आपका आदि है। हे विश्वेश्वर! आपके विश्वरूपका मैं दर्शन कर रहा हूं। १६

मुकुटधारी, गदाधारी, चक्रधारी, तेजके पुंज, सर्वत्र जगमगाती ज्योतिवाले साथ ही कठिनाईसे दिखाई देनेवाले अपरिमित और प्रज्वलित अग्नि किंवा सूर्यके समान सभी दिशाओंमें देदीप्यमान आपको मैं देख रहा हूं। १७

आपको मैं जाननेयोग्य परम अक्षररूप, इस जगतका अंतिम आधार, सनातन धर्मका अविनाशी रक्षक और सनातन पुरुष मानता हूं। १८

जिसका आदि, मध्य या अंत नहीं है, जिसकी शक्ति अनंत है, जिसके अनंत बाहु हैं, जिसके सूर्यचंद्ररूपी नेत्र हैं, जिसका मुख प्रज्वलित अग्निके समान है और जो

अपने तेजसे इस जगतको तपा रहा है, ऐसे आपको मै देख रहा हूं। १९

आकाश और पृथ्वीके बीचके इस अतरमे और समस्त दिशाओमे आप ही अकेले व्याप्त हो रहे है। हे महात्मन्! यह आपका अद्भूत उग्ररूप देखकर तीनो लोक थरथराते है। २०

और यह देवोका संघ आपमे प्रवेश कर रहा है। भयभीत हुए कितने ही हाथ जोडकर आपका स्तवन कर रहे है। महर्षि और सिद्धोका समुदाय '(जगतका) कल्याण हो' कहता हुआ अनेक प्रकारसे आपका यश गा रहा है। २१

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनी-कुमार, मरुत, गरम ही पीनेवाले पितर, गधर्व, यक्ष असुर और सिद्धोका सघ ये सभी विस्मित होकर आपको निरख रहे हैं। २२

हे महाबाहो! बहुत मुख और आखोंवाला, बहुत हाथ, जघा और पैरोवाला, बहुत पेटोवाला और बहुत दाढ़ोके कारण विकराल दीखनेवाला विशाल रूप देख-कर लोक व्याकुल होगये है। वैसे ही मैं भी व्याकुल हो उठा हूं। २३

आकाशका स्पर्श करते, जगमगाते अनेक रगोंवाले, खुले मुखवाले और विशाल तेजस्वी नेत्रवाले, आपको देखकर हे विष्णु! मेरा हृदय व्याकुल हो उठा है और मैं धैर्य या शाति नही रख सकता। २४

प्रलयकालके अग्निके समान और विकराल दाढ़ो-

वाला आपका मुख देखकर न मुझे दिशाएं जान पड़ती है न शांति मिलती है। हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइये। २५

सब राजाओके संघसहित, धृतराष्ट्रके ये पुत्र, भीष्म, द्रोणाचार्य, यह सूतपुत्र कर्ण और हमारे मुख्य योद्धा, विकराला दाढ़ोवाले आपके, भयानक मुखमे वेगपूर्वक प्रवेश कर रहे हैं। कितनोके ही सिर चूर होकर आपके दांतोके बीच मे लगे हुए दिखाई देते हैं। २६-२७

जिस प्रकार नदियोकी बडी धाराएँ समुद्रकी ओर दोड़ती है उस प्रकार आपके धधकते हुए मुखमे ये लोकनायक प्रवेश कर रहे हैं। २८

जलते हुए दीपकमें जैसे पतग बढते हुए वेगसे पडते है, वैसे ही आपके मुखमें भी सब लोग बढते हुए वेगसे प्रवेश कर रहे हैं। २९

सब लोकोको सब ओरसे निगलकर आप अपने धधकते हुए मुखसे चाट रहे हैं। हे सर्वव्यापी विष्णु ! आपका उग्र प्रकाश समूचे जगतको तेजसे पूरित कर रहा है और तपा रहा है। ३०

उग्ररूप आप कौन है सो मुझसे कहिये। हे देववर ! आप प्रसन्न होइए। आप जो आदि कारण है उन्हे मैं जानना चाहता हू। आपकी प्रवृत्ति मैं नही जानता। ३१

श्रीभगवान बोले—

लोकोका नाश करनेवाला, बढा हुआ मैं काल हू। लोकोका नाश करनेके लिए यहा आया हू। प्रत्येक

सेनामे जो ये सब योद्धा आये हुए है उनमेसे कोई तेरे लडनेसे इनकार करनेपर भी बचनेवाला नही है। ३२

इसलिए तू उठ खडा हो, कीर्ति प्राप्तकर, शत्रुको जीतकर धनधान्यसे भरा हुआ राज्य भोग। इन्हे मैने पहलेसे ही मार रखा है। हे सव्यसाची! तू तो केवल निमित्तरूप बन। ३३

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और अन्यान्य योद्धाओ-को मैं मार ही चुका हू। उन्हे तू मार। डर मत, लड़। शत्रुको तू रणमे जीतनेको है। ३४

संजयने कहा—

केशवके ये वचन सुनकर हाथ जोड, कापते, बार-बार नमस्कार करते हुए, डरते-डरते प्रणाम करके मुकुटधारी अर्जुन श्रीकृष्णसे गद्‌गद कठसे इस प्रकार बोले। ३५

अर्जुन बोले—

हे हृषीकेश! आपका कीर्तन करके जगत को जो हर्ष होता है और आपके लिए जो अनुराग उत्पन्न होता है वह उचित ही है। भयभीत राक्षस इधर-उधर भाग रहे है और सिद्धोका सारा समुदाय आपको नमस्कार कर रहा है। ३६

हे महात्मन्! वे आपको क्यो नमस्कार न करे? आप ब्रह्मासे भी बडे आदिकर्ता है। हे अनत, हे देवेश, हे जगन्निवास! आप अक्षर है, सत् है, असत् है और इससे जो परे है वह भी आप ही है। ३७

आप आदिदेव है। आप पुराण-पुरुष है। आप

इस विश्वके परम आश्रयस्थान है। आप जाननेवाले है और जानने योग्य है। आप परमधाम है। हे अनतरूप ! इस जगतसे आप व्याप्त हो रहे है ३८

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चद्र, प्रजापति, प्रपितामह आप ही है। आपको,हजारों बार नमस्कार पहुचे और फिर-फिर आपको नमस्कार पहुंचे। ३९

हे सर्व ! आपको आगे, पीछे, सब ओरसे नमस्कार है। आपका वीर्य अनंत है, आपकी शक्ति अपार है, सब आप ही धारण करते है, इसलिए आप सर्व है। ४०

मित्र जानकर और आपकी यह महिमा न जानकर हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखा ! इस प्रकार सबोधन कर मुझसे भूलमे या प्रेममे भी जो अविवेक हुआ हो और विनोदार्थ खेलते, सोते, बैठते या खाते अथ.त् सोहबतमे आपका जो कुछ अपमान हुआ हो उसे क्षमा करनेके लिए मैं आपसे प्रार्थना करता हूं। ४१-४२

स्थावरजगम जगतके आप पिता है। आप उसके पूज्य और श्रेष्ठ गुरु है। आपके समान कोई नही है तो आपसे अधिक तो कहासे हो सकता है ? तीनो लोकमे आपकेइ सामर्थ्यका जोड नही है। ४३

रसलिए साष्टाग नमस्कार करके आपसे, पूज्य ईश्व से प्रसन्न होनेकी प्रार्थना करता हू। हे देव ! जिसतरह पिता पुत्रको, सखा सखाको सहन करता है वैसे आप मेरे प्रिय होनेके कारण मेरे कल्याणके लिए मुझे सहन करने योग्य है। ४४

पहले न देखा हुआ आपका ऐसा रूप देखकर मेरे

रोएं खड़े होगये है और भयसे मेरा मन व्याकुल हो गया है। इसलिए हे देव! अपना पहलेका रूप दिखलाइये। हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होइये। ४५

पूर्वकी भाति आपका—मुकुट, गदा, चक्रधारीका दर्शन करना चाहता हू। हे सहस्रबाहु! हे विश्वमूर्ति! अपना चतुर्भुजरूप धारण कीजिये। ४६

श्रीभगवान बोले—

हे अर्जुन! तुझपर प्रसन्न होकर तुझे मैंने अपनी शक्तिसे अपना तेजोमय, विश्वव्यापी, अनंत, परम, आदिरूप दिखाया है। यह तेरे सिवा और किसीने पहले नही देखा है। ४७

हे कुरुप्रवीर! वेदाभ्यास से, यज्ञसे, अन्यान्य शास्त्रोंके अध्ययनसे, दानसे, क्रियाओंसे, या उग्र तपोंसे तेरे सिवा दूसरा कोई यह मेरा रूप देखनेमे समर्थ नही है। ४८

यह मेरा विकराल रूप देखकर तू घबरा मत, मोहमे मत पड। डर छोडकर शांतिचित्त हो और यह मेरा परिचित रूप फिर देख। ४९

संजयने कहा—

यों वासुदेवने अर्जुनसे कहकर अपना रूप फिर दिखाया और फिर शांत मूर्ति धारण करके भयभीत अर्जुनको उस महात्माने आश्वासन दिया। ५०

अर्जुन बोले—

हे जनार्दन! यह आपका सौम्य मानवस्वरूप देख-

कर अब मैं शांत हुआ हूं और ठिकाने आगया हूं। ५१
श्रीभगवान बोले—

जो मेरा रूप तूने देखा उसके दर्शन बहुत दुर्लभ हैं। देवता भी वह रूप देखनेको तरसते रहते हैं। ५२

जो मेरे दर्शन तूने किये हैं वह दर्शन न वेदसे, न तपसे, न दानसे अथवा न यज्ञसे हो सकते हैं। ५३

परंतु हे अर्जुन ! हे परंतप ! मेरे संबंधमे ऐसा ज्ञान, ऐसे मेरे दर्शन और मुझमें वास्तविक प्रवेश केवल अनन्य भक्तिसे ही संभव है। ५४

हे पांडव ! जो सब कर्म मुझे समर्पण करता है, मुझमे परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्तिका त्याग करता है और प्राणीमात्रमे द्वेषरहित होकर रहता है, वह मुझे पाता है। ५५

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यातर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'विश्वरूपदर्शनयोग' नामक ग्यारहवां अध्याय।

: १२ :

भक्तियोग

पुरुषोत्तमके दर्शन अनन्यभक्तिसे ही होते हैं, भगवानके इस वचनके बाद तो भक्तिका स्वरूप ही सामने आना चाहिए। यह बारहवां अध्याय सबको कंठ कर लेना चाहिए। यह छोटे-

मे-छोटे अध्यायोमे एक है। इसमे दिये हुए भक्तके लक्षण नित्य मनन करनेयोग्य हैं।

अर्जुन बोले—

इस प्रकार जो भक्त आपका निरतर ध्यान धरते हुए आपकी उपासना करते हैं और जो आपके अविनाशी अव्यक्त स्वरूपका ध्यान धरते है, उनमेसे कौन योगी श्रेष्ठ माना जायगा ? १

श्रीभगवान बोले—

नित्य ध्यान करते हुए, मुझमे मन लगाकर जो श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना करता है उसे मैं श्रेष्ठ योगी मानता हू। २

सब इद्रियोको वशमे रखकर, सर्वत्र समत्वका पालन करके जो दृढ, अचल, धीर, अचित्य, सर्वव्यापी, अव्यक्त, अवर्णनीय, अविनाशी स्वरूपकी उपासना करते हैं, वे सारे प्राणियोके हितमे लगे हुए मुझे ही पाते है। ३-४

जिसका चित्त अव्यक्त मे लगा हुआ है उन्हे कष्ट अधिक है। अव्यक्त गतिको देहधारी कष्टसे ही पा सकता है। ५

टिप्पणी—देहधारी मनुष्य अमूर्त स्वरूपकी केवल कल्पना ही कर सकता है, पर उसके पास अमूर्त स्वरूप-के लिए एक भी निश्चयात्मक शब्द नही है, इसलिए उसे निषेधात्मक 'नेति' शब्दसे सतोष करना ठहरा। इस दृष्टिसे मूर्तिपूजाका निषेध करनेवाले भी सूक्ष्मरीतिसे विचारा जाय तो मूर्तिपूजक ही होते हैं। पुस्तकको

पूजा करना, मंदिरमे जाकर पूजा करना, एक ही दिशा-मे मुख रखकर पूजा करना, ये सभी साकार पूजाके लक्षण है। तथापि साकारके उस पार निराकार अचित्य स्वरूप है, इतना तो सबके समझ लेनेमे ही निस्तार है। भक्तिकी पराकाष्ठा यह है कि भक्त भगवानमें विलीन हो जाय और अतमे केवल एक अद्वितीय अरूपी भगवान ही रह जाय। पर इस स्थितिको साकारद्वारा सुलभतासे पहुचा जा सकता है, इसलिए निराकारको सीधे पहुचनेका मार्ग कष्टसाध्य बतलाया है।

परतु हे पार्थ! जो मुझमे परायण रहकर, सब कर्म मुझे समर्पण करके, एक निष्ठासे मेरा ध्यान धरते हुए मेरी उपासना करते है और मुझमे जिनका चित्त पिरोया हुआ है उन्हे मृत्युरूपी ससार-सागरसे मैं झटपट पार कर लेता हू। ६-७

अपना मन मुझमे लगा, अपनी बुद्धि मुझमे रख, इससे इस (जन्म) के बाद नि सशय मुझे ही पावेगा। ८

जो तू मुझमे अपना मन स्थिर करनेमे असमर्थ हो तो, हे धनजय! अभ्यासयोगद्वारा मुझे पानेकी इच्छा रखना। ९

ऐसा अभ्यास रखनेमे भी तू असमर्थ हो तो कर्म-मात्र मुझे अर्पण कर और इस प्रकार मेरे निमित्त कर्म करते-करते भी तू मोक्ष पावेगा। १०

और जो मेरे निमित्त कर्म करनेभरकी भी तेरी शक्ति न हो तो यत्नपूर्वक सब कर्मोके फलका त्याग कर। ११

अभ्याससमार्गसे ज्ञानमार्ग श्रेयस्कर है। ज्ञानमार्गसे ध्यानमार्ग विशेष है और ध्यानमार्गसे कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है, क्योकि इस त्यागके अतमे तुरत शांति हो होती है। १२

टिप्पणी—अभ्यास अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोधकी साधना, ज्ञान अर्थात् श्रवण-मननादि, ध्यान अर्थात् उपासना। इसके फलस्वरूप यदि कर्मफलत्याग न दिखाई दे तो वह अभ्यास अभ्यास नही है, ज्ञान ज्ञान नही है और ध्यान ध्यान नही है।

जो प्राणीमात्रके प्रति द्वेषरहित, सबका मित्र, दयावान, ममतारहित, अहकाररहित, सुख-दु खमे समान, क्षमावान, सदा सतोषी, योगयुक्त, इद्रियनिग्रही और दृढनिश्चयी है और मुझमे जिसने अपनी बुद्धि और मन अर्पण कर दिया है, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है। १३-१४

जिससे लोग उद्वेग नही पाते, जो लोगोसे उद्वेग नही पाता, जो हर्ष, क्रोध, ईर्ष्या, भय, उद्वेगसे मुक्त है, वह मुझे प्रिय है। १५

जो इच्छारहित है, पवित्र है, दक्ष (सावधान) है, तटस्थ है, चितारहित है, सकल्पमात्रका जिसने त्याग किया है वह मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है। १६

जिसे हर्ष नही होता, जो द्वेष नही करता, जो चिता नही करता, जो आशाए नही बाधता, जो शुभा-शुभका त्याग करनेवाला है, वह भक्तिपरायण मुझे प्रिय है। १७

शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख—इन सबमें जो समतावान है, जिसने आसक्ति छोड़ दी है, जो निंदा और स्तुतिमें समान भावसे वर्तता है और मौन धारण करता है, चाहे जो मिले उससे जिसे संतोष है, जिसका कोई अपना निजी स्थान नहीं है, जो स्थिर चित्तवाला है, ऐसा मुनि भक्त मुझे प्रिय है। १८-१९

यह पवित्र अमृतरूप ज्ञान जो मुझमें परायण रहकर श्रद्धापूर्वक सेवन करते हैं वे मेरे अतिशय प्रिय भक्त हैं। २०

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'भक्तियोग' नामक बारहवां अध्याय।

: १३ :

क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

इस अध्यायमें शरीर और शरीरीका भेद बतलाया है।

श्रीभगवान बोले—

हे कौंतेय! यह शरीर क्षेत्र कहलाता है और इसे जो जानता है उसे तत्त्वज्ञानी लोग क्षेत्रज्ञ कहते हैं। १

और हे भारत! समस्त क्षेत्रों—शरीरों—में स्थित मुझको क्षेत्रज्ञ जान। मेरा मत है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदका ज्ञान ही ज्ञान है। २

यह क्षेत्र क्या है, कैसा है, कैसे विकारवाला है, कहासे है और क्षेत्रज्ञ कौन है, उसकी शक्ति क्या है, यह मुझसे संक्षेपमे सुन। ३

विविध छदोमे, भिन्न-भिन्न प्रकारसे और उदाहरण युक्तियोद्वारा, निश्चययुक्त ब्रह्मसूचक वाक्योमे ऋषियोने इस विषयको बहुत गाया है। ४

महाभूत, अहता, बुद्धि, प्रकृति, दस इद्रिया, एक मन, पाच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, सघात, चेतनशक्ति, धृति—यह अपने विकारोसहित क्षेत्र सक्षेप मे कहा है। ५-६

टिप्पणी—महाभूत पाच है—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। अहकार शरीरके प्रति विद्यमान अहता, अहपना। अव्यक्त अर्थात् अदृश्य रहनेवाली माया, प्रकृति। दस इद्रियोमे पाच ज्ञानेद्रिया—नाक, कान, आख, जीभ और चाम, तथा पाच कर्मेद्रिय—हाथ, पैर, मुह और दो गुह्येद्रिया। पाच गोचर अर्थात् पाच ज्ञानेद्रियोके पाच विषय—सूघना, सुनना, देखना चखना और छूना। सघात अर्थात् शरीरके तत्त्वोकी परस्पर सहयोग करने की शक्ति। धृति अर्थात् धैर्यरूपी सूक्ष्म गुण नही, किंतु इस शरीरके परमाणुओका एक दूसरेसे सटे रहनेका गुण। यह गुण अहभावके कारण ही सभव है और यह अहता अव्यक्त प्रकृतिमे विद्यमान है। मोहरहित मनुष्य इस अहताका ज्ञानपूर्वक त्याग करता है और इस कारण मृत्युके समय या दूसरे आघातोसे वह दुख नही पाता। ज्ञानी-अज्ञानी सबको,

अतमे तो, इस विकारी क्षेत्रका त्याग किये ही निस्तार है।

अमानित्व, अदभित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्यकी सेवा, शुद्धता,- स्थिरता, आत्मसयम, इद्रियोके विषयोमे वैराग्य, अहकाररहितता, जन्म, मरण, जरा, व्याधि, दु.ख और दोषोका निरंतर भान, पुत्र, स्त्री और गृह आदिमे मोह तथा ममताका अभाव, प्रिय और अप्रियमे नित्य समभाव, मुझमे अनन्य ध्यानपूर्वक एकनिष्ठ भक्ति, एकांत स्थान का सेवन, जनसमूहमे सम्मिलित होनेकी अरुचि, आध्यात्मिक ज्ञानकी नित्यता-का भान और आत्मदर्शन—यह सब ज्ञान कहलाता है। इससे जो उल्टा है वह अज्ञान है। ७-११

जिसे जाननेवाले मोक्ष पाते है वह ज्ञेय क्या है, सो तुझसे कहूगा। वह अनादि परब्रह्म है, वह न सत् कहा जा सकता है न असत् कहा जा सकता है। १२

टिप्पणी—परमेश्वरको सत् या असत् भी नही कहा जा सकता। किसी एक शब्दसे उसकी व्याख्या या परिचय नही हो सकता, ऐसा वह गुणातीत स्वरूप है।

जहा देखो वही उसके हाथ, पैर, आंखे, सिर, मुंह और कान है। सर्वत्र व्याप्त होकर वह इस लोकमे विद्यमान है। १३

सब इद्रियोके गुणोका आभास उसमें मिलता है तो भी वह स्वरूप इद्रियरहित और सबसे अलिप्त है, तथापि सबको धारण करनेवाला हैं। वह गुणरहित होनेपर भी गुणोका भोक्ता है। १४

वह भूतोके बाहर है और अंदर भी है। वह गति-मान है और स्थिर भी है। सूक्ष्म होनेके कारण वह अविज्ञेय है। वह दूर है और समीप भी है। १५

टिप्पणी—जो उसे पहचानता है वह उसके अंदर है। गति और स्थिरता, शांति और अशांति हम लोग अनुभव करते है और सब भाव उसीमेंसे उत्पन्न होते है, इसीलिए वह गतिमान और स्थिर है।

भूतोमे वह अविभक्त है और विभक्त-सरीखा भी विद्यमान है। वह जाननेयोग्य (ब्रह्म) प्राणियोका पालक नाशक और कर्ता है। १६

ज्योतियोकी भी वह ज्योति है, अंधकारसे वह पर कहा जाता है। ज्ञान वही है, जाननेयोग्य वही है और ज्ञानसे जो प्राप्त होता है वह भी वही है। वह सबके हृदयमे मौजूद है। १७

इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयके विषयमे मैंने संक्षेपमे बतलाया। इसे जानकर मेरा भक्त मेरे भाव-को पाने योग्य बनता है। १८

प्रकृति और पुरुष दोनोको अनादि जान। विकार और गुणोको प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ जान। १९

कार्य और कारणका हेतु प्रकृति कही जाती है और पुरुष सुख-दुःखके भोगमे हेतु कहा जाता है। २०

प्रकृतिमे रहनेवाला पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले गुणोको भोगता है और यह गुणसंग भली-बुरी योनिमे उसके जन्मका कारण बनता है। २१

टिप्पणी—प्रकृतिको हम लोग लौकिक भाषामे

मायाके नामसे पुकारते हैं। पुरुष जीव है। माया अर्थात् मूलस्वभावके वशीभूत हो जीव सत्त्व, रजस् या तमससे होनेवाले कर्मोंका फल भोगता है और इससे कर्मानुसार पुनर्जन्म पाता है।

इस देहमें स्थित जो परमपुरुष है वह सर्वसाक्षी, अनुमतिदेनेवाला, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा भी कहलाता है। २२

जो मनुष्य इस प्रकार पुरुष और गुणमयी प्रकृतिको जानता है, वह सब प्रकारसे कार्य करता हुआ भी फिर जन्म नहीं पाता। २३

टिप्पणी—२, ९, १२ और अन्यान्य अध्यायोंकी सहायतासे हम जान सकते हैं कि यह श्लोक स्वेच्छाचार-का समर्थन करनेवाला नहीं है, बल्कि भक्तिकी महिमा बतलानेवाला है। कर्ममात्र जीवके लिए बंधनकर्ता हैं, किंतु यदि वह सब कर्म परमात्माको अर्पण कर दे तो वह बंधनमुक्त हो जाता है और इस प्रकार जिसमेंसे कर्तृत्वरूपी अहंभाव नष्ट होगया है और जो अंतर्यामीको चौबीसों घंटे पहचान रहा है वह पापकर्म कर ही नहीं सकता। पापका मूल ही अभिमान है। जहां 'मैं' नहीं है वहां पाप नहीं है। यह श्लोक पापकर्म न करनेकी युक्ति बतलाता है।

कोई ध्यानमार्गसे आत्माद्वारा आत्माको अपनेमें देखता है, कितने ही ज्ञानमार्गसे और दूसरे कितने ही कर्ममार्गसे। २४

और कोई इन मार्गोंको न जाननेके कारण दूसरोंसे

परमात्माके विषयमे सुनकर, सुने हुएपर श्रद्धा रखकर और उसमे परायण रहकर उपासना करते है और वे भी मृत्युको तर जाते है । २५

जो कुछ चर या अचर वस्तु उत्पन्न होती है वह हे भरतर्षभ ! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अर्थात् प्रकृति और पुरुषके सयोगसे उत्पन्न हुई जान । २६

समस्त नाशवान प्राणियोमे अविनाशी परमेश्वरको समभावसे मौजूद जो जानता है वही उसका जाननेवाला है । २७

जो मनुष्य ईश्वरको सर्वत्र समभावसे अवस्थित देखता है वह अपने-आपका घात नही करता और इससे परमगतिको पाता है । २८

टिप्पणी—समभावसे अवस्थित ईश्वरको देखनेवाला आप उसमे विलीन हो जाता है और अन्य कुछ नही देखता । इसलिए विकारवश न होकर मोक्ष पाता है, अपना शत्रु नही बनता ।

सर्वत्र प्रकृति ही कर्म करती है, ऐसा जो समझता है और इसीलिए आत्माको अकर्तारूप जानता है वही जानता है २९

टिप्पणी—कैसे, जैसे कि सोते हुए मनुष्यका आत्मा निद्राका कर्ता नही है, किंतु प्रकृति निद्राका कर्म करती है। निर्विकार मनुष्य के नेत्र कोई गंदगी नही देखते । प्रकृति व्यभिचारिणी नही है। अभिमानी पुरुष जब उसका स्वामी बनता है तब उस मिलापमेसे विषय-विकार उत्पन्न होते है ।

जब वह जीवोका अस्तित्व पृथक् होनेपर भी एकमे ही स्थित देखता है और इसीलिए सारे विस्तारको उसीसे उत्पन्न हुआ समझता है तब वह ब्रह्मको पाता है। ३०

टिप्पणी—अनुभवसे सब कुछ ब्रह्ममे ही देखना ब्रह्मको प्राप्त करना है। उस समय जीव शिवसे भिन्न नही रह जाता।

हे कौंतेय! यह अविनाशी परमात्मा अनादि और निर्गुण होनेके कारण शरीरमे रहता हुआ भी न कुछ करता और न किसीसे लिप्त होता है। ३१

जिस प्रकार सूक्ष्म होनेके कारण सर्वव्यापी आकाश लिप्त नही होता, वैसे सब देहमे रहनेवाला आत्मा लिप्त नही होता। ३२

जैसे एक ही सूर्य इस समूचे जगतको प्रकाश देता है, वैसे हे भारत! क्षेत्री समूचे क्षेत्रको प्रकाशित करता है। ३३

जो ज्ञानचक्षुद्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका भेद और प्रकृतिके बंधनसे प्राणियोकी मुक्ति कैसे होती है यह जानता है वह ब्रह्मको पाता है। ३४

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग' नामक तेरहवां अध्याय।

: १४ :

गुणत्रयविभागयोग

गुणमयी प्राकृतिका थोड़ा परिचय करानेके बाद स्वभावत. तीनो गुणोका वर्णन इस अध्यायमे आता है और यह करते हुए गुणातीतके लक्षण भगवान गिनाते है। दूसरे अध्यायमे जो लक्षण स्थितप्रज्ञके दिखाई देते हैं, बारहवेंमे जो भक्तके दिखाई देते है, वैसे इसमे गुणातीतके है।

श्रीभगवान बोले—

ज्ञानोमे जिस उत्तम ज्ञानका अनुभव करके सब मुनियोने यह शरीर छोड़नेपर परम गति पाई है वह मैं तुझसे फिर कहूंगा। १

इस ज्ञानका आश्रय लेकर जिन्होने मेरे भावको प्राप्त किया है उन्हे उत्पत्तिकालमें जन्मना नही पड़ता और प्रलयकालमे व्यथा भोगनी नही पड़ती। २

हे भारत ! महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरी योनि हैं। उसमें मैं गर्भाधान करता हूं और उससे प्राणीमात्रकी उत्पत्ति होती है। ३

हे कौतेय ! सब योनियोमे जिन-जिन प्राणियोकी उत्पत्ति होती है उनकी उत्पत्तिका स्थान मेरी प्रकृति है और उसमे बीजारोपण करनेवाला पिता—पुरुष—मैं हू।

हे महाबाहो ! सत्त्व, रजस् और तमस् प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले गुण है। वे अविनाशी देहधारी—जीव— को देहके संबंधमे बाधते है। ४

इनमें सत्त्वगुण निर्मल होनेके कारण प्रकाशक और आरोग्यकर है और हे अनघ ! वह देहीको सुखके और ज्ञानके संबंधमें बांधता है । ६

हे कौंतेय ! रजोगुण रागरूप होनेसे तृष्णा और आसक्तिका मूल है, वह देहधारीको कर्मपाशमें बांधता है । ७

हे भारत ! तमोगुण अज्ञानमूलक है । वह देहधारीमात्रको मोहमें डालता है और वह देहीको असावधानी आलस्य तथा निद्राके पाशमें बांधता है । ८

हे भारत ! सत्त्व आत्माको शांतिसुखका संग कराता है, रजस् कर्मका और तमस् ज्ञानको ढककर प्रमादका संग कराता है । ९

हे भारत ! जब रजस् और तमस् दबते हैं तब सत्त्व ऊपर आता है: सत्त्व और तमस् दबते हैं तब रजस् और सत्त्व तथा रजस् दबते हैं तब तमस् उभरता है । १०

सब इंद्रियोंद्वारा इस देहमें जब प्रकाश और ज्ञानका उद्भव होता है तब सत्त्वगुणकी वृद्धि हुई है, ऐसा जानना चाहिए । ११

हे भरतर्षभ ! जब रजोगुणकी वृद्धि होती है तब लोभ प्रवृत्ति कर्मोंका आरंभ. अशांति और इच्छाका उदय होता है । १२

हे कुरुनंदन ! जब तमोगुणकी वृद्धि होती है तब अज्ञान. मंदता. असावधानी और मोह उत्पन्न होता है । १३

सत्त्वगुणकी वृद्धि हुई होनेपर देहधारी मरता है तो वह उत्तम ज्ञानियोके निर्मल लोकको पाता है । १४

रजोगुणमे मृत्यु होनेपर देहधारी कर्मसगीके लोकमें जन्मता है और तमोगुणमे मृत्यु पानेवाला मूढयोनि मे जन्मता है । १५

टिप्पणी—कर्मसगीसे तात्पर्य है मनुष्यलोक और मूढयोनिसे तात्पर्य पशु इत्यादि लोक ।

सत्कर्मका फल सात्त्विक और निर्मल होता है । राजसी कर्मका फल दुःख होता है और तामसी कर्मका फल अज्ञान होता है । १६

टिप्पणी—जिसे हम लोग सुख-दुःख मानते है यहां उस सुख-दुःखका उल्लेख नही समझना चाहिए । सुखसे मतलब है आत्मानद, आत्मप्रकाश । इससे जो उल्टा है वह दुःख है । १७ वे श्लोकमे यह स्पष्ट हो जाता है ।

सत्त्वगुणमेसे ज्ञान उत्पन्न होता है । रजोगुणमेसे लोभ और तमोगुणमेसे असावधानी, मोह और अज्ञान उत्पन्न होता है । १७

सात्त्विक मनुष्य ऊंचे चढते है, राजसी मध्यमे रहते हैं और अतिम गुणवाले तामसी अधोगति पाते है । १८

ज्ञानी जब ऐसा देखता है कि गुणोके सिवा और कोई कर्त्ता नही है और जो गुणोसे पर है उसे जानता है तब वह मेरे भावको पाता है । १९

टिप्पणी—गुणोको कर्त्ता माननेवालेको अहभाव होता ही नहीं । इससे उसके सब काम स्वाभाविक

और शरीरयात्राभरके लिए होते हैं। और शरीरयात्रा परमार्थके लिए ही होती है, इसलिए उसके सारे कामोंमें निरंतर त्याग और वैराग्य होना चाहिए। ऐसा ज्ञानी स्वभावतः गुणोंसे परे निर्गुण ईश्वरकी भावना करता और उसे भजता है।

देहके संगसे उत्पन्न होनेवाले इन तीन गुणोंको पार करके देहधारी जन्म, मृत्यु और जराके दुःखसे छूट जाता है और मोक्ष पाता है। २०

अर्जुन बोले—

हे प्रभो! इन गुणोंको तर जानेवाला किन लक्षणोंसे पहचाना जाता है? उसके आचार क्या होते हैं? और वह तीनों गुणोंको किस प्रकार पार करता है? २१

श्रीभगवान बोले—

हे पांडव! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह प्राप्त होनेपर जो दुःख नहीं मानता और इनके प्राप्त न होनेपर इनकी इच्छा नहीं करता, उदासीनकी भांति जो स्थिर है, जिसे गुण विचलित नहीं करते, गुण ही अपना काम कर रहे हैं यह मानकर जो स्थिर रहता है और विचलित नहीं होता, जो सुख-दुःख में सम रहता है, स्वस्थ रहता है, मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोनेको समान समझता है, प्रिय अथवा अप्रिय वस्तु प्राप्त होनेपर एकसमान रहता है, ऐसा बुद्धिमान जिसे अपनी निंदा या स्तुति समान है, जिसे मान और अपमान समान है, जो मित्रपक्ष और शत्रुपक्षमें समानभाव रखता है और जिसने समस्त आरंभोंका त्याग कर दिया है, वह गुणा-

तीत कहलाता है। २२-२५

टिप्पणी—२२ से २५ तकके श्लोक एकसाथ विचारने योग्य है। प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह पिछले श्लोकमे कहे अनुसार क्रमसे सत्त्व, रजस् और तमस्के परिणाम अथवा चिह्न है। कहनेका तात्पर्य यह है कि जो गुणोको पार कर गया है उसपर उस परिणामका कोई प्रभाव नही पडता। पत्थर प्रकाशकी इच्छा नही करता, न प्रवृत्ति या जडताका द्वेष करता है। उसे बिना चाहे शाति है, उसे कोई गति देता है तो वह उसका द्वेष नही करता। गति देनेके बाद उसे ठहरा करके रख देता है तो इससे, प्रवृत्ति—गति बद होगई, मोह—जडता प्राप्त हुई, ऐसा सोचकर वह दुखी नही होता, वरन् तीनो स्थितियोमे वह एकसमान बर्तता है। पत्थर और गुणातीतमे अतर यह है कि गुणातीत चेतनमय है और उसने ज्ञानपूर्वक गुणोके परिणामो-का—स्पर्शका त्याग किया है और जड—पत्थर-सा बन गया है। पत्थर गुणोका अर्थात् प्रकृतिके कार्योका साक्षी है, पर कर्त्ता नही है, वैसे ज्ञानी उसका साक्षी रहता है, कर्त्ता नही रह जाता। ऐसे ज्ञानीके सबधमे यह कल्पना की जा सकती है कि वह २३वे श्लोकके कथनानुसार 'गुण अपना काम किया करते है' यह मानता हुआ विचलित नही होता और अचल रहता है, उदासीन-सा रहता है—अडिग रहता है। यह स्थिति गुणोमे तन्मय हुए हम लोग धैर्यपूर्वक केवल कल्पना करके समझ सकते है, अनुभव नही कर सकते।

परंतु उस कल्पनाको दृष्टिमे रखकर हम 'मैं'पनेको दिन-दिन घटाते जाय तो अंत मे गुणातीतकी अवस्थाके समीप पहुचकर उसकी झाकी कर सकते हैं। गुणातीत अपनी स्थितिका अनुभव करता है, वर्णन नही कर सकता। जो वर्णन कर सकता है वह गुणातीत नही है, क्योकि उसमे अहंभाव मौजूद है। जिसे सब लोग सहजमे अनुभव कर सकते है वह शांति, प्रकाश, 'धाधल'—प्रवृत्ति और जडता—मोह है। गीतामें स्थान-स्थानपर इसे स्पष्ट किया है कि सात्त्विकता गुणातीतके समीप-से-समीपकी स्थिति है। इसलिए मनुष्यमात्रका प्रयत्न सत्त्वगुणके विकास करनेका है। यह विश्वास रखे कि उसे गुणातीतता अवश्य प्राप्त होगी।

जो एकनिष्ठ भक्तियोगद्वारा मुझे सेता है वह इन गुणोको पार करके ब्रह्मरूप बननेयोग्य होता है। २६

और ब्रह्मकी स्थिति मैं ही हू, शाश्वत मोक्षकी स्थिति मैं हूं। वैसे ही सनातन धर्मकी और उत्तम सुखकी स्थिति भी मै ही हूं।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यातर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसवादका 'गुणत्रयविभागयोग' नामक चौदहवा अध्याय।

: १५ :

पुरुषोत्तमयोग

भगवानने इस अध्यायमे क्षर और अक्षरसे परे अपना उत्तम स्वरूप समझाया है।

श्रीभगवान बोले—

जिसका मूल ऊचे है, जिसकी शाखा नीचे है और वेद जिसके पत्ते हैं, ऐसे अविनाशी अश्वत्थ वृक्षका बुद्धिमान लोगोने वर्णन किया है, इसे जो जानते है वे वेदके जाननेवाले ज्ञानी है। १

टिप्पणी—'श्व' का अर्थ है आनेवाला कल। इसलिए अश्वत्थका मतलब है आगामी कलतक न टिकनेवाला क्षणिक ससार। ससारका प्रतिक्षण रूपातर हुआ करता है, इससे वह अश्वत्थ है, परतु ऐसी स्थितिमे वह सदा रहनेवाला होनेके कारण तथा उसका मूल ऊर्ध्व अर्थात् ईश्वर है, इस कारण वह अविनाशी है। उसमें यदि वेद अर्थात् धर्मके शुद्ध ज्ञानरूपी पत्ते न हो तो वह शोभा नही दे सकता। इस प्रकार ससारका यथार्थ ज्ञान जिसे है और जो धर्मको जाननेवाला है वह ज्ञानी है।

गुणोके स्पर्शद्वारा बढी हुई और विषयरूपी कोपलोवाली उस अश्वत्थकी डालिया नीचे-ऊपर फैली हुई है, कर्मोका बधन करनेवाली उसकी जडे मनुष्यलोकमे नीचे फैली हुई है। २

टिप्पणी—यह ससारवृक्षका अज्ञानीकी दृष्टिवाला

वर्णन है। उसके ऊंचे ईश्वरमें रहनेवाले मूलको वह नहीं देखता बल्कि विषयोंकी रमणीयतापर मुग्ध रहकर तीनों गुणोंद्वारा उस वृक्षका पोषण करता है और मनुष्यलोकमें कर्मपाशमें बंधा हुआ रहता है।

उसका यथार्थ स्वरूप देखनेमें नहीं आता। उसका अंत नहीं है, आदि नहीं है, नींव नहीं है। खूब गहराई-तक गई हुई जड़ोंवाले इस अश्वत्थवृक्षको असंगरूपी बलवान शस्त्रसे काटकर मनुष्य यह प्रार्थना करे— 'जिसने सनातन प्रवृत्ति—माया—को फैलाया है उस आदि पुरुषकी मैं शरण जाता हूं।' और उस पदको खोजे जिसे पानेवालेको पुनः जन्ममरणके फेरमें पड़ना नहीं पड़ता। ३-४

टिप्पणी—असंगसे मतलब है असहयोग, वैराग्य। जबतक मनुष्य विषयोंसे असहयोग न करे, उनके प्रलो-भनोंसे दूर न रहे तबतक वह उनमें फंसता ही रहेगा। इस श्लोकका आशय यह है कि विषयोंके साथ खेल खेलना और उनसे अछूते रहना यह अनहोनी बात है।

जिसने मान-मोहका त्याग किया है, जिसने आसक्तिसे होनेवाले दोषोंको दूर किया है, जो आत्मामें नित्य निमग्न है, जिसके विषय शांत होगये हैं, जो सुखदुःखरूपी द्वन्द्वोंसे मुक्त है वह ज्ञानी अविनाशी पदको पाता है। ५

जहां सूर्यको, चंद्रको या अग्निको प्रकाश नहीं देना पड़ता, जहां जानेवालेको फिर जन्मना नहीं पड़ता, वह मेरा परमधाम है। ६

मेरा ही सनातन अश जीवलोकमे जीव होकर प्रकृतिमे रहनेवाली पाच इद्रियोको और मनको आकर्षित करता है। ७

(जीव बना हुआ यह मेरा अशरूपी) ईश्वर जब शरीर धारण करता है या छोडता है तब यह उसी तरह (मनके साथ इद्रियोको) साथ ले जाता है जैसे वायु आसपासके मडलमेसे गध ले जाता है। ८

और वह कान, आख, त्वचा, जीभ, नाक और मनका आश्रय लेकर विपयोका सेवन करता है। ९

टिप्पणी—यहा 'विषय' शब्दका अर्थ बीभत्स विलास नही है, बल्कि प्रत्येक इद्रियकी स्वाभाविक क्रिया है, जैसे आखका विषय है देखना, कानका सुनना, जीभका चखना। ये क्रियाए जब विकारवाली, अहभाववाली होती है तब दूषित—बीभत्स ठहरती है। जब निर्विकार होती है तब वे निर्दोष है। बच्चा आख से देखता या हाथसे छूता हुआ विकार नही पाता, इसलिए नीचेके श्लोकमे कहते है—

(शरीरका) त्याग करनेवाले या उसमे रहनेवाले अथवा गुणोका आश्रय लेकर भोग भोगनेवालेको (इस अशरूपी ईश्वरको), मूर्ख नही देखते, किंतु दिव्यचक्षु ज्ञानी देखते है। १०

यत्न करते हुए योगीजन अपनेमे स्थित (इस ईश्वर) को देखते हैं। जिन्होने आत्म-शुद्धि नही की है, ऐसे मूढजन यत्न करते हुए भी इसे नही पहचानते। ११

टिप्पणी—इसमें और नवें अध्यायमें दुराचारीको भगवानने जो वचन दिया है उसमें विरोध नहीं है। अकृतात्मासे तात्पर्य है भक्तिहीन, स्वेच्छाचारी, दुराचारी। जो नम्रतापूर्वक श्रद्धासे ईश्वरको भजता है वह आत्मशुद्ध हो जाता है और ईश्वरको पहचानता है। जो यम-नियमादिकी परवा न कर केवल बुद्धिप्रयोगसे ईश्वरको पहचानना चाहते हैं, वे अचेता—चित्तसे रहित, रामसे रहित, रामको नहीं पहचान सकते।

सूर्यमें विद्यमान जो तेज समूचे जगतको प्रकाशित करता है और जो तेज चंद्रमें तथा अग्निमें विद्यमान है, वह मेरा है, ऐसा जान। १२

पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी शक्तिसे मैं प्राणियोंको धारण करता हूं और रसोंको उत्पन्न करनेवाला चंद्र बनकर समस्त वनस्पतियोंका पोषण करता हूं। १३

प्राणियोंके शरीरका आश्रय लेकर जठराग्नि होकर प्राण और अपान वायुद्वारा मैं चार प्रकारका अन्न पचाता हूं। १४

सबके हृदयोंमें अधिष्ठित मेरे द्वारा स्मृति, ज्ञान और उनका अभाव होता है। समस्त वेदोंद्वारा जानने योग्य मैं ही हूं, वेदोंका जाननेवाला मैं हूं, वेदांतका प्रकट करनेवाला भी मैं ही हूं। १५

इस लोकमें क्षर अर्थात् नाशवान और अक्षर अर्थात् अविनाशी दो पुरुष हैं। भूतमात्र क्षर हैं और उनमें जो स्थिर रहनेवाला अंतर्यामी है वह अक्षर कहलाता है। १६

इसके सिवा उत्तम पुरुष और है। वह परमात्मा कहलाता है। यह अव्यय ईश्वर तीनों लोकमे प्रवेश करके उनका पोषण करता है। १७

क्योकि मैं क्षरसे-पर और अक्षरसे भी उत्तम हू, इसलिए वेदो और लोकोमे पुरुषोत्तम नामसे प्रख्यात हूं। १८

हे भारत! मोहरहित होकर मुझ पुरुपोत्तमको इस प्रकार जो जानता है वह सब जानता है और मुझे पूर्णभाव से भजता है। १९

हे अनघ! यह गुह्य-से-गुह्य शास्त्र मैंने तुझसे कहा। हे भारत! इसे जानकर मनुष्यको चाहिए कि वह बुद्धिमान बने और अपना जीवन सफल करे। २०

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसवादका 'पुरुषोत्तमयोग' नामक पद्रहवा अध्याय।

: १६ :

दैवासुरसंपद्विभागयोग

इस अध्यायमे दैवी और आसुरी संपद्का वर्णन है।

श्रीभगवान बोले—

हे भारत! अभय, अत करणकी शुद्धि, ज्ञान और योगमे निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता,

अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शांति, अपैशुन, भूतदया, अलोलुपता, मृदुता, मर्यादा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, निरभिमान—इतने गुण उसमें होते हैं जो दैवी संपत्को लेकर जन्मा है। १-३

टिप्पणी—दम अर्थात् इंद्रियनिग्रह, अपैशुन अर्थात् किसीकी चुगली न खाना, अलोलुपता अर्थात् लालसा न रखना—लंपट न होना, तेज अर्थात् प्रत्येक प्रकार-की हीन वृत्तिका विरोध करनेका जोश, अद्रोह अर्थात् किसीका बुरा न चाहना या करना।

दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, अज्ञान, हे पार्थ! इतने आसुरी संपत् लेकर जन्मनेवालोंमें होते हैं। ४

टिप्पणी—जो अपनेमें नहीं है वह दिखाना दंभ है, ढोंग है, पाखंड है। दर्प यानी बड़ाई, पारुष्यका अर्थ है कठोरता।

दैवी संपत् मोक्ष देनेवाली और आसुरी (संपत्) बंधनमें डालनेवाली मानी गई है। हे पांडव! तू विषाद मत कर। तू दैवी संपत् लेकर जन्मा है। ५

इस लोकमें दो प्रकारकी सृष्टि है—दैवी और आसुरी। हे पार्थ! दैवीका विस्तारसे वर्णन किया गया। आसुरीका (अब) सुन। ६

आसुर लोग यह नहीं जानते कि प्रवृत्ति क्या है निवृत्ति क्या है। वैसे ही उन्हें शौचका, आचारका और सत्यका भान नहीं है। ७

वे कहते हैं, जगत असत्य, निराधार और ईश्वर-

रहित है। केवल नर-मादाके सबधसे हुआ है। उसमे विषय-भोगके सिवा और क्या हेतु हो सकता है ? ८

भयकर काम करनेवाले, मदमति, दुष्टगण इस अभिप्रायको पकडे हुए जगतके शत्रु, उसके नाशके लिए उत्पन्न होते है। ९

तृप्त न होनेवाली कामनाओसे भरपूर, दभी, मानी, मदाध, अशुभ निश्चयवाले मोहसे दुष्ट इच्छाए ग्रहण करके प्रवृत्त होते है। १०

प्रलयपर्यंत अत ही न होनेवाली ऐसी अपरिमित चिताका आश्रय लेकर, कामोके परमभोगी, 'भोग ही सर्वस्व है', ऐसा निश्चय करनेवाले, सैकडो आशाओके जालमे फसे हुए, कामी, क्रोधी, विषयभोगके लिए अन्यायपूर्वक धन-सचयकी चाह रखते है। ११-१२

आज मैने यह पाया, यह मनोरथ (अब) पूरा करूगा, इतना धन मेरे पास है, फिर कल इतना और मेरा हो जायगा, इस शत्रुको तो मारा, दूसरेको भी मारूंगा, मै सर्वसंपन्न हू, भोगी हू, सिद्ध हू, बलवान हू, सुखी हू, मै श्रीमान् हू, कुलीन हू, मेरे समान दूसरा कौन है ? मै यज्ञ करूगा, दान दूगा, मौज करूगा—अज्ञानसे मूढ हुए लोग ऐसा मानते है और अनेक भ्रातियोमे पडे, मोहजालमे फसे, विषयभोगमे मस्त हुए अशुभ नरकमे गिरते है। १३-१६

अपनेको बड़ा माननेवाले, अकड़बाज, धन तथा मानके मदमे मस्त हुए (ये लोग) दभसे और विधि-रहित नाममात्रके ही यज्ञ करते है। १७

अहकार, वल, घमड, काम और क्रोधका आश्रय लेनेवाले, निदा करनेवाले और उनमे तथा दूसरोमे रहनेवाला जो मैं, उसका वे द्वेप करनेवाले है। १८

इन नीच, द्वेपी, क्रूर अमंगल नराधमोको मैं इस ससारकी अत्यत आसुरी योनिमे ही वारवार डालता हू। १६

हे कौंतेय! जन्म-जन्म आसुरी योनिको पाकर और मुझे न पानेसे ये मूढ लोग इससे भी अधिक अधम गति पाते हैं। २०

आत्माका नाश करनेवाले नरकके ये त्रिविध द्वार है—काम, क्रोध और लोभ। इसलिए इन तीनका मनुष्यको त्याग करना चाहिए। २१

हे कौंतेय! इस त्रिविध नरकद्वारसे दूर रहनेवाला मनुष्य आत्माके कल्याणका आचरण करता है और इससे परम गतिको पाता है। २२

जो मनुष्य शास्त्रविधिको छोड़कर स्वेच्छासे भोगोमे लीन होता है वह न सिद्धि पाता है, न सुख पाता है, न परमगति पाता है। २३

टिप्पणी—शास्त्रविधिका अर्थ धर्मके नामसे माने जानेवाले ग्रथोमे वतलाई हुई अनेक क्रियाए नही, बल्कि अनुभव-ज्ञानवाले सत्पुरुषोका अनुभव किया हुआ संयम मार्ग है।

इसलिए कार्य और अकार्यका निर्णय करनेमे तुझे शास्त्रको प्रमाण मानना चाहिए। शास्त्रविधि क्या है, यह जानकर यहा तुझे कर्म करना उचित है। २४

टिप्पणी—जो ऊपर बतलाया जा चुका है, शास्त्र-का वही अर्थ यहा भी है। सबको निज-निजके नियम बनाकर स्वेच्छाचारी न बनना चाहिए, बल्कि धर्मके अनुभवीके वाक्यको प्रमाण मानना चाहिए, यह इस श्लोकका आशय है।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्म-विद्यातर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसवादका 'दैवासुर-सपद्विभागयोग' नामक सोलहवा अध्याय।

: १७ :

श्रद्धात्रयविभागयोग

शास्त्र अर्थात् शिष्टाचारको प्रमाण मानना चाहिए, यह सुनकर अर्जुनको शका हुई कि जो शिष्टाचारको न मान सके, पर श्रद्धापूर्वक आचरण करे उसकी कैसी गति होती है। इस अध्यायमें इसका उत्तर देनेका प्रयत्न है, परतु शिष्टाचाररूपी दीपस्तभ छोड देनेके बादकी श्रद्धामे भयोकी सभावना बतला-कर भगवानने सतोष माना है। इसलिए श्रद्धा और उसके आधारपर होनेवाले यज्ञ, तप, दान आदिके गुणानुसार तीन भाग करके दिखाये है और 'ॐ तत्सत्' की महिमा गाई है।

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! शास्त्रविधि अर्थात् शिष्टाचारकी परवा न कर जो केवल श्रद्धासे ही पूजादि करते है उनकी गति

कैसी होती है ?—सात्त्विक, राजसी वा तामसी ? १

श्रीभगवान बोले—

मनुष्यमे स्वभावसे ही तीन प्रकारकी श्रद्धा अर्थात् सात्त्विक, राजसी और तामसी होती है, वह तू सुन। २

हे भारत ! सबकी श्रद्धा अपने स्वभावका अनुसरण करती है। मनुष्यमे कुछ-न-कुछ श्रद्धा तो होती ही है। जैसी जिसकी श्रद्धा, वैसा वह होता है। ३

सात्त्विक लोग देवताओंको भजते हैं, राजस लोग यक्षो और राक्षसोंको भजते हैं और दूसरे तामस लोग भूतप्रेतादिको भजते हैं। ४

दम्भ और अहकारवाले, काम और रागके बलसे प्रेरित जो लोग शास्त्रीय विधिसे रहित घोर तप करते हैं, वे मूढ लोग शरीरमे स्थित पच महाभूतोंको और अत करणमें विद्यमान मुझको भी कष्ट देते हैं। ऐसोंको आसुरी-निश्चयवाला जान। ५-६

आहार भी तीन प्रकारसे प्रिय होता है। उसी प्रकार, यज्ञ तप और दान (भी तीन प्रकारसे प्रिय होना) है। उसका यह भेद तू सुन। ७

आयुष्य, सात्त्विकता, बल, आरोग्य, सुख और रुचि बढानेवाले, रसदार, चिकने, पौष्टिक और मनको रुचिकर आहार सात्त्विक लोगोंको प्रिय होते हैं। ८

तीखे, खट्टे, खारे, बहुत गरम, चरपरे, रूखे, दाहकारक आहार राजस लोगोंको प्रिय होते हैं और वे दु ख, शोक तथा रोग उत्पन्न करनेवाले होते हैं। ९

पहरभरसे पड़ा हुआ नीरस, दुर्गंधित, बासी, जूठा,

अपवित्र भोजन तामस लोगोको प्रिय होता है। १०

जिसमें फलकी इच्छा नही है, जो विधिपूर्वक कर्त्तव्य समझकर, मनको उसमे पिरोकर होता है वह यज्ञ सात्त्विक है। ११

हे भरतश्रेष्ठ ! जो फलके उद्देश्यसे और दभसे होता है उस यज्ञको राजसी जान। १२

जिसमे विधि नही है, अन्नकी उत्पत्ति नही है, मत्र नही है, त्याग नही है, श्रद्धा नही है, उस यज्ञको बुद्धिमान लोग तामस यज्ञ कहते है। १३

देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीकी पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिसा—यह शारीरिक तप कहलाता है। १४

दु.ख न देनेवाला, सत्य, प्रिय, हितकर वचन तथा धर्मग्रंथोका अभ्यास—यह वाचिक तप कहलाता है। १५

मनकी प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्मसयम, भावनाशुद्धि यह मानसिक तप कहलाता है। १६

समभावयुक्त पुरुष जब फलेच्छाका त्याग करके परम श्रद्धापूर्वक यह तीन प्रकारका तप करते है तब उसे बुद्धिमान लोग सात्त्विक तप कहते है। १७

जो सत्कार, मान और पूजाके लिए दभपूर्वक होता है वह अस्थिर और अनिश्चित तप, राजस कहलाता है। १८

जो तप कष्ट उठाकर, दुराग्रहपूर्वक अथवा दूसरेके नाशके लिए होता है वह तामस तप कहलाता है। १९

देना उचित है ऐसा समझकर, बदला मिलनेकी आशाके विना, देश, काल और पात्रको देखकर जो दान होता है उसे सात्त्विक दान कहा गया है। २०

जो दान बदला मिलनेके लिए अथवा फलको लक्ष्यकर और दु खके साथ दिया जाता है वह राजसी दान कहा गया है। २१

देश, काल और पात्रका विचार किये विना, विना मानके, तिरस्कारसे दिया हुआ दान, तामसी कहलाता है। २२

ब्रह्मका वर्णन 'ॐ तत् सत्' इस तरह तीन प्रकारसे हुआ है और इसके द्वारा पूर्वकालमें ब्राह्मण, वेद और यज्ञ निर्मित हुए। २३

इसलिए ब्रह्मवादी 'ॐ' का उच्चारण करके यज्ञ, दान और तपरूपी क्रियाए सदा विधिवत् करते है। २४

और, मोक्षार्थी 'तत्' का उच्चारण करके फलकी आशा रखे विना यज्ञ, तप और दानरूपी विविध क्रियाएं करते हैं। २५

सत्य और कल्याणके अर्थमे 'सत्' शब्दका प्रयोग होता है। और हे पार्थ ! भले कामोमें भी 'सत्' शब्द व्यवहृत होता है। २६

यज्ञ, तप और दानमे दृढताको भी सत् कहते हैं। तत्के निमित्त ही कर्म है, ऐसा सकल्प भी सत् कहलाता है। २७

टिप्पणी—उपरोक्त तीन श्लोकोका भावार्थ यह हुआ कि प्रत्येक कर्म ईश्वरार्पण करके ही करना चाहिए,

क्योंकि ॐ ही सत् है, सत्य है। उसे अर्पण किया हुआ ही फलता है।

हे पार्थ ! जो यज्ञ, दान, तप या दूसरा कार्य बिना श्रद्धाके होता है वह असत् कहलाता है। वह न तो यहांके कामका है, न परलोकके। २८

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'श्रद्धात्रयविभागयोग' नामक सत्रहवां अध्याय।

: १८ :

संन्यासयोग

इस अध्यायको उपसंहाररूप मानना चाहिए। इस अध्याय का या गीताका प्रेरक मन्त्र यह कहा जा सकता है—'सब धर्मोंको तजकर मेरी शरण ले।' यह सच्चा सन्यास है, परन्तु सब धर्मोंके त्यागका मतलब सब कर्मोंका त्याग नहीं है। परोपकारके कर्मोंमें भी जो सर्वोत्कृष्ट कर्म हो उन्हें उसे अर्पण करना और फलेच्छाका त्याग करना, यह सर्वधर्मत्याग या सन्यास है।

अर्जुन बोले—

हे महाबाहो ! हे हृषीकेश ! हे केशिनिषूदन ! सन्यास और त्यागका पृथक्-पृथक् रहस्य मैं जानना चाहता हूं। १

श्रीभगवान बोले—

काम्य (कामनासे उत्पन्न हुए) कर्मोंके त्यागको

ज्ञानी सन्यासके नामसे जानते है। समस्त कर्मोंके फलके त्यागको बुद्धिमान लोग त्याग कहते है। २

कितने ही विचारवान पुरुष कहते हैं कि कर्ममात्र दोषमय होनेके कारण त्यागनेयोग्य है। दूसरोंका कथन है कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागनेयोग्य नही है। ३

हे भरतसत्तम ! इस त्यागके विषयमे मेरा निर्णय सुन। हे पुरुषव्याघ्र ! त्याग तीन प्रकारसे वर्णन किया गया है। ४

यज्ञ, दान और तपस्वी कर्म त्याज्य नहीं हैं वरन् करनेयोग्य है। यज्ञ, दान और तप विवेकीको पावन करनेवाले है। ५

हे पार्थ ! ये कर्म भी आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके करने चाहिए, ऐसा मेरा निश्चित उत्तम अभिप्राय है। ६

नियत कर्मका त्याग उचित नही है। मोहके वश होकर उसका त्याग किया जाय तो वह त्याग तामस माना जाता है। ७

दुःखकारक समझकर कायाकष्टके भयसे जो कर्मका त्याग करता है वह राजस त्याग है और इससे उसे त्यागका फल नहीं मिलता। ८

हे अर्जुन ! करना चाहिए, ऐसा समझकर जो नियत कर्म संग और फलको त्यागकर किया जाता है वह त्याग ही सात्त्विक माना गया है। ९

सशयरहित हुआ, शुद्ध भावनावाला, त्यागी और

बुद्धिमान असुविधाजनक कर्मका द्वेष नही करता, सुविधावालेमे लीन नही होता । १०

कर्मका सर्वथा त्याग देहधारीके लिए सम्भव नही है , परन्तु जो कर्मफलका त्याग करता है वह त्यागी कहलाता है । ११

त्याग न करनेवालेके कर्मका फल कालांतरमे तीन प्रकारका होता है, अशुभ, शुभ और शुभाशुभ । जो त्यागी (सन्यासी) है उसे कभी नही होता । १२

हे महाबाहो ! कर्ममात्रकी सिद्धिके विषयमे साख्यशास्त्रमे पाच कारण कहे गये है। वे मुझसे जान । १३

वे पाच ये है—क्षेत्र, कर्ता, भिन्न-भिन्न साधन, भिन्न-भिन्न क्रियाए और पाचवा दैव । १४

शरीर, वाचा अथवा मनसे जो कोई भी कर्म मनुष्य नीतिसम्मत या नीतिविरुद्ध करता है उसके ये पाच कारण होते है। १५

ऐसा होनेपर भी, असस्कारी बुद्धिके कारण जो अपनेको ही कर्ता मानता है वह दुर्मति कुछ समझता नही है । १६

जिसमे अहकारभाव नही है, जिसकी बुद्धि मलिन नही है, वह इस जगतको मारते हुए भी नही मारता, न बन्धनमे पडता है। १७

टिप्पणी—ऊपर-ऊपरसे पढनेपर यह श्लोक मनुष्यको भुलावेमे डालनेवाला है। गीताके अनेक श्लोक काल्पनिक आदर्शका अवलबन करनेवाले है। उसका

सच्चा नमूना जगतमे नही मिल सकता और उपयोगके लिए भी जिस तरह रेखागणितमे काल्पनिक आदर्श आकृतियोकी आवश्यकता है उसी तरह धर्म-व्यवहारके लिए है। इसलिए इस श्लोकका अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—जिसकी अहता नष्ट होगई है और जिसकी बुद्धिमे लेशमात्र भी मैल नही है, उसके लिए कह सकते हैं कि वह भले ही सारे जगतको मार डाले, परन्तु जिसमे अहता नही है उसे शरीर ही नही है। जिसकी बुद्धि विशुद्ध है वह त्रिकालदर्शी है। ऐसा पुरुष तो केवल एक भगवान हैं। वह करते हुए भी अकर्ता है, मारते हुए भी अहिंसक हैं। इससे मनुष्यके सामने तो एक न मारनेका और शिष्टाचार—शास्त्र—का ही मार्ग है।

कर्मकी प्रेरणामे तीन तत्त्व विद्यमान है—ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता। कर्मके अग तीन प्रकारके होते हैं—इंद्रिया, क्रिया और कर्ता। १८

टिप्पणी—इसमे विचार और आचारका समीकरण है। पहले मनुष्य कर्त्तव्य कर्म (ज्ञेय), उसकी विधि (ज्ञान) को जानता है—परिज्ञाता बनता है। इस कर्मप्रेरणाके प्रकारके बाद वह इद्रियो (करण) द्वारा क्रियाका कर्ता बनता है। यह कर्मसग्रह है।

ज्ञान, कर्म और कर्ता गुणभेदके अनुसार तीन प्रकारके है। गुणगणनामे उनका जैसा वर्णन किया जाता है वैसा सुन। १९

जिसके द्वारा मनुष्य समस्त भूतोमे एक ही अवि-

नाशी भावको और विविधतामे एकताको देखता है उसे सात्त्विक ज्ञान जान। २०

भिन्न-भिन्न (देखनेमे) होनेके कारण समस्त भूतोमे जिसके द्वारा मनुष्य भिन्न-भिन्न विभक्त भावोको देखता है उस ज्ञानको राजस जान। २१

जिसके द्वारा एक ही कार्यमे बिना किसी कारणके सब आ जानेका भास होता है, जो रहस्यरहित और तुच्छ है वह तामस ज्ञान कहलाता है। २२

फलेच्छारहित पुरुषका आसक्ति और राग-द्वेषके बिना किया हुआ नियत कर्म सात्त्विक कहलाता है। २३

टिप्पणी—(देखो, टिप्पणी ३-८)

भोगकी इच्छा रखनेवाले जिस कार्यको 'मै करता हू', इस भावसे बडे आयासपूर्वक कहते है वह राजस कहलाता है। २४

मनुष्य जो काम परिणामका, हानिका, हिंसाका और अपनी शक्तिका विचार किये विना, मोहके वश होकर आरभ करता है वह तामस कर्म कहलाता है। २५

जो आसक्ति और अहकाररहित है, जिसमे दृढता और उत्साह है, जो सफलता-निष्फलतामे हर्ष-शोक नही करता वह सात्त्विक कर्ता कहलाता है। २६

जो रागी है, जो कर्मफलकी इच्छावाला है, लोभी है, हिंसावान है, मलिन है, हर्ष और शोकवाला है, वह राजस कर्ता कहलाता है।। २७

जो अव्यवस्थित, असस्कारी, झक्की, शठ, नीच, आलसी, अप्रसन्नचित्त और दीर्घसूत्री है, वह तामस

कर्ता कहलाता है। २८

हे धनजय ! बुद्धि और धृतिके गुणके अनुसार पूरे और पृथक्-पृथक् तीन प्रकार कहता हू, उन्हे सुन। २९

प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य, अकार्य, भय, अभय, बध, मोक्षका भेद जो बुद्धि (उचित रीतिसे) जानती है वह सात्त्विक बुद्धि है। ३०

जो बुद्धि धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्यका विवेक गलत ढगसे करती है, वह बुद्धि, हे पार्थ ! राजसी है। ३१

हे पार्थ ! जो बुद्धि अधकारसे घिरी हुई है, अधर्मको धर्म मानती है और सब बाते उलटी ही देखती है वह तामसी है। ३२

हे पार्थ ! जिस एकनिष्ठ धृतिसे मनुष्य मन, प्राण और इद्रियोकी क्रियाको साम्यबुद्धिसे धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है। ३३

हे पार्थ ! जिस धृतिसे मनुष्य फलाकांक्षी होकर धर्म, काम और अर्थको आसक्तिपूर्वक धारण करता है वह धृति राजसी है। ३४

जिस धृतिसे दुर्बुद्धि मनुष्य निद्रा, भय, शोक, निराशा और मदको छोड नही सकता, हे पार्थ ! वह तामसी धृति है। ३५

हे भरतर्षभ ! अब तीन प्रकारके सुखका वर्णन मुझसे सुन। जिसके अभ्याससे मनुष्य प्रसन्न रहता है, जिससे दु खका अंत होता है, जो आरभमे विषसमान

लगता है, परिणाममे अमृत-जैसा होता है, जो आत्म-ज्ञानकी प्रसन्नतामेसे उत्पन्न होता है, वह सात्त्विक सुख कहलाता है। ३६-३७

विषय और इद्रियोके सयोगसे जो आरभमे अमृत-समान लगता है पर परिणाममे विषसमान होता है, वह सुख राजस कहा गया है। ३८

जो आरंभमे और परिणाममें आत्माको मोहग्रस्त करनेवाला और निद्रा, आलस्य तथा प्रमादमेसे उत्पन्न हुआ है, वह तामस सुख कहलाता है। ३९

पृथ्वी मे या देवताओके मध्य स्वर्गमे ऐसा कुछ भी नही है जो प्रकृतिमे उत्पन्न हुए इन तीन गुणोसे मुक्त हो। ४०

हे परतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके कर्मोके भी उनके स्वभावजन्य गुणोके कारण विभाग होगये है। ४१

शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता ज्ञान, अनुभव, आस्तिकता—ये ब्राह्मणके स्वभावजन्य कर्म है। ४२

शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्धमे पीठ न दिखाना, दान, शासन—ये क्षत्रियके स्वभावजन्य कर्म है। ४३

खेती, गोरक्षा, व्यापार—ये वैश्यके स्वभावजन्य कर्म है। और शूद्रका स्वभावजन्य कर्म सेवा है। ४४

स्वय अपने कर्ममे रत रहकर पुरुष मोक्ष पाता है। अपने कर्ममे रत हुआ मनुष्य किस प्रकार मोक्ष पाता है, सो सुन। ४५

जिसके- द्वारा प्राणियोकी प्रवृत्ति होती है और जिसके द्वारा यह सारे-का-सारा व्याप्त है उसे जो पुरुष स्वकर्मद्वारा भजता है वह मोक्ष पाता है। ४६

परधर्म सुकर होनेपर भी उससे विगुण स्वधर्म अधिक अच्छा है। स्वभावके अनुरूप कर्म करनेवाले मनुष्यको पाप नही लगता। ४७

टिप्पणी—स्वधर्म अर्थात् अपना कर्त्तव्य। गीताकी शिक्षाका मध्यबिंदु कर्मफलत्याग है और स्वकर्मकी अपेक्षा अधिक उत्तम कर्त्तव्य खोजनेपर फलत्याग-के लिए स्थान नही रहता, इसलिए स्वधर्मको श्रेष्ठ कहा है। सब धर्मोका फल उसके पालनमे आ जाता है।

हे कौंतेय ! स्वभावत प्राप्त कर्म, सदोष होनेपर भी छोडना न चाहिए। जिस प्रकार अग्निके साथ धुएका सयोग है उसी प्रकार सब कामोके साथ दोष मौजूद है। ४८

जिसने सब कहींसे आसक्तिको खीच लिया है, जिसने कामनाओको त्याग दिया है, जिसने मनको जीत लिया है, वह संन्यासद्वारा निष्कामतारूपी परम-सिद्धि पाता है। ४६

हे कौंतेय ! सिद्धि प्राप्त होनेपर मनुष्य ब्रह्मको किस प्रकार पाता है, सो मुझसे सक्षेपमे सुन। ज्ञानकी पराकाष्ठा वही है। ५०

जिसकी बुद्धि शुद्ध होगई है, ऐसा योगी दृढतापूर्वक अपनेको वशमे करके, शब्दादि विषयोका त्याग कर, रागद्वेपको जीतकर, एकांत सेवन करके,

अल्पाहार करके, वाचा, काया और मनको अकुशमे रखकर, ध्यानयोगमे नित्यपरायण रहकर, वैराग्यका आश्रय लेकर, अहकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग कर, ममतारहित और शात होकर ब्रह्मभावको पानेयोग्य बनता है। ५१-५३

ब्रह्मभावको प्राप्त प्रसन्नचित्त मनुष्य न तो शोक करता है, न कुछ चाहता है। भूतमात्रमे समभाव रखकर मेरी परमभक्तिको पाता है। ५४

मै कैसा और कौन हू इसे भक्तिद्वारा वह यथार्थ जानता है और इस प्रकार मुझे यथार्थ जानकर मुझमे प्रवेश करता है। ५५

मेरा आश्रय ग्रहण करनेवाला सदा सब कर्म करता हुआ भी मेरी कृपासे शाश्वत, अव्ययपदको पाता है। ५६

मनसे सब कर्मो को मुझमे अर्पण करके, मुझमे परायण होकर, विवेकबुद्धिका आश्रय लेकर निरतर मुझमे चित्त लगा। ५७

मुझमे चित्त लगानेपर कठिनाइयोके समस्त पहाड़को मेरी कृपासे पार कर जायगा, किंतु यदि अहकारके वश होकर मेरी न सुनेगा तो नाश हो जायगा। ५८

अहकारके वश होकर 'मै युद्ध नही करूगा' ऐसा तू मानता हो तो यह तेरा निश्चय मिथ्या है। तेरा स्वभाव ही तुझे उस तरफ बलात्कार से घसीट ले जायगा। ५९

हे कौतेय ! अपने स्वभावजन्य कर्मसे बद्ध होनेके

कारण तू जो मोह के वश होकर नहीं करना चाहता वह बरवस करेगा । ६०

हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियोंके हृदयमे वास करता है और अपनी मायाके बलसे उन्हे चाकपर चढ़े हुए घडेकी तरह घुमाता है । ६१

हे भारत ! सर्वभावसे तू उसकी शरण ले । उसकी कृपासे परमशातिमय अमरपद को पावेगा । ६२

इस प्रकार गुह्य-से-गुह्य ज्ञान मैंने तुझसे कहा । इस सारेका भलीभांति विचार करके तुझे जो अच्छा लगे सो कर । ६३

और सबसे भी गुह्य ऐसा मेरा परमवचन सुन । तू मुझे बहुत प्रिय है, इसलिए मैं तुझसे तेरा हित कहूंगा । ६४

मुझसे लगन लगा, मेरा भक्त बन, मेरेलिए यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर । तू मुझे ही प्राप्त करेगा, यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है । तू मुझे प्रिय है । ६५

सब धर्मोका त्याग करके एक मेरी ही शरण ले । मैं तुझे सब पापोसे मुक्त करूगा । शोक मत कर । ६६

जो तपस्वी नही है, जो भक्त नही है, जो सुनना नही चाहता और जो मेरा द्वेष करता है, उससे यह (ज्ञान) तू कभी न कहना । ६७

परतु वह परम गुह्य ज्ञान जो मेरे भक्तोंको देगा वह मेरी परम भक्ति करनेके कारण नि सन्देह मुझे ही पावेगा । ६८

उसकी अपेक्षा मनुष्योमे मेरा कोई अधिक प्रिय

सेवक नही है और इस पृथ्वीमे उसकी अपेक्षा मुझे कोई अधिक प्रिय होनेवाला भी नही है। ६९

हमारे इस धर्म्यसंवादका जो अभ्यास करेगा, वह मुझे यज्ञद्वारा भजेगा, ऐसा मेरा मत है। ७०

और जो मनुष्य द्वेषरहित होकर श्रद्धापूर्वक केवल सुनेगा वह भी मुक्त होकर, पुण्यवान जहा बसते है, उस शुभलोकको पावेगा। ७१

टिप्पणी—इसमे तात्पर्य यह है कि जिसने इस ज्ञान का अनुभव किया है वही इसे दूसरे को दे सकता है। शुद्ध उच्चारण करके अर्थसहित सुना जानेवालोके विषयमे ये दोनो श्लोक नही है।

हे पार्थ! यह तूने एकाग्रचित्तसे सुना? हे धनंजय! इस अज्ञानके कारण जो मोह तुझे हुआ था वह क्या नष्ट होगया? ७२

अर्जुन बोले—

हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नाश होगया है। मुझे समझ आगई है, शंकाका समाधान हो जानेसे मैं स्वस्थ होगया हू। आपका कहा करूंगा। ७३

संजयने कहा—

इस प्रकार वासुदेव और महात्मा अर्जुन का यह रोमांचित करनेवाला संवाद मैंने सुना। ७४

व्यासजीकी कृपासे योगेश्वर श्रीकृष्णके श्रीमुखसे मैंने यह गुह्य परम योग सुना। ७५

हे राजन्! केशव और अर्जुनके इस अद्भुत और

पवित्र सवादका स्मरण कर-करके, मैं बारबार आनदित होता हू । ७६

हे राजन् ! हरिके उस अद्भुत रूपका खूब स्मरण कर-करके मैं बहुत विस्मित होता हू और बारबार आनदित होता रहता हू । ७७

जहां योगेश्वर कृष्ण है, जहा धनुर्धारी पार्थ है, वहा श्री है, विजय है, वैभव है और अविचल नीति है, ऐसा मेरा अभिप्राय है । ७८

टिप्पणी—योगेश्वर कृष्णसे तात्पर्य है अनुभवसिद्ध शुद्ध ज्ञान और धनुर्धारी अर्जुनसे अभिप्राय है तदनुसारिणी क्रिया, इन दोनोका सगम जहा हो, वहा सजयने जो कहा है उसके सिवा दूसरा क्या परिणाम हो सकता है ?

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यातर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'सन्यासयोग' नामक अठारहवा अध्याय ।

ॐ शाति

श्रीमद्भगवद्गीता

[मूल संस्कृत-पाठ]

प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सव ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सजय ॥ १ ॥

सजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीक व्यूढ दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥
पश्यैता पाण्डुपुत्राणामाचार्य महती चमूम् ।
व्यूढा द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथ ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितान काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गव ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथा ॥ ६ ॥
अस्माक तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य सज्ञार्थ तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥
अन्ये च बहव. शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणा सर्वे युद्धविशारदा ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥
अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥
तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥
अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागता. ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षव ॥२३॥

सजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनायोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखत सर्वेषा च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थं पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थं
पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्
पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेय सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥
गाण्डीवं स्रसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातु भ्रमतीव च मे मन· ॥३०॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥
यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥
गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥
न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव
पृच्छामि त्वा धर्मसमूढचेता ।
यच्छ्रेय. स्यान्निश्चित ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मा त्वा प्रपन्नम् ॥ ७ ॥
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्ध
राज्य सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेश गुडाकेश परतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णी बभूव ह ॥ ९ ॥
तमुवाच हृषीकेश प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिद वच ॥१०॥

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्व प्रज्ञावादाश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिता ॥१२॥
न त्वेवाह जातु नास न त्व नेमे जनाधिपा ।
न चैव न भविष्याम सर्वे वयमत परम् ॥१२॥
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमार यौवन जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदु.खदा. ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तास्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥
य हि न व्यथयन्त्येते पुरुष पुरुषर्षभ ।
समदु.खसुख धीर सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत. ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥
अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥
य एन वेत्ति हन्तारं यश्चैन मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्-
नाय भूत्वा भविता वा न भूय ।
अजो नित्य शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथ स पुरुष. पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

वासासि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि सयाति नवानि देही ॥२२॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक. ।
न चैन क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत. ॥२३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्य सर्वगत. स्थाणुरचलोऽय सनातनः ॥२४॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्य ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येन वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

अकीर्तिं चापि भूतानि
कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्ति-
र्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

अवाच्यवादाश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं
जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय
युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥
एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चित ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभ मनः ॥६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्पर. ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥
ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद्भवति संमोह संमोहात्स्मृतिविभ्रम. ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥
प्रसादे सर्वदुःखाना हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धि पर्यवतिष्ठते ॥६५॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयत. शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वश ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने. ॥६९॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेनसांख्याना कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत ।
कार्यते ह्यवश कर्म सर्वं प्रकृतिजैर्गुणै ॥ ५ ॥
कर्मेन्द्रियाणि सयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचार स उच्यते ॥ ६ ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्त स विशिष्यते ॥ ७ ॥
नियत कुरु कर्म त्व कर्म ज्यायो ह्यकर्मण. ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मण. ॥ ८ ॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽय कर्मबन्धन ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्ग समाचर ॥९॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु व ।
परस्पर भावयन्त' श्रेय. परमवाप्स्यथ ॥११॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविता. ।
तैर्दत्तानप्रदायेभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव स ॥१२॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघ पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भव.।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञ कर्मसमुद्भव. ॥१४॥
कर्म ब्रह्मोद्भव विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगत ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥
एव प्रवर्तित चक्र नानुवर्तयतीह य.।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानव ।
आत्मन्येव च सतुष्टस्तस्य कार्य न विद्यते ॥१७॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रय ॥१८॥
तस्मादसक्त सततं कार्य कर्म समाचार ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥
कर्मणैव हि ससिद्धिमास्थिता जनकादय ।
लोकसग्रहमेवापि सपश्यन्कर्तुमर्हस ॥२०॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन ।
स यत्प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥२२॥
यदि ह्यहं न वर्त्तेय जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥
प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥
ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥
श्रेयान्स्वधर्मो विगुण परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेय परधर्मो भयावह ॥३५॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽय पाप चरति पूरुष. ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजित. ॥३६॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥
आवृत ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मान प्रजहि ह्येन ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य पर मन ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु स ॥४२॥
एव बुद्धे पर बुद्ध्वा सस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूप दुरासदम् ॥४३॥

ॐ तत्सत

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्
श्रीकृष्णार्जुनसवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्याय. ॥३

चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इम विवस्वते योग प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥
एव परम्पराप्राप्तमिम राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्ट. परतप ॥ २ ॥
स एवाय मया तेऽद्य योग प्रोक्त पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्य ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

अपर भवतो जन्म पर जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीया त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यह वेद सर्वाणि न त्व वेत्थ परतप ॥ ५ ॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा
भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृति स्वामधिष्ठाय
संभवाम्यात्ममायया ॥६॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिता ।
वहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥
ये यथा मा प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वश ॥११॥
काङ्क्षन्तः कर्मणा सिद्धि यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्र हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्ट गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मा विद्धयकर्तारमव्ययम् ॥१३॥
न मा कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मा योऽभिजानाति कर्मभिर्न स वध्यते ॥१४॥
एव ज्ञात्वा कृत कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभि ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वै पूर्वतर कृतम् ॥१५॥

किं कर्म किमकर्मेति
कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि
यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

कर्मणो ह्यपि वोद्धव्य वोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च वोद्धव्य गहना कर्मणो गति ॥१७॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

यस्य सर्वे समारम्भा. कामसंकल्पवर्जिता ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माण तमाहु. पण्डित बुधा ॥१९॥
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्ग नित्यतृप्तो निराश्रय ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीर केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥
यदृच्छालाभसतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सर ।
सम. सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतस ।
यज्ञायाचरत. कर्म समग्र प्रविलीयते ॥२३॥
ब्रह्मार्पण ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥
दैवमेवापरे यज्ञ योगिन पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये सयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञ योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतय सशितव्रता ॥२८॥
अपाने जुह्वति प्राण प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणा. ॥२९॥
अपरे नियताहारा. प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥
श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं
तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति-
मचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥
योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

सन्यास कर्मणां कृष्ण पुनर्योग च शससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेक तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ।। १ ।।

श्रीभगवानुवाच

सन्यास कर्मयोगश्च नि श्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।। २ ।।
ज्ञेय स नित्यसन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महावाहो सुख बन्धात्प्रमुच्यते ।। ३ ।।
साख्ययोगौ पृथग्वाला प्रवदन्ति न पण्डिता . ।
एकमप्यास्थित सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।। ४ ।।
यत्सांख्यै प्राप्यते स्थान तद्योगैरपि गम्यते ।
एक साख्य च योग च य पश्यति स पश्यति ।। ५ ।।
सन्यासस्तु महावाहो दु खमाप्तुमयोगत ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ।। ६ ।।
योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रिय ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।। ७ ।।
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ।। ८ ।।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।। ९ ।।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति य ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०
कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिन कर्म कुर्वन्ति सङ्ग त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११
युक्त कर्मफल त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्त कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२
सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुख वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३
न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु. ।
न कर्मफलसयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४
नादत्ते कस्यचित्पाप न चैव सुकृतं विभु ।
अज्ञानेनावृत ज्ञान तेन मुह्यन्ति जन्तव. ॥१५
ज्ञानेन तु तदज्ञान येषां नाशितमात्मन ।
तेषामादित्यवज्ज्ञान प्रकाशयति तत्परम् ॥१६
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्ति ज्ञाननिर्धूतकल्मषा ॥१७
विद्याविनयसपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिन ॥१८
इहैव तैर्जित सर्गो येषां साम्ये स्थित मन ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिता ॥१९
न प्रहृष्येत्प्रिय प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थित. ॥२०

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा
विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा
सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥
योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥
स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रित कर्मफल कार्य कर्म करोति य ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रिय ॥ १ ॥
य सन्यासमिति प्राहुर्योग त विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसन्यस्तसकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥
आरुरुक्षोर्मुनेर्योग कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शम कारणमुच्यते ॥ ३ ॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसकल्पसन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥
उद्धरेदात्मनात्मान नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन. ॥ ५ ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥
जितात्मन प्रशान्तस्य परमात्मा समाहित. ।
शीतोष्णसुखदु खेषु तथा मानापमानयो ॥ ७ ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रिय ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥
योगी युञ्जीत सततमात्मान रहसि स्थित. ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रह ॥१०॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मन ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीच चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्र मन. कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रिय' ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥
सम कायशिरोग्रीव धारयन्नचल स्थिर ।
सप्रेक्ष्य नासिकाग्र स्व दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थित ।
मन सयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्पर. ॥१४॥
युञ्जन्नेव सदात्मान योगी नियतमानसः ।
शान्ति निर्वाणपरमा मत्सस्थामधिगच्छति ॥१५॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नत ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नाववोधस्य योगो भवति दु.खहा ॥१७॥
यदा विनियत चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
नि स्पृह सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मन. ॥१९॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्ध योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मान पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वत. ॥२१॥
यं लब्ध्वा चापर लाभं मन्यते नाधिकं तत ।
यस्मिन्स्थितो न दु खेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः
साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि
चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

चञ्चलं हि मन कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याह निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

श्रीभगवानुवाच

असशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥
असयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मति. ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायत ॥३६॥

अर्जुन उवाच

अयति. श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानस ।
अप्राप्य योगससिद्धि का गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मण पथि ॥३८॥
एतन्मे सशय कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः सशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥
प्राप्य पुण्यकृता लोका-
नुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीना श्रीमतां गेहे
योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

तत्र त बुद्धिसंयोग लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूय. ससिद्धो कुरुनन्दन ॥४३॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि स ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी सशुद्धकिल्विष. ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परा गतिम् ॥४५॥
तपस्विभ्योऽधिको योगी
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी
तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मा स मे युक्ततमो मत ॥४७॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्याय. ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमना पार्थ योग युञ्जन्मदाश्रय. ।
असशय समग्र मा यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥
ज्ञान तेऽह सविज्ञानमिद वक्ष्याम्यशेपतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥
मनुष्याणा सहस्रेपु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धाना कश्चिन्मा वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥
भूमिरापोऽनलो वायु. ख मनो बुद्धिरेव च।
अहकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥
अपरेयमितस्त्वन्या प्रकृति विद्धि मे पराम् ।
जीवभूता महाबाहो ययेद धार्यते जगत् ॥५॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगत प्रभव प्रलयस्तथा ॥६॥
मत्त परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनजय ।
मयि सर्वमिद प्रोत सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥
रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययो ।
प्रणव सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुष नृषु ॥८॥
पुण्यो गन्ध. पृथिव्या च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवन सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥
बीज मा सर्वभूताना विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभि: सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त: एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

उदाराः सर्व एवैते
ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा
मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना: प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियता: स्वया ॥२०॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च तत कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥
अन्तवत्तु फल तेपा तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥
अव्यक्त व्यक्तिमापन्न मन्यन्ते मामबुद्धय ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृत ।
मूढोऽय नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥
वेदाह समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥
इच्छाद्वेपसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि समोह सर्गे यान्ति परतप ॥२७॥
येषा त्वन्तगत पाप जनाना पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मा दृढव्रता ॥२८॥
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदु कृत्स्नमध्यात्म कर्म चाखिलम् ॥२९॥
साधिभूताधिदैव मा साधियज्ञ च ये विदु ।
प्रयाणकालेऽपि च मा ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्याया योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्याय. ॥७॥

अष्टमोऽध्याय

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥
अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥
कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।

सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमस परस्तात् ॥ ९ ॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं सग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥
सर्वद्वाराणि सयम्य
मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मन प्राण-
मास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
य प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यश ।
तस्याहं सुलभ पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिन ॥१४॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मान ससिद्धिं परमां गता ॥१५॥
आब्रह्मभुवनाल्लोका पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥
सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदु ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जना ॥१७॥

अव्यक्ताद्व्यक्तय. सर्वा प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।।१८।।

भूतग्राम स एवाय भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवश॰ पार्थ प्रभवत्यहरागमे ।।१९।।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो-
ऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातन. ।
य. स सर्वेषु भूतेषु
नश्यत्सु न विनश्यति ।।२०।।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहु. परमा गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम ।।२१।।

पुरुष स पर पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्त स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।।२२।।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिन॰ ।
प्रयाता यान्ति त काल वक्ष्यामि भरतर्षभ ।।२३।।

अग्निर्ज्योतिरह शुक्ल. षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना ।।२४।।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्ण
षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमस ज्योति-
र्योगी प्राप्य निवर्तते ।।२५।।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगत. शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुन ।।२।।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।।२७।।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

अवजानन्ति मा मूढा मानुषी तनुमाश्रितम् ।
पर भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतस ।
राक्षसीमासुरी चैव प्रकृति मोहिनी श्रिताः ॥१२॥
महात्मानस्तु मा पार्थं दैवी प्रकृतिमाश्रिता ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥
सतत कीर्तयन्तो मा यतन्तश्च दृढव्रता ।
नमस्यन्तश्च मा भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥
अह क्रतुरह यज्ञ स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामह ।
वेद्य पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥
गतिर्भर्ता प्रभु साक्षी निवासः शरण सुहृत् ।
प्रभव प्रलय स्थान निधान बीजमव्ययम् ॥१८॥
तपाम्यहमह वर्ष निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

त्रैविद्या मा सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गति प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥
ते त भुक्त्वा स्वर्गलोक विशाल
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति ।

एव त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागत कामकामा लभन्ते ॥२१॥
अनन्याश्चिन्तयन्तो मा ये जना: पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेम वहाम्यहम् ॥२२॥
येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता: ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥
अह हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥
यान्ति देवव्रता देवान्
पितृन्यान्ति पितृव्रता. ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या
यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥
पत्र पुष्पं फल तोय यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदह भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥
शुभाशुभफलैरेव मोक्ष्यसे कर्मबन्धनै ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८॥
समोऽह सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रिय ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्य: सम्यग्व्यवसितो हि स. ॥३०॥
क्षिप्र भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्त प्रणश्यति ॥३१॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य
येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा-
स्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्या-राजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वच ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥
न मे विदु सुरगणा प्रभव न महर्षय: ।
अहमादिर्हि देवाना महर्षीणा च सर्वश ॥२॥
यो मामजमनादि च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असमूढ. स मर्त्येषु सर्वपापै प्रमुच्यते ॥३॥
बुद्धिर्ज्ञानमसमोह क्षमा सत्य दम शमः ।
सुख दुख भवोऽभावो भय चाभयमेव च ॥४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दान यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥
महर्षय सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमा प्रजा. ॥६॥
एता विभूति योग च मम यो वेत्ति तत्त्वत. ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशय ॥७॥
अह सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विता ॥८॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मा नित्य तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥
तेषा सततयुक्तानां भजता प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥
वक्तुमर्हस्यशेषेण
दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोका-
निमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥
रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्व सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षय कालो धाताह विश्वतोमुखः ॥३३॥
मृत्यु सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्ति श्रीर्वाक्च नारीणा स्मृतिर्मेधा धृति क्षमा ॥३४॥
बृहत्साम तथा साम्ना गायत्री छन्दसामहम् ।
मासाना मार्गशीर्षोऽहमृतूना कुसुमाकर ॥३५॥
द्यूत छलयतामस्मि
तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि
सत्त्व सत्त्ववतामहम् ॥३६॥
वृष्णीना वासुदेवोऽस्मि पाण्डवाना धनजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यास कवीनामुशना कवि ॥३७॥
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौन चैवास्मि गुह्याना ज्ञान ज्ञानवतामहम् ॥३८॥
यच्चापि सर्वभूताना बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूत चराचरम् ॥३९॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्याना विभूतीना परतप ।
एष तूद्देशत प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्व श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्व मम तेजोऽशसभवम् ॥४१॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिद कृत्स्नमेकाशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्‌गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्याया योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्याय ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्व पुरुषो मतो मे ॥१८॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहु शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वा दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तर हि
व्याप्त त्वयैकेन दिशश्च सर्वा ।
दृष्ट्वाद्भुत रूपमुग्र तवेद
लोकत्रय प्रव्यथित महात्मन् ॥२०॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीता' प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसघा.
स्तुवन्ति त्वा स्तुतिभि पुष्कलाभि ॥२१॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसघा
वीक्षन्ते त्वा विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

रूप महत्ते बहुवक्त्रनेत्र
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदर बहुदंष्ट्राकराल
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

नभ स्पृश दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्तानन दीप्तविशालनेत्रम् ।

दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।

तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥
पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥
श्रीभगवानुवाच
मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥
पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रै ।
एवरूप शक्य अह नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूप घोरमीदृङ् ममेदम् ।
व्यपेतभी प्रीतमना पुनस्त्व
तदेव मे रूपमिद प्रपश्य ॥४९॥

सजय उवाच

इत्यर्जुन वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वक रूप दर्शयामास भूय ।
आश्वासयामास च भीतमेन
भूत्वा पुन सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेद मानुष रूप तव सौम्य जनार्दन ।
इदानीमस्मि सवृत्त सचेता प्रकृति गत ॥५१॥

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिद रूप दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्य दर्शनकाङ्क्षिण ॥५२॥
नाह वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवविधो द्रष्टु दृष्टवानसि मा यथा ॥५३॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टु च तत्त्वेन प्रवेष्टु च परतप ॥५४॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनं नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

एव सततयुक्ता ये भक्तास्त्वा पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्त तेषा के योगवित्तमा. ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मा नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मता· ॥२॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्त पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचल ध्रुवम् ॥३॥
सनियम्येन्द्रियग्राम सर्वत्र समबुद्धय ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता ॥४॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दु ख देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्परा ।
अनन्येनैव योगेन मा ध्यायन्त उपासते ॥६॥
तेषामह समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्व न सशय· ॥८॥
अथ चित्त समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनजय ॥९॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासा-
ज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्याग-
स्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥
तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥
महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥
अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥
ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति
केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन
कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥
सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥९॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञान यदा तदा विद्याद्विवृद्ध सत्त्वमित्युत ॥११॥
लोभ प्रवृत्तिरारम्भ कर्मणामशम स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलय याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदा लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥
रजसि प्रलय गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥
कर्मण सुकृतस्याहु सात्त्विक निर्मल फलम् ।
रजसस्तु फल दु खमज्ञान तमसः फलम् ॥१६॥
सत्त्वात्सजायते ज्ञान रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥
ऊर्ध्व गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसा ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसा ॥१८॥
नान्य गुणेभ्य कर्तार यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च पर वेत्ति मद्भाव सोऽधिगच्छति ॥१९॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादु खैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचार, कथ चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाश च प्रवृत्ति च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥
समदु खसुख स्वस्थ समलोष्टाश्मकाञ्चन ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसस्तुति ॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयो ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीत स उच्यते ॥२५॥
मा च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशो ऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥
निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥
न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥
यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तम ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित पुरुषोत्तम. ॥१८॥
यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मा सर्वभावेन भारत ॥१९॥
इति गुह्यतम शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पचदशोऽध्याय. ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥४॥
दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि
कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य
इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥
आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषा निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिना सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति ता शृणु ॥२॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽय पुरुषो यो यच्छ्रद्ध. स एव स ॥३॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षासि राजसा. ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जना ॥४॥
अशास्त्रविहित घोर तप्यन्ते ये तपो जना· ।
दम्भाहकारसयुक्ता. कामरागबलान्विता· ॥५॥
कर्पयन्त शरीरस्थ भूतग्राममचेतस. ।
मा चैवान्त शरीरस्थ तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥
आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रिय ।
यज्ञस्तपस्तथा दान तेषा भेदमिम शृणु ॥७॥

आयु सत्त्वबलारोग्य-
सुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्या स्निग्धा स्थिरा हृद्या
आहारा. सात्त्विकप्रिया ॥८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥
अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥
अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥
देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥
दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥
ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥४॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

न द्वेष्ट्यकुशल कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसशयः ॥१०॥
न हि देहभृता शक्य त्यक्तु कर्माण्यशेषत ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥
अनिष्टमिष्ट मिश्र च त्रिविध कर्मण फलम् ।
भवत्यत्यागिनाप्रेत्य न तु सन्यासिना क्वचित् ॥१२॥
पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
साख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥
अधिष्ठान तथा कर्ता करण च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैव चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नर ।
न्याय्य वा विपरीत वा पञ्चैते तस्य हेतव ॥१५॥
तत्रैव सति कर्तारमात्मान केवल तु य ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मति ॥१६॥
यस्य नाहकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥
ज्ञानं ज्ञेय परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करण कर्म कर्तेति त्रिविध कर्मसग्रह ॥१८॥
ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदत ।
प्रोच्यते गुणसख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥
सर्वभूतेषु येनैक भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्त विभक्तेषु तज्ज्ञान विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञान
नानाभावान्पृथग्विधान् ।

वेत्ति सर्वेषु भूतेषु
तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी
धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः
कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धि सा पार्थ तामसी ॥३२॥

धृत्या यया धारयते
मन प्राणेन्द्रियक्रिया ।
योगेनाव्यभिचारिण्या
धृति सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेनफलाकाङ्क्षी धृति सा पार्थ राजसी ॥३४॥
यया स्वप्न भय शोक विषाद मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृति सा पार्थ तामसी ॥३५॥
सुख त्विदानी त्रिविध शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दु खान्त च निगच्छति ॥३६॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुख सात्त्विक प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥
विषयेन्द्रियसयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुख राजस स्मृतम् ॥३८॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुख मोहनमात्मन ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थ तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥
न तदस्ति पृथिव्या वा दिवि देवेषु वा पुन ।
सत्त्व प्रकृतिजैर्मुक्त यदेभि स्यात्त्रिभिर्गुणै ॥४०॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशा शूद्राणा च परतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणै ॥४१॥
शमो दमस्तप शौच क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्य ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥४३॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥४४॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥४५॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥४६॥
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥४७॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥४८॥
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥४९॥
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥५०॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो
धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा
रागद्वेषौ व्युदस्य च॥५१॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥५२॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥५३॥

ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
सम. सर्वेषु भूतेषु मद्भक्ति लभते पराम् ॥५४॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत ।
ततो मा तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रय ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वत पदमव्ययम् ॥५६॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्यस्य मत्पर ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्त सतत भव ॥५७॥
मच्चित्त सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥
यदहकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वा नियोक्ष्यति ॥५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय
निबद्ध स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्
करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

ईश्वर. सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

तमेव शरण गच्छ
सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परा शान्ति
स्थान प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यात गुह्याद्गुह्यतर मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमह परम् ।
योग योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयत स्वयम् ॥७५॥
राजन्सस्मृत्य सस्मृत्य सवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयो· पुण्य हृष्यामि च मुहुर्मुहु ॥७६॥
तच्च सस्मृत्य सस्मृत्य रूपमत्यद्भुत हरे ।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुन पुन ॥७७॥
यत्र योगेश्वर· कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धर ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसवादे मोक्षसन्यासयोगो नामाष्टादशो-ऽध्याय· ॥१८॥

शाति·

गीता-प्रवेशिका

[गीताके सरल और भक्ति-प्रधान श्लोकोंका संग्रह]

दो शब्द

यह गीता-प्रवेशिका यरवदा-मदिरमे गत वर्ष सगृहीत की गई थी। मेरा तीसरा पुत्र रामदास उसी मदिर (जेल) मे था। उसको कोई वार मिलनेका अथवा लिखनेका मौका मुझे अमलदार दिया करते थे। रामदास गीता पढता था, परतु सब-कुछ समझ नही सकता था। रामदासमे भक्ति-भाव है, श्रद्धा भी है। उसकी सहायताके लिए मैंने गीता के सरल और भक्तिप्रधान श्लोको का सग्रह करके भेजा। रामदासको यह सग्रह अच्छा लगा। मैंने उसे रामगीताका नाम देकर और भी रामदासको प्रोत्साहन दिया।

बावा राघवदासने उसे काका साहवके हाथमे देखा, पढा और हरिजन-सेवकोके लिए यह सग्रह उपयोगी होगी ऐसा उनको लगा और इस दृष्टिसे उसे छपवानेकी सम्मति मागी। मैं कोई पडित नही हू, इसलिए यह सग्रह छपवाने योग्य है या नही, उस वारेमे मैं निश्चय नही कर सकता था। आश्रमनिवासी श्री विनोबा, काका साहव और वालकृष्ण यही थे। तीनो गीताके अभ्यासी और भक्त हैं। मैंने बावाजीसे कहा, यदि ये तीन आश्रम-वासी पसद करे तो उस सग्रहको छपवानेमे मुझे कोई वाधा नही है। तीनोंने विचार करके और उपयोगिता बढानेकी दृष्टिसे तीन श्लोक निकालनेकी और चार नये दाखिल करनेकी सलाह दी। इतनी सुधारणाके साथ यह सग्रह सेवक, सेविका और अन्य गीताभक्तोके सामने रखा जाता है। आशा और आशय यह है कि इस सग्रहको प्रवेशिकाकी दृष्टिसे ही पढा जाय और अच्छी तरह समझनेके वाद पूर्ण गीताका अभ्यास किया जाय। साथ इतना भी स्मरणमे रखा जाय कि प्रवेशिका अथवा पूर्ण गीता कठ करनेसे ही अथवा उसका पूर्ण अर्थ समझनेसे ही कुछ आत्मलाभ हासिल नही होगा। गीता अनुकरण के लिए है। उसके पारिभाषिक शब्द

अच्छी तरह समझने के बाद और उसका मध्यबिंदु अनासक्ति हृदयगत होनेके बाद गीता समझनेमें कम कठिनाई आती है।

सत्याग्रह आश्रम
वर्धा —मोहनदास करमचंद गांधी
१-१०-३२

गीता-प्रवेशिका

१

श्रीभगवानुवाच

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

श्रीभगवानने कहा—

आत्मासे मनुष्य आत्माका उद्धार करे, उसकी अधोगति न करे। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। ६-५

२

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

उसीका आत्मा बन्धु है जिसने अपने बलसे मनको जीता है; जिसने आत्माको जीता नहीं, वह अपने ही साथ शत्रुका-सा बर्ताव करता है। ६-६

३

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥

पूर्ण शान्तिसे, निर्भय होकर, ब्रह्मचर्यमें दृढ़ रहकर,

मनको मारकर, मुझमे परायण हुआ योगी मेरा ध्यान धरता हुआ बैठे। ६-१४

टिप्पणी—ब्रह्मचारी व्रतका अर्थ केवल वीर्य-सग्रह ही नही है, साथ ही ब्रह्मको प्राप्त करने के लिए आवश्यक अहिंसादि सभी व्रत है।

४

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

सर्वत्र समभाव रखनेवाला योगी अपनेको सब भूतोमे और सब भूतोको अपनेमे देखता है। ६-२९

५

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमे देखता है, वह मेरी दृष्टिसे ओझल नही होता और मैं उसकी दृष्टिसे ओझल नही होता। ६-३०

६

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

मुझमे लीन हुआ योगी भूतमात्रमे रहनेवाले मुझको भजता है, वह चाहे जिस तरह वर्तता हुआ भी मुझमें वर्तता है। ६।३१

टिप्पणी—'आप' जबतक है, तब तक तो परमात्मा 'पर' है। 'आप' मिट जानेपर, शून्य होनेपर ही एक परमात्माको सर्वत्र देखता है। अध्याय १३-२३ की टिप्पणी देखिए।

७

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

हे अर्जुन! जो मनुष्य अपने जैसा सबको देखता है और सुख हो या दुःख, दोनों को समान समझता है, वह योगी श्रेष्ठ गिना जाता है। ६-३२

८

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

सब योगियोमे भी उसे मैं सर्वश्रेष्ठ योगी मानता हूं, जो मुझमे मन पिरोकर मुझे श्रद्धापूर्वक भजता है। ६-४७

९

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

हे धनंजय! मुझसे उच्च दूसरा कुछ नही है। जैसे धागेमे मनके पिरोये हुए रहते है, वैसे यह सब मुझमें पिरोया हुआ है। ७-७

१०

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥

हे पार्थ ! समस्त जीवोंका सनातन बीज मुझे जान । बुद्धिमानकी बुद्धि मैं हूं, तेजस्वीका तेज मैं हूं । ७-१०

११

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

हे पार्थ ! चित्तको अन्यत्र कहीं रखे बिना जो नित्य और निरन्तर मेरा ही स्मरण करता है, वह नित्ययुक्त योगी मुझे सहजमे पाता है । ८-१४

१२

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

जो लोग अनन्यभावसे मेरा चिन्तन करते हुए मुझे भजते हैं, उन नित्य मुझमे ही रत रहनेवालोंके योग-क्षेमका भार मैं उठाता हूं । ९-२२

टिप्पणी—योग अर्थात् वस्तुको प्राप्त करना और क्षेम अर्थात् प्राप्त वस्तुको संभाल रखना ।

१३

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

पत्र, फूल, फल या जल जो मुझे भक्तिपूर्वक अर्पण करता है वह प्रयत्नशील मनुष्य, द्वारा भक्तिपूर्वक अर्पित किया हुआ मै सेवन करता हू। ९-२६

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि ईश्वरप्रीत्यर्थ जो-कुछ सेवाभावसे दिया जाता है, उसका स्वीकार उस प्राणीमे रहनेवाले अन्तर्यामी रूपसे भगवान ही करते है।

१४

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

इसलिए हे कौन्तेय! तू जो करे, जो खाय, जो हवनमे होमे, जो दानमे दे, जो तप करे, वह सब मुझे अर्पण करके कर। ९-२७

१५

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

सब प्राणियोमे मैं समभावसे रहता हू। मुझे कोई अप्रिय या प्रिय नही है। जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते है वे मुझमे है और मै भी उनमे हू। ९-२९

१६

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

भारी दुराचारी भी यदि अनन्यभावसे मुझे भजे

तो उसे साधु हुआ ही मानना चाहिए, क्योकि अब उसका अच्छा सकल्प है। ९-३०

टिप्पणी—क्योकि अनन्य भक्ति दुराचारको शान्त कर देती है।

१७

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

वह तुरन्त धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर शान्ति पाता है। हे कौन्तेय! तू निश्चयपूर्वक जानना कि मेरे भक्तका कभी नाश नही होता। ९-३१

१८

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

मुझमे मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे निमित्त यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर, इससे मुझमे परायण होकर आत्माको मेरे साथ जोडकर तू मुझे ही पावेगा। ९-३४

१९

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

मैं सबकी उत्पत्तिका कारण हू और सब मुझसे ही प्रवृत्त होते है, यह जानकर समझदार लोग भावपूर्वक मुझे भजते है। १०-८

२०

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

मुझमे चित्त लगानेवाले, मुझे प्राणार्पण करनेवाले एक-दूसरेको बोध कराते हुए, मेरा ही नित्य कीर्तन करते हुए, सन्तोष और आनन्दमे रहते है। १०-९

२१

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

इस प्रकार मुझमे तन्मय रहनेवालोको और मुझे प्रेमसे भजनेवालोको मै ज्ञान देता हू और उससे वे मुझे पाते है। १०-१०

२२

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

उनपर दया करके उनके हृदयमे स्थित मै ज्ञान-रूपी प्रकाशमय दीपकसे उनके अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश करता हू। १०-११

२३

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥

जो मेरे दर्शन तूने किये हैं वह दर्शन न वेदसे,

न तपसे, न दानसे, अथवा न यज्ञसे ही हो सकते हैं। ११-५३

२४

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

परन्तु हे अर्जुन! हे परंतप! मेरे सम्बन्धमे ऐसा ज्ञान, ऐसे मेरे दर्शन और मुझमे वास्तविक प्रवेश केवल अनन्य-भक्तिसे ही सम्भव है। ११-५४

२५

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

हे पाण्डव! जो सब कर्म मुझे समर्पण करता है, मुझमे परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्तिका त्याग करता है और प्राणीमात्रमे द्वेषरहित होकर रहता है, वह मुझे पाता है। ११-५५

२६

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

जिससे लोग उद्वेग नही पाते, जो लोगोसे उद्वेग नही पाता, जो हर्ष, क्रोध, ईर्ष्या, भय और उद्वेगसे मुक्त है, वह मुझे प्रिय है। १२-१५

२७

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्त परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्त यः पश्यति स पश्यति ॥

समस्त नाशवान प्राणियोमे अविनाशी परमेश्वरको समभावसे मौजूद जो जानता है वही उसका जानने-वाला है । १३-२७

२८

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

जिसके द्वारा प्राणियोकी प्रवृत्ति होती है और जिसके द्वारा यह समस्त व्याप्त है उसे जो पुरुष स्वकर्म द्वारा भजता है वह मोक्ष पाता है । १८-४६

२९

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियोके हृदयमे वास करता है और अपनी मायाके बलसे उन्हे चाकपर चढे हुए घड़ेकी तरह घुमाता है । १८-६१

३०

तमेव शरण गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्ति स्थान प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

हे भारत ! तू सर्वभावसे उसकी शरण

३३

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसघान् ।
ब्रह्माणमीश कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥

अर्जुन बोले—

हे देव ! आपकी देहमे मै देवताओंको, भिन्न-भिन्न प्रकारके सब प्राणियोके समुदायोको, कमलासन पर विराजमान ईश ब्रह्माको, सब ऋषियोको और दिव्य सर्पों को देखता हूँ । ११-१५

३४

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्य न पुनस्तवादि
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥

आपको मै अनेक हाथ, उदर, मुख और नेत्र-युक्त अनन्तरूपवाला देखता हूँ । आपका अन्त नही है, मध्य नही है, न है आपका आदि । हे विश्वेश्वर ! आपके विश्वरूपका मैं दर्शन कर रहा हूँ । ११-१६

आकाश और पृथ्वीके बीचके इस अन्तर मे और समस्त दिशाओमे आप ही अकेले व्याप्त हो रहे है। हे महात्मन् ! यह आपका अदभुत उग्र रूप देखकर तीनो लोक थरथराते हैं। ११-२०

३८

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्य च पर च धाम
त्वया तत विश्वमनन्तरूप ॥

आप आदिदेव हैं। आप पुराणपुरुष हैं। आप इस विश्व के परम आश्रयस्थान है। आप जाननेवाले है और जाननेयोग्य हैं। आप परमधाम हैं। हे अनन्तरूप ! इस जगत मे आप व्याप्त हो रहे है। ११-३८

३९

वायुर्यमोऽग्निर्वरुण. शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्व प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति, प्रपितामह आप ही हैं। आपको हजारो वार नमस्कार पहुचे। और फिर भी आपको नमस्कार पहुचे। ११-३९

४०

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥

हे सर्व ! आपको आगे, पीछे, सब ओरसे नमस्कार है। आपका वीर्य अनन्त है, आपकी शक्ति अपार है, सब-कुछ आप ही धारण करते हैं, इसलिए आप ही सर्व हैं। ११-४०

४१

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥

स्थावरजंगम जगतके आप पिता हैं। आप उसके पूज्य और श्रेष्ठ गुरु हैं। आपके समान कोई नहीं है तो आपसे अधिक तो कहांसे हो सकता है? तीनों लोकमें आपके सामर्थ्यका जोड़ नहीं है। ११-४३

४२

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥

इसलिए साष्टाग नमस्कार करके आपसे, पूज्य ईश्वरसे प्रसन्न होनेकी प्रार्थना करता हू। हे देव! जिस तरह पिता पुत्रको, सखा सखाको सहन करता है, वैसे आप मेरे प्रिय होनेके कारण मेरे कल्याणके लिए मुझे सहन करनेयोग्य है। ११-४४

गीतापदार्थकोष

[गीताके शब्दोका अर्थसहित स्थल-निर्देश]

पाठकोंसे निवेदन

काका साहबने अपने 'दो शब्द' में बताया है कि यह कोष बारह वर्ष पहले तैयार हुआ और जैसा चाहिए था वैसा न होनेपर भी आज क्यो छप रहा है।

जिन्हे मेरे नामसे प्रकाशित अनुवादमे कुछ भी रस है उनके लिए यह कोष सहज ही आवश्यक है। सभव है, अन्य गीताभ्यासियोके लिए भी यह उपयोगी हो। ऐसे लोगोके लिए मेरी यह सूचना है कि यदि 'पदार्थकोष' मे दिये हुए अर्थ उन्हे न रुचें और दूसरे अर्थ अधिक प्रिय लगें तो वे उन्हे उसीमे लिख लें। ऐसा करनेसे उन्हे बहुत थोडी मेहनत-मे अपना मनचाहा कोष मिल जायगा और इस प्रकार अभ्यास करने वाले व्यक्ति यदि अपने पसद किये हुए अर्थ मेरे पास भेज दें तो मैं आभारी होऊगा।

मैं ज्यो-ज्यो गीताका अभ्यास करता हू त्यो-त्यो मुझे उसकी अनुपमता अधिक मालूम होती जाती है। मेरे लिए वह आध्यात्मिक कोष है।

मैं जब कभी कार्याकार्यकी परेशानीमे पडता हू तब उसका आश्रय लेता हू और अबतक उसने मुझे कभी निराश नही किया। वह सचमुच काम-धेनु है। रोज एक श्लोक, फिर दो, फिर पाच, फिर रोज एक अध्याय, फिर चौदह दिनमे पारायण और अतमे कई वर्षसे हममेसे कुछ लोग सात दिन-के पारायणतक पहुच गये हैं और सुबह साढे चार बजेके लगभग निश्चित दिनोके निश्चित अध्यायोकी ध्वनि सुनाई पडती है। कुछ-ने—बहुत थोडे लोगोने—अठारहो अध्याय कठ कर लिये हैं। वारके हिसाबसे सुबहकी प्रार्थनामे रोज यह क्रम चलता है

शुक्र १, २, शनि ३, ४, ५, रवि ६, ७, ८, सोम ९, १०, ११, १२, मगल १३, १४, १५, बुध १६, १७, गुरु १८

इस विभाजनके विषय मे इतना ही कहना काफी है कि इसके पीछे एक विचारश्रेणी रही है। ऐसा अनुभव है कि इस प्रकार मनन करनेमे

ठीक-ठीक सुविधा होती है।

यह प्रश्न उठना सभव है कि शुक्रवारसे ही पारायण क्यो शुरू हुआ। इसका कारण इतना ही है : काफी समयतक चौदह दिनका पारायण चलता रहा। यरवदा जेलमे मुझे सात दिनके पारायण की बात सूझी और एक शुक्रवार को उसपर अमल हुआ, इसलिए और उसी समयसे पारायण-सप्ताह शुक्रवारसे शुरू होता है।

पारायणकी बात यहा देनेके दो हेतु हैं। एक तो यह बताना कि गीता-भक्ति आजतक हममेसे कुछ लोगोंको कहातक ले गई है और दूसरे पाठकोंको अभ्यासमे प्रोत्साहन देनेवाला रास्ता बताना

किन्तु गीता गाकर ही निहाल नही हो सकते। गीता धर्म-दर्शक कोष है, आत्माकी उलझनको सुलझानेवाली प्रचड शक्ति है दीन-दुखियोंका आधार है, सोनेसे जगानेवाली है, जो ऐसा मानता है उसे ही गीता-गान मदद दे सकता है। यहा यह कहनेका आशय बिलकुल नही है कि बिना अर्थ समझे गीता-गान स्वतन्त्ररूपसे मनुष्यका कल्याण करता है। प्रयत्नपूर्वक पाले हुए तोतेको गीता अवश्य कठ कराई जा सकती है, किन्तु उससे तोतेको या उसके शिक्षकको जरा भी पुण्य नही मिलनेका।

गीता जीती-जागती, जीवन देनेवाली, अमर माता है। दूध पिलाकर पालने-पोसनेवाली माता एक दिन धोखा देकर चली जायगी। हम देखते हैं, असख्य माताए अपनी सतानको तूफानमेसे बचानेमे असमर्थ रहती हैं। किन्तु गीतामाताका आश्रय लेनेवाला भयकर तूफानमेसे उबर जाता है। वह नित्य जाग्रत है। कभी धोखा नही देती। किन्तु जैसे बिना मागे मा भी दूध नही पिलाती वैसे ही गीतामाता भी बिना मागे कुछ नही देती। वह किसीको अपनी गोदमे लेनेसे पहले उसकी कठिन परीक्षा लेती है, पूर्ण भक्तिकी अपेक्षा रखती है। शुष्क भक्तिसे भी काम नही चलेगा। वह अनन्य भक्ति चाहती है। इसलिए जो लोग उसे सर्वार्पण करनेको तैयार नही उन्हे आश्रय देना वह बिलकुल अस्वीकार कर देती है।

भौतिक शास्त्रके बडे-बडे अभ्यासी उसके पीछे पागल हो जाते हैं तब कही उन्हें उसका कुछ दर्शन होता है। एम ए, बी ए., होनेवाले रात-दिन पढते है, उसपर पैसा खर्च करते हैं, शरीर सुखाते हैं। इस प्रकार

प्रयत्न करनेवालोंमेंसे कुछ ही लोग पहली बारमें उत्तीर्ण होते हैं। उत्तीर्ण न होनेवाले निराश न होकर बार-बार प्रयत्न करते हैं और उत्तीर्ण होने-पर ही शांतिसे बैठते हैं। और अंत में—?

गीतामृत का पान करनेके लिए तो इन प्रयत्नोंकी अपेक्षा बहुत अधिक प्रयत्नकी आवश्यकता होनी चाहिए और है ही। परंतु उस अमृत-पानकी गरज कितनोंको है ? गरज है तो कितने लोग जी तोड़कर प्रयत्न करने को तैयार होते हैं ? हम जानते हैं कि जैसे मैंने बताया है उस दृष्टि-से गीता-भक्ति करनेवालोंकी संख्या नहींके बराबर है। तो भी सब लोग यह कबूल करते हैं कि गीता सारे उपनिषदोंका दोहन है। किसी भी हिन्दू-को उनके ज्ञानसे रहित नहीं होना चाहिए, किंतु आजकल धर्मभावकी कीमत घट गई है। उसके कारणोंमें जानेका यह अवसर नहीं है। मैंने तो, यह गीतापदार्थकोष प्रकाशित हो रहा है, इस निमित्तसे जिज्ञासुओंका ध्यान गीतारूपी रत्नकी तरफ खींचने और उसका सदुपयोग कैसे हो सकता है यह बताने का प्रयत्न इस निवेदनमें किया है, वह सफल हो।

सेगाव, वर्धा
२४–६–३६

—मोहनदास करमचंद गांधी

दो शब्द

गीताके शब्दोंकी (पदोंकी) अक्षरानुक्रमणिका, उनका स्थलनिर्देश और उनका अर्थकोष गांधीजीने सन् १९२२-२३ में यरवदा जेलमें तैयार किया। जेल की पढ़ाई और साहित्य-प्रवृत्ति के सम्बन्धमें गांधीजीने लिखा है

"जबसे मैंने संसार में प्रवेश किया तबसे मुझे लगा कि सामान्य ज्ञान प्राप्त करनेके लिए मुझे पढ़ना चाहिए। किंतु मुझे जीवनमें पहलेसे ही तूफान और संकट दिखाई दिये। इसलिए साहित्यमें रस लेनेको अधिक समय न मिला। सन् १८९४ के बाद कुछ पढ़ने-पढ़ानेका समय मुझे मिला तो वह केवल दक्षिण अफ्रीकाकी जेलोंमें ही। मुझे पढ़नेका शौक पैदा हुआ इतना ही नहीं, बल्कि अपना संस्कृतका ज्ञान पूरा करने और तामिल, हिंदी तथा उर्दूका अभ्यास करनेको मेरा मन हुआ। दक्षिण अफ्रीकाकी जेलोंमें मेरी पढ़नेकी अभिरुचि तीव्र हुई थी। इसलिए दक्षिण अफ्रीकाके अपने आखिरी कारावासके समय मुझे समय से पहले छोड़ दिया गया तब मुझे दुःख हुआ।

"इसलिए हिन्दुस्तानमें जब ऐसा अवसर आया तब मैंने आनंदपूर्वक उसका स्वागत किया। मैंने यरवदामें अभ्यासका एक नियमित क्रम बना लिया, जिसे पूरा करनेके लिए ६ वर्ष काफी न थे।

"जर्जरित शरीरवाला ५४ वर्षका बूढ़ा होते हुए भी मैंने २४ वर्षके तरुणके समान उत्साहपूर्वक अभ्यास शुरू किया। मैं अपने समयके एक-एक क्षणका हिसाब रखता और चाहता था कि छूटनेपर मैं उर्दू और तामिलका अच्छा अभ्यासी होकर और संस्कृतका अच्छा ज्ञान लेकर ही बाहर निकलूं। संस्कृतके मूल ग्रंथ पढ़नेकी मेरी कामना पूरी हो जाती, किंतु ऐसा होनेका संयोग न था। दुर्भाग्यसे मैं बीमार पड़ गया। उसके परिणामस्वरूप मैं छूटा और मेरे अभ्यासके रंगमें भंग हो गया।"

फिर भी गांधीजीने अनेक भाषाओंकी छोटी-बड़ी मिलाकर डेढ़ सौ

किताबें तो पढ ही डाली ।। इनमे महाभारत, गीता और उपनिषदोका अभ्यास तो था ही। वह लिखते हैं

"जिन पुस्तकोके विना मेरा काम चल ही नही सकता था वे महाभारत, रामायण और भागवत थी। वेदको मूलमे देखनेकी इच्छा उपनिषद्से सतेज हुई। उनकी उत्कट कल्पनाओसे अपार आनद हुआ और उसकी आध्यात्मिकताने मेरी आत्मा शात हुई।"

इस पढाईके साथ-साथ उन्होने यह गीतापदार्थकोष भी तैयार किया। इसके सबधमे उन्होने लिखा है

"जेलमे किये गए अपने अभ्यासकी इस समालोचनाको पूरा करनेसे पहले मैं विद्यार्थी पाठकको नियमित कार्य करनेकी उपयोगिताके सबधमे तथा शुष्क वस्तुओको रसपूर्ण बनानेकी रीतिके सबधमे दो शब्द कह दू। मेरे अपने अभ्यास और नित्यप्रतिके उपयोगके लिए मुझे गीताकी एक शब्दानुक्रमणिका तैयार करनी थी। शब्द और उनके सबध लिखने और दो-दो बार उनको क्रमसे लगानेका काम बहुत रसपूर्ण नही है। मेरी धारणा थी कि अपने कारावासके समय मैं यह काम करू तो भी इस कामके लिए बहुत समय देना मुझे रुचिकर न था। मेरा समयपत्रक भरा हुआ था। इसमे रोज केवल बीस मिनट इस काममे देनेका मैंने निश्चय किया। इस कार्य मे इतना थोडा समय देनेसे यह बेगार-जैसा नही मालूम होता था। उलटे, रोज उसका समय होनेकी मैं राह देखता। जब उसकी दूसरी बारकी अनुक्रमणिका तैयार करनेका समय आया तब तो मैं उसमे तल्लीन होने लगा। जिज्ञासु स्वय इस बातका अनुभव कर देखें। जिन शब्दोका अनुक्रम मुझे ठीक करना था उनके पहले अक्षरोका अक्षरानुक्रम मैंने पहले तैयार किया, किंतु प्रत्येक अक्षरके शब्दोको आतरिक अक्षरानुक्रमसे किस रीतिसे लगायें, यह प्रश्न मेरे लिए जटिल हो गया। मैंने कभी शब्दकोष तैयार नही किया था। इससे मुझे स्वतत्र रूपसे काम करनेकी रीति खोजनी पडी और जब मैंने वह खोज ली तब मेरे आनदका पार नही रहा। बचपनमे जो आनद गोली और कचेके खेलमे आता उससे भी अधिक आनद मुझे इस अनुक्रमणिकाको लगानेके खेलसे मिला। यह रीति सुघड, तेज और भूल

होने ही न पावे, ऐसी थी। यह सारा काम पूरा करते मुझे अठारह महीने लगे। आज अब इस शब्दानुक्रमसे देखकर मैं तत्काल जान सकता हूं कि गीताजीमें आया हुआ कोई भी शब्द कहां और कितनी बार प्रयुक्त हुआ है। इसमें दूसरा भी अभिप्राय रहा है। यदि मैं कभी गीताके सबधमें अपने विचार लिखनेमें समर्थ हुआ तो इस शब्दानुक्रम और इन विचारोंको पाठकोंके समक्ष रखना भी चाहता हूं।"

ऐसी बात नहीं है कि गीताका पदानुक्रम इसके पहले किसीने तैयार न किया हो। थोडी बहुत पूर्णतावाले ऐसे गीता-पद-कोष चार-पाच तो हैं ही, किंतु गाधीजीको अपने विनोदके लिए और जेलकी सहूलियतके लिए इस प्रकारका कोष स्वतत्र रूपसे तैयार करना था। गाधीजीका मानस प्रत्येक क्षेत्र मे शास्त्रीय रीतिसे काम करता है। गीताके अभ्यास-की सुविधाके लिए उन्होंने एक बार अनेक भाषान्तरोंके हरेक श्लोकके अनुवाद इकट्ठे करके टाइप कराये थे। इसे अग्रेजीमें 'कॉन्कोडन्स' (साहस्य) कहते हैं। इसका उद्देश्य अक्षरानुक्रमसे यह बताना होता है कि अमुक ग्रथमें अथवा अमुक लेखककी तमाम रचनाओंमें अमुक शब्द कहां-कहां और कितनी बार आया है। गाधीजीने इसमें हरेक पदका अर्थ भी देकर इसकी उपयोगिता बढा दी है। इसलिए यह केवल पदकोष न रहकर अर्थकोष भी हो गया है और इसीलिए इसको गीतापदार्थकोष नाम दिया गया है। इस पदार्थकोषमें उन्होंने पहले सस्कृत कोषोंमें दिये हुए अर्थ ही लिखे थे। बादमें जब उन्होंने गीताके अपने अर्थको स्पष्ट करनेके लिए अनासक्तियोग लिखा तब उसमें दिये हुए अर्थ भी इस पदार्थकोषमें जोड दिये गए। ऑर्डिनेन्सराजकी धाधलीके दिनोंमें यह सवधित कोष खो गया। इसलिए अभी-अभी दो तीन मित्रोंने गाधीजीके मूल हस्तलिखित परसे फिर मेहनत करके यह तैयार किया है और आज यह पाठकोंके हाथमें दिया जा रहा है।

यह कोष जैसा बना है उससे गाधीजीको पूर्ण सतोष नहीं है। उनकी इच्छा थी कि अर्थ देना ही है तो प्रत्येक महत्त्वके शब्दका अलग-अलग भाष्यकारोंने और गीताके नये-पुराने अभ्यासियोंने अलग-अलग जो अर्थ किया है, वह सब व्यवस्थित रीतिसे दें। इससे भाष्यार्थका तुलनात्मक

अभ्यास सुलभ हो जाता ।

यह तो अर्थ-भेदकी दृष्टि हुई । दूसरी रीतिसे भी अर्थकोपको शास्त्र-शुद्ध करनेके लिए शब्दोका धात्वर्थ देकर उसके बाद गीता-युगतक इन शब्दोके अर्थमे कैसे अतर पडता गया और गीताने इन शब्दोका खास क्या अर्थ किया है यह बताना चाहिए । उसके बाद तत्त्वज्ञानके विकास-का अनुसरण करके भाष्यकारोको यह अर्थ क्यो बदलना पडा, यह भी थोडेमे बताना चाहिए। इस रीतिसे अर्थ-विकासकी सीढियो अथवा प्रवाहको बताकर गीताके लिए पर्याप्त 'सेमेन्टिकस्' (शब्दार्थ-शास्त्र) बनाना चाहिए। जैसा मनुष्योका विकास होता है, वैसे मनुष्य-जातिमे प्रयुक्त महान् शब्दोके अर्थमे भी विकास होता जाता है । शब्द भी वस्तुत सगुण पुरुष ही हैं।

इस अर्थ-विकासके सबधमे अनासक्तियोगकी प्रस्तावनामे गाधीजीने लिखा है . "मनुष्यकी भाति महावाक्योके अर्थका विकास भी होता ही रहता है। भाषाओके इतिहासकी जाच कीजिए तो मालूम होगा कि अनेक महान् शब्दोके अर्थ नित्य नये होते रहे है गीताकारने महा-शब्दोका व्यापक अर्थ करके अपनी भाषाका भी व्यापक अर्थ करना हमे सिखाया है।"

आगे चलकर वह लिखते है "गीता एक महान् धर्मकाव्य है । उसमे जितने गहरे उतरेगे उतने ही नये और सुदर अर्थ उसमेसे मिलेगे गीतामे आये हुए महाशब्दो का अर्थ युग-युगमे बदलता और विस्तृत होता रहेगा। गीताका मूल मत्र कभी नही बदल सकता। वह मत्र जिस रीतिसे साधा जा सके उस रीतिसे जिज्ञासु चाहे जो अर्थ कर सकता है।"

गाधीजीकी इच्छाके अनुसार ऐसा व्यापक और शास्त्रशुद्ध सपूर्ण गीतापदार्थकोष जब तैयार होगा तब होगा। इस समय तो हम उनकी बारह वर्ष पहलेकी प्रवृत्तिका फल गीताभ्यासियो के आगे रखते है।

सरस्वती-पूजन
२४–९–'३६

—दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर

गीता-पदार्थ-कोष

अ

अकर्तारम्—४-१३, १३-२९ अकर्ता, अकर्तारूपमे
अकर्म—४-१६, १८ कर्मशून्यता, अकर्म
अकर्मकृत्—३-५ कर्म किये बिना
अकर्मण—३-८ कर्म न करनेसे, ३-८ कर्म न करनेवालेकी, कर्म बिना, ४-१७ कर्म-शून्यताका, अकर्मका
अकर्मणि—२-४७ कर्मशून्यतामे, कर्म न करनेके विषयमे, ४-१८ अकर्ममे
अकल्मषम्—६-२७ पापरहित हुए को, निष्पापको
अकार—१०-३३ अकार, 'अ' यह अक्षर
अकार्यम्—१८-३१ न करने योग्य
अकीर्तिकरम्—२-२ लाछन लगानेवाला, अपयश देनेवाला
अकीर्तिम्—२-३४ अपकीर्ति, निंदा
अकीर्ति—२-३४ अयश, अपकीर्ति
अकुर्वत—१-१ किया
अकुशलम्—१८-१० दु खकर, असुविधाजनक
अकृतबुद्धित्वात्—१८-१६ असस्कृत बुद्धिके कारण
अकृतात्मान—१५-११ सस्कार-रहित लोग, जिन्होने आत्म-शुद्धि नही की है ऐसे लोग
अकृतेन—३-१८ न करनेसे
अकृत्स्नविद—३-२९ अज्ञानी मदबुद्धि लोगोको, अधकचरे ज्ञान वालोको
अक्रिय—६-१ क्रियाओका न करनेवाला
अक्रोध—१६-२ क्रोधरहित होना
अक्लेद्य—२-२४ जो भिगोया न जा सके ऐसा
अक्षय (य्य) म्—५-२१ अविनाशी अक्षय्य (जिसे नष्ट न किया जा सके)
अक्षय—१०-३३ नाशरहित अविनाशी
अक्षरसमुद्भवम्—३-१५ (अवि-नाशी) परमात्मासे उत्पन्न हुआ, शाश्वत ब्रह्म (अक्षर) से उत्पन्न हुआ
अक्षरम्—८-३, ११, ११-१८,

३७, १२-१, ३ अक्षर, अविनाशी, १०-२५ ॐ कार, 'ॐ' यह अक्षर
अक्षर—८-२१ अविनाशी, १५-१६, १६ अक्षर (पुरुष)
अक्षराणाम्—१०-३३ अक्षरोंमें, वर्णोंमें
अक्षरात्—१५-१८ अक्षरसे
अखिलम्—४-३३ पूरा, निःशेष, ७-२९ अखिल, १५-१२ सारे, समूचे
अगतासून्—२-११ जिनके प्राण नहीं गये हैं उनको, जीवितोंको
अग्नि—४-३७, ८-२४, ९-१६; ११-३९, १८-४८ अग्नि
अग्नौ—१५-१२ अग्निमें
अग्रे—१८-३७, ३८, ३९ आरंभमें
अघम्—३-१३ पापको
अघायु—३-१६ पापी जीवनवाला
अङ्गानि—२-५८ अंगों (को), गात्रों (को)
अचरम्—१३-१५ स्थावर, स्थिर
अचलप्रतिष्ठम्—२-७० अचल स्थितिवालेको, जिसकी मर्यादा निश्चल है उसे, अचल प्रतिष्ठावालेको
अचलम्—६-१३, १२-३ अचल
अचल—२-२४ अचल
अचला—२-५३ स्थिर (बुद्धि)
अचलाम्—७-२१ दृढ
अचलेन—८-१० अचल, निश्चल
अचापलम्—१६-२ अचांचल्य, अचंचलता, दृढता
अचिन्त्यरूपम्—८-९ विचारमें न आ सके ऐसे रूपवाला, अचिन्त्य
अचिन्त्यम्—१२-३ अचिन्त्य
अचिन्त्य—२-२५, जिसका चिन्तन न किया जा सके ऐसा, मनके लिए अगम्य
अचिरेण—४-३९ तुरत, बिना विलंबके
अचेतस—३-३२, १५-११; १७-६ अविवेकी, ज्ञानहीन, मूढ
अच्छेद्य—२-२४ जो छेदा न जा सके ऐसा
अच्युत—१-२१; ११-४२, १८-७३ हे अच्युत, कृष्ण
अजस्रम्—१६-१९ निरंतर, बारबार
अजम्—२-२१, ७-२५, १०-३, १२ अजन्मा, जन्मरहित
अज—२-२०, ४-६ अजन्मा, जन्मरहित
अजानता—११-४१ अनजाने, भूलमें
अजानन्त—७-२४, ९-११, १३-२५ न जाननेवाले
अज्ञ—४-४० अज्ञानी
अज्ञानजम्—१०-११ अज्ञानसे

उत्पन्न हुआ, अज्ञानरूप, १४-८ अज्ञानमूलक

अज्ञानविमोहिता—१६-१५ अज्ञानसे अति मूढ हुआ

अज्ञानसंभूतम्—४-४२ अज्ञानसे उत्पन्न हुआ

अज्ञानसंमोह—१८-७२ अज्ञानजन्य मोह

अज्ञानम्—५-१६, १३-११, १४-१६, १७, १८-४ अज्ञान

अज्ञानाम्—३-२६ अज्ञानियोंकी

अज्ञानेन—५-१५ अज्ञान-अविद्यासे

अणीयांसम्—८-९ छोटा, अत्यन्त सूक्ष्म

अणोः—८-९ अणुसे

अतत्त्वार्थवत्—१८-२२ तत्त्वरहित, रहस्यहीन, मूल स्वरूपसे विपरीत (तुलना करो १८-३२)

अतन्द्रित—३-२३ आलस्यरहित (होकर)

अतपस्काय—१८-६७ तपश्चर्या-रहितको, असंयमीको, जो तपस्वी नहीं है उसे

अतः—९-२४, १५-१८ इसलिए, इस कारणसे, १३-११ इससे, इनसे

अतः परम्—२-१२ इससे आगे, १२-८ इस लोकसे, इस जन्मके बाद

अतितरन्ति—१३-२५ तर जाते हैं

अतिनीचम्—६-११ बहुत नीचा

अतिमानिता—१६-३ अति अभिमान

अतिरिच्यते—२-३४ अधिक है, बढ जाती है

अतिवर्तते—६-४४, १४-२१ लांघ जाता है, तर जाता है

अतिस्वप्नशीलस्य—६-१६ अधिक सोनेवालेको

अतीत—१४-२१, १५-१८ लांघ गया हुआ, को तर जाने वाला, से पर

अतीत्य—१४-२० लांघकर, पार करके

अतीन्द्रियम्—६-२१ इन्द्रियोंसे अतीत,—पर, जिसका अनुभव न हो सके ऐसा

अतीव—१२-२० बहुत

अत्यद्भुतम्—१८-७७ अति आश्चर्यकारक, अद्भुत

अत्यन्तम्—६-२८ अनंत

अत्यर्थम्—७-१७ बहुत

अत्यश्नत—६-१६ बहुत खानेवालेको, ठूस-ठूसकर खानेवालेको

अत्यागिनाम्—१८-१२ अत्यागीको, त्याग न करनेवालेको

अत्युच्छ्रितम्—६-११ बहुत ऊंचा

अत्येति—८-२८ . . के उस पार जाता है, उल्लंघन कर जाता है

अत्र—१-४, २३, ४-१६; ८-२, ४,५, १८-१४ यहां, ४-१६, ८-४, १०-३ इस विषयमें

अथ— १-२०, २-३३, ३-३६ अब, २-२६, ११-४, १८-५८ और, २-२६, १२-६, ११ यदि, ३-३६, ११-४० फिर

अथवा—६-४२, १०-४२, ११-४२ अथवा

अथो—४-३५ इसलिए, उसके बाद

अदक्षिणम्—१७-१३ बिना दक्षिणाके, बिना त्यागके (दानके)

अदम्भित्वम्—१३-३ अदम्भित्व, दम्भ न प्रकट करना

अदाह्य:—२-२४ जो जल न सके

अदृष्टपूर्वम्—११-४५ पहले न देखा हुआ

अदृष्टपूर्वाणि—११-६ पहले देखने में न आये हुए

अदेशकाले—१७-२२ अयोग्य देश और कालमें

अद्भुतम्—११-२०, १८-३४, ७६, अद्भुत, आश्चर्यकारक, अलौकिक

अद्य—४-२, ११-७, १६-१३ आज

अद्रोह:—१६-३ किसीका बुरा न करना, अद्रोह

अद्वेष्टा—१२-१३ द्वेष न करनेवाला, निर्वैर

अधमाम्—१६-२० अधम, नीच

अधर्मस्य—४-७ अधर्मका

अधर्मम्—१८-३१, ३२ अधर्मको

अधर्म:—१-४० अधर्म

अधर्माभिभवात्—१-४१ अधर्मकी वृद्धि होनेसे, अधर्मके आक्रमणसे

अध:—१४-१८ नीचे, अधोगति (पाते हैं), १५-२, ? नीचे

अधःशाखम्—१५-१ नीचेकी ओर शाखावाला, जिसकी शाखा नीचे की ओर है ऐसा

अधिकतर:—१२-५ (प्रमाणमें) बहुत अधिक

अधिकम्—६-२२ अधिक

अधिक:—६-४६, ४६, ४६ अधिक, बड़ा

अधिकार:—२-४७ अधिकार

अधिगच्छति—२-६४, ४-३६, ६-१५, २-३१, ५-६, २४, १४-१६, १८-४६, प्राप्त होता है, पाता है

अधिदैवतम्—८-४ } अधिदैव,
अधिदैवम्—८-२ } जीवस्वरूप

अधिभूतम्—८-१, ४ नामरूप

मात्र, नाशवान सृष्टि-स्वरूप, अधिभूत

अधियज्ञ—८-२, ४ सब यज्ञका अभिमानी विष्णु, देह मे रहते हुए भी यज्ञ द्वारा शुद्ध हुआ जीवस्वरूप

अधिष्ठानम्—३-४० निवासस्थान, आश्रय, किला, १८-१४ क्षेत्र, शरीर

अधिष्ठाय—४-६ लेकर, १५-९ आश्रय लेकर

अध्यक्षेण—९-१०, नियन्ता द्वारा, अधिकारके नीचे

अध्यात्मचेतसा—३-३० विवेकात्मबुद्धिसे, अध्यात्मवृत्ति रखकर

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्—१३-११ अध्यात्मज्ञानका नित्यत्व, आध्यात्मिक ज्ञानकी नित्यताका भान

अध्यात्मनित्या—१५-५ परमात्मस्वरूपके विचारमे निमग्न, आत्मामे नित्यनिमग्न

अध्यात्मविद्या—१०-३२ आत्मज्ञान, अध्यात्मविद्या

अध्यात्मसञ्ज्ञितम्—११-१ आध्यात्मिक, 'अध्यात्म' नामका

अध्यात्मम्—७-२९ अध्यात्मको, शरीरमे स्थित अतरात्माको, ८-१, ३ अध्यात्म, प्राणीमात्र मे स्वमत्तासे रहनेवाला

अध्येष्यते—१८-७० अभ्यास करेगा

अध्रुवम्—१७-१८ अनिश्चित

अनघ—३-३, १४-६, १५-२० हे पापरहित !

अनन्त—११-३७ हे अनन्त। अतरहित

अनन्तबाहुम्—११-१९ अनन्त हाथोवालेको

अनन्तरम्—१२-१२ बादमे, तुरत, अनन्तर

अनन्तरूप—११-३८ हे अनन्तरूप (कृष्ण)

अनन्तवीर्यम्—११-१९ अपार वीर्य (बल) वालेको

अनन्तवीर्यामितविक्रम—११-४० अनन्त सामर्थ्य और अमाप बलवाला

अनन्तम्—११-११, ४७ अन्त रहितको

अनन्तरूपम्—११-१६ अनन्त रूपवालेको

अनन्तविजयम्—१-१६ अनन्तविजय नामक (युधिष्ठिरके) शङ्खको

अनन्त—१०-२९ शेषनाग

अनन्ता—२-४१ अनन्त, अपार

अनन्यचेता—८-१४ जिसका चित्त और कहीं न हो वह, एकाग्र मनवाला

अनन्यभाक्—९-३० अनन्य निष्ठावाला, एकनिष्ठ (होकर)

अनन्यमनस:—९-१३ अनन्य चित्तवाले (होकर), एकनिष्ठासे

अनन्यया—८-२२, ११-५४ अनन्य (भक्ति) से

अनन्येन—(योगेन) १२-६ एक-निष्ठासे

अनन्ययोगेन—१३-१० अनन्य-ध्यानपूर्वक, अनन्य योगसे

अनन्या—९-२२ दूसरेको न पूजनेवाले, अनन्य भावसे

अनपेक्ष—१२-१६ इच्छारहित, निस्पृह

अनपेक्ष्य—१८-२५ बिना विचार किये

अनभिष्वङ्ग—१३-९ ममताका अभाव निर्ममत्व

अनभिसंधाय—१७-२५ (फलकी) आशा रखे बिना, इच्छा किये बिना

अनभिस्नेह—२-५७ रागरहित, स्नेहरहित

अनयो—२-१६ इन ('सत्' और 'असत्') का

अनल—७-४ अग्नि, तेज (तत्त्व)

अनलेन—३-३९ अग्निसे

अनवलोकयन्—६-१३ न देखता हुआ

अनवाप्तम्—३-२२ जो वस्तु न पाई गई हो, न मिली हो, अप्राप्त

अनश्नत—६-१६ उपवासीको, न खानेवालेको

अनसूयन्त—३-३१ द्वेषको त्यागनेवाले, निंदा न करनेवाले

अनसूयवे—९-१ द्वेषरहितको, निन्दा न करनेवालेको, दोषदर्शन न करनेवालेको

अनसूय—१८-७१ द्वेषरहित, असूयारहित

अनहंकार—१३-८ अहंकाररहित होना, अहंकारका अभाव, नम्रता

अनहंवादी—१८-२६ अहंतारहित

अनात्मन—६-६ जिसने आत्माको नहीं जीता है उसका, अजितेन्द्रियका

अनादित्वात्—१३-३१ अनादि होनेसे, अनादित्वके कारण

अनादिमत्—१३-१२ अनादि, बिन आदिका

अनादिमध्यान्तम्— ११-१९

जिसका आदि, मध्य या अंत न हो उसे, उत्पत्ति, स्थिति और नाशसे रहितको
अनादिम्—१०-३ आदिरहित, सनातन, अनादिरूप
अनादी—१३-१९ अनादि (द्विव)
अनामयम्—२-५१ निष्कलंक आमय-रोगरहित, निर्दोष, १४-६ आरोग्यकर, उपद्रव-रहित
अनारम्भात्—३-४ आरम्भ न करनेसे
अनार्यजुष्टम्—२-२ श्रेष्ठ पुरुषके अयोग्य, जो क्षुद्र पुरुषको ही शोभा दे, आर्य पुरुष जिसका सेवन न करे ऐसा
अनावृत्तिम्—८-२३, २६ मोक्ष, जहासे पीछे (इस संसार में) लौटकर न आना पड़े
अनाशिन—२-१८ अविनाशीका, नाशरहितका
अनाश्रित—६-१ आश्रय लिये विना, इच्छा किये विना
अनिकेत—१२-१९ विना घरका, जिसका कोई अपना निजी स्थान नही है
अनिच्छन्—३-३६ न चाहता हुआ
अनित्यम्—९-३३ अनित्य, क्षणिक
अनित्या—२-१४ क्षणिक, अनित्य
अनिर्देश्यम्—१२-३ अवर्णनीय, शब्दोद्वारा जिसका वर्णन न हो सके ऐसा
अनिर्विण्णचेतसा—६-२३ विना ऊबे
अनिष्टम्—१८-१२ अशुभ, दुःख-कर
अनीश्वरम्—१६-८ ईश्वररहित
अनुकम्पार्थम्—१०-११ दया करके, दया करनेके लिए
अनुचिन्तयन्—८-८ चिन्तन करता हुआ, एकाग्र होनेवाला
अनुतिष्ठन्ति—३-३१, ३२ अनु-करण करते है, अंगीकार करते हैं
अनुत्तमम्—७-२४ अनुपम, सर्वोत्तम
अनुत्तमम्—८-१८ जिसकी अपेक्षा दूसरी अधिक उत्तम न हो, ऐसी सर्वोत्तम (गति)
अनुद्विग्नमना—२-५६ उद्वेगरहित मनवाला
अनुद्वेगकरम्—१७-१५ जो दुःख न दे ऐसा
अनुपकारिणे—१७-२० उपकार न करनेवालेको—न माननेवाले-को (बदला मिलनेकी आशा बिना)

अनुपश्यति—१३-३०, १४-१६ (वह) देखता है
अनुपश्यन्ति—१५-१० (वे) देखते है
अनुपश्यामि—१-३१ (मैं) देखता हूं
अनुप्रपन्ना—९-२१ आश्रय लेनेवाले—करनेवाले
अनुबन्धम्—१८-२५ कर्मोके परिणामको, भविष्यमे होनेवाले शुभ या अशुभको
अनुबन्धे—१८-३९ परिणाममे, आखिरमे, अतमे
अनुमन्ता—१३-२२ अनुमति देनेवाला
अनुरज्यते—११-३६ अनुराग—प्रीति करता है
अनुवर्तते—३-२१ (वह) अनुसरण करता है
अनुवर्तन्ते—३-२३, ४-११ (वे लोग) अनुसरण करते है, उनके नीचे (अधीन) रहते हैं
अनुवर्तयति—३-१६- अनुसरण करता है, चलाता है
अनुविधीयते—२-६७ पीछे दौड़ा जाता है, पिरोया जाता है
अनुशासितारम्—८-९ नियन्ता—शास्ता—ईश्वर को
अनुशुश्रुम—१-४४ सुनते आये है
अनुशोचन्ति—२-११ शोक करते हैं
अनुशोचितुम्—२-२५ शोक करनेको
अनुषज्जते—६-४ आसक्त होता है, १८-१० लीन होता है, प्रीति करता है,
अनुसततानि—१५-२ फैले हुए, छाये हुए, पसरे हुए (हैं)
अनुस्मर—८-७ स्मरण कर, स्मरण रख
अनुस्मरन्—८-१३ चिन्तन करता हुआ, स्मरण करता हुआ
अनुस्मरेत्—८-९ ठीक स्मरण करता है
अनेकचित्तविभ्रान्ता·— १६-१६ अनेक भ्रान्तियोमे पड़े हुए, अनेक प्रकारके चित्तके सकल्पोसे भ्रात हुए
अनेकजन्मससिद्ध—६-४५ अनेक जन्मके प्रयत्नोसे शुद्ध हुआ, सिद्धि पाया हुआ-
अनेकदिव्याभरणम्— ११-१० अनेक दिव्य आभूपणवाला
अनेकधा—११-१३ अनेक रीतिसे
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्—११-१६ अनेक हाथ, उदर, मुख और नेत्रवालेको
अनेकवक्त्रनयनम्—११-१० अनेक

मुँह और आँखोंवालेको

अनेकवर्णम्—११-२४ अनेक रंगवालेको

अनेकाद्भुतदर्शनम्—११-१० अनेक अद्भुत दर्शनवाला, अति आश्चर्यजनक रूप-वाला

अनेन—३-१०, ११ इस (यज्ञ) द्वारा, ६-३० इस (वाक्य) से, ११-८ इन (चर्मचक्षु) से

अन्तकाले—२-७२, ८-५ अन्त-कालमें, मरणकालमें

अन्तगतम्—७-२८ जिसका अन्त आ गया है, जो नष्ट हो गया है

अन्तरम्—१३-२० अंतर, मध्य-भाग, १३-३४ भेद

अन्तरात्मना—६-४७ चित्तसे, मन लगाकर

अन्तरारामः—५-२४ जिसके अन्तरमें शांति है, जिसके अंतर में सारी क्रीड़ाएं हैं

अन्तरे—५-२७ बीचमें

अन्तर्ज्योतिः—५-२४ जिसे अंतर्ज्ञान हुआ है, अन्तरमें प्रकाशवान

अन्तवत्—७-२३ नाशवान, अन्त-वाला

अन्तवन्तः—२-१८ नाशवान, अंतवाले

अन्तम्—११-१६ अंतको

अन्तः—१०-१९, २०, ३२, ४०, १५-३ अंत, १३-१५ भीतर, २-१६ निर्णय, सार

अन्तःशरीरस्थम्—१७-६ अंतःकरणमें रहनेवालेको, शरीरके अन्दर रहनेवालेको

अन्तःसुखः—५-२४ जिसे अन्तरका आनंद है

अन्तःस्थानि—८-२२ भीतर स्थित, अंदर रहे हुए, अंतर्गत

अन्तिके—१३-१५ नजदीक, समीपमें

अन्ते—७-१९ अन्तमें, आखिरमें, ८-६ अन्तमें, मरणकालमें

अन्नम्—१५-१४ अन्न

अन्नसंभवः—३-१४ अन्नकी उत्पत्ति

अन्नात्—३-१४ अन्नसे

अन्यत्—२-३१, ४७, ७-२, ७, ११-७, १६-८ दूसरा कोई, दूसरा

अन्यत्र—३-९ दूसरे, दूसरेसे, अतिरिक्त (कर्म) में

अन्यथा—१३-११ उल्टा, विपरीत

अन्यदेवताभक्ताः—९-२३ अन्य देवताको भजनेवाले

अन्यदेवताः—७-२० दूसरे देव-ताओंको

अन्यथा—८-३६ दूसरेसे, दूसरे मार्गसे

अन्यत्—१८-१२ और किसीको, अन्यको, दूसरेको

अन्य—२-२९, ३१, ६-३३, ८-२०, ११-४३, १५-१७, १६-१५; १८-६६ दूसरा, ८-३१ दूसरा, पराया

अन्यान्—११-३४ दूसरोंको

अन्यानि—२-२२ दूसरे

अन्यान्—२-५ दूसरे, कभी

अन्यायेन—१६-१२ अनीतिसे, अन्यायपूर्वक

अन्ये—१-९, ४-२६, ६-२५, १०-४ दूसरे, १३-२४, २५ दूसरा, कोई

अन्योन्य—११-४३, ४८ दूसरेके-द्वारा

अन्येभ्य—१३-२ दूसरोंके पास

अन्वशोचः—२-११ (तू) शोक किया करता है

[illegible]—२-१२ है, साथ

अपि—१-२६, १०-४ कुछ, और, (अथवा) ऊपर

[illegible]—२-८ हाथ, कुछ ऊपर है

[illegible]

अपरस्परसम्भूतम्—१६-८ स्त्री (अपर) पुरुष (पर) के सबबमें उत्पन्न, नरमादाके सबबमें उत्पन्न, परस्पर सबब—कार्यकारणभावरहित

अपरा—७-५, दूसरी, निम्न प्रकारकी

अपराजित—१-१७ अजेय, न हारे ऐसा

अपराणि—२-२२ दूसरे

अपरान्—१६-१४ दूसरोंको

अपरिग्रह—६-१० संग्रहरहित, अपरिग्रही

अपरिमेयाम्—१६-११ अपार

अपरिहार्ये—२-२७ अनिवार्य (विषयमें)

अपरे—४-२५, २७, २८, २९, ३० कुछ, कोई, १३-२४; १८-३ दूसरे

अपर्याप्तम्—१-१० अपूर्ण, अनन्त

अपलायनम्—१८-४३ पीछे न हटना, भाग न जाना, अडिग रहना

अपश्यत्—१-२६; ११-१३ देखा

अपहृतचेतसाम्—२-४४ जिनकी बुद्धि मारी गई है उनकी, अविवेकियोंकी

अपहृतज्ञाना—७-१५ जिनका ज्ञान हर लिया गया है वे

अपानेषु—४-३० अपानोंमें

अपानम्—४-२९ अपान वायुको
अपाने—४-२९ अपान वायुमें
अपावृतम्—२-३२ खुला हुआ, उघड़ा हुआ
अपि—१-२७ इत्यादि, भी, फिर भी, तो भी
अपुनरावृत्तिम्—५-१७ फिर देह धारण न करना, मोक्ष
अपैशुनम्—१६-२ निन्दा न करना, चुगली न खाना, अपैशुन
अपोहनम्—१५-१५ अभाव, दूर होना
अप्रकाश—१४-१३ अन्धकार, अज्ञान, विवेकशून्यता
अप्रतिमप्रभाव—११-४३ अनुपमेय प्रभाववाला, जिसकी सामर्थ्यकी जोड़ नहीं
अप्रतिष्ठम्—१६-८ बिना आधारका
अप्रतिष्ठ—६-३८ आधाररहित, योगसे भ्रष्ट हुआ
अप्रतीकारम्—१-४६ प्रतिकार न करनेवालेको, सामने न होनेवालेको
अप्रदाय—३-१२ बिना दिये
अप्रमेयम्—११-१७, ४२ अमाप, प्रमाणसे बाहर
अप्रमेयस्य—२-१८ अमापका
अप्रवृत्ति—१४-१३ प्रवृत्तिका अभाव, मन्दता
अप्राप्य—६-३७, ९-३, १६-२० न पाकर (न पानेसे), न पाते हुए
अप्रियम्—५-२० अप्रिय, अनिष्ट वस्तु
अप्सु—७-८ पानीमें
अफलप्रेप्सुना—१८-२३ फलेच्छारहित (पुरुष) के द्वारा
अफलाकाङ्क्षिभि—१७-११, १७ जिन्हें फलकी इच्छा नहीं उनके द्वारा, फलेच्छाका त्याग करके
अबुद्धय—७-२४ बुद्धिहीन, अज्ञानी, मूर्ख लोग
अब्रवीत्—१-२, २७, बोला, ४-१ कहा
अभक्ताय—१८-६७ जो भक्त नहीं है उसको—उसके लिए
अभयम्—१०-४, १६-१ अभय, निर्भयता
अभवत्—१-१३ था, हुआ
अभावयत—२-६६ ध्यानरहितको, जिसे भक्ति नहीं उसे
अभाव—२-१६ नाश, अभाव, १०-४ मृत्यु
अभाषत—११-१४ बोला

अभ्यासयोगेन—१२-९ चित्तको एक स्वरूपमे पिरोनेसे, अभ्यासयोगसे
अभ्यासात्—१२-१२ अभ्यास—अभ्यासमार्गकी अपेक्षा, १८-३६ अभ्याससेवनसे
अभ्यासे—१२-१० अभ्यास रखनेमे
अभ्यासेन—६-३५ अभ्याससे
अभ्युत्थानम्—४-७ वृद्धि, जोर करना, ज़ोरपर आना
अमलान्—१४-१४ निर्मल
अमानित्वम्—१३-७ नम्रता, आत्मस्तुति न करना
अमी—११-२१, २६, २८ ये
अमुत्र—६-४० परलोकमें
अमूढा—१५-५ ज्ञानी पुरुष
अमृतत्वाय—२-१५ मोक्षके—अमरताके लिए
अमृतस्य—१४-२७ मोक्षका, अविनाशीका, अमृतका
अमृतम्—९-१९, १३-१२, १४-२० अमरता, मोक्ष १०-१८ अमृतके समान मधुर वचन
अमृतोद्भवम्—१०-२७ अमृतमे से उत्पन्न, अमृतमथनके समय निकला हुआ
अमृतोपमम्—१८-३७, ३८ अमृतकी उपमाके लायक अमृत-जैसा
अमेध्यम्—१७-१० यज्ञके लिए अयोग्य, अपवित्र, अभक्ष्य
अम्बुवेगा—११-२८ जलप्रवाह, नदियोकी मोटी धार
अम्भसा—५-१० पानीसे
अम्भसि—२-६७ पानीमे
अयज्ञस्य—४-३१ यज्ञ न करनेवालेको (के लिए)
अयति—६-३७ जो पूरा प्रयत्न न कर सका हो, यत्नमे मद
अयथावत्—१८-३१ अयोग्यरीतिसे, जो यथायोग्य न हो
अयनेषु—१-११ मार्गोमे, नियुक्त स्थानमें
अयश—१०-५ अपकीर्ति, अपयश
अयम्—२-१९, २०, २०, २४, २४, २४, २५, २५, २५, ३०, ५८, ३-९, ३६, ४-३, ३१, ४०, ६-२१, ३३, ७-२५, ८-१९, ११-१, १३-३१, १५-९, १७-३ यह
अयुक्तस्य—२-६६, जिसे समत्व न हो उसे
अयुक्त—५-१२ अयोगी, अस्थिरचित्त, १८-२८ चचल, असावधान, अव्यवस्थित
अयोगत—५-६ कर्मयोगके विना
अरति—१३-१० अप्रीति, (सम्मिलित होनेकी) अरुचि

अरागद्वेषतः—१८-२३ रागद्वेष के बिना

अरिसूदन—२-४ हे शत्रुका नाश करनेवाले कृष्ण

अर्चितुम्—७-२१ पूजना, भक्ति करना

अर्जुन—२-२, ४५, ३-७, ४-५, ९, ३७, ६-१६, ६-३२, ४६, ७-१६, २६; ८-१६, २७, ९-१९, १०-३२, ३९, ४२ ११-४७, ५४, १८-९, ३४, ६१, हे अर्जुन

अर्जुनम्—११-५० अर्जुनको

अर्जुनः—१-२१, ४७ अर्जुन

अर्थकामान्—२-५ द्रव्यकी कामनावालोंको, अर्थ और कामरूप (भोगोंको)

अर्थव्यपाश्रयः—३-१८ व्यक्तिगत लाभ, हानिलाभार्थ व्यवहार, प्रयोजनसंबंध

अर्थसंचयान्—१६-१२ द्रव्यसंचय को

अर्थः—२-४६, ३-१८ अर्थ, प्रयोजन, स्वार्थ

अर्थार्थी—७-१६ धनादिकी इच्छावाला, प्राप्तिकी इच्छावाला

अर्थे—१-३३, ३८ वास्ते; २-२७; ३-३४ के विषयमें

अर्पणम्—४-२४ अर्पण करनेकी, होमनेकी क्रिया, होमनेका साधन

अर्पितमनोबुद्धिः—८-७; १२-१४ जिसने मन तथा बुद्धि अर्पण की है

अर्यमा—१०-२९ पितरोंका देवता, अर्यमा

अर्हति—२-१७ (वे) शक्तिमान होते हैं, लायक होते हैं

अर्हसि—२-२५, २६, २७, ३०, ३१, ३-२०, ६-३९, १०-१६, ११-४४, १६-२४ (तू) लायक है, (तुझे) योग्य लगता है

अर्हाः—१-३७ योग्य

अलसः—१८-२८ आलसी

अलोलुप्त्वम्—१६-२ लोलुपताका अभाव, अलोलुप्ता

अल्पबुद्धयः—१६-९ अल्पमतिवाले, मंदमति

अल्पमेधसाम्—७-२३ कम बुद्धिवालोंका, अल्पबुद्धि लोगोंका

अल्पम्—१८-२२ तुच्छ, थोड़ा

अवगच्छ—१०-४१ जान, समझ

अवजानन्ति—९-११ अवज्ञा—तिरस्कार—करते हैं

अवज्ञातम्—१७-२२ अवज्ञापूर्वक, अपमान करके, तिरस्कारसे

अवतिष्ठति—१४-२३ स्थिर रहता है

अवतिष्ठते—६-१८ स्थिर होता है

अवध्य—२-३० अवध्य, जो न मारा जा सके

अवनिपालसङ्घैः—११-२६ राजाओंके समुदायसहित

अवरम्—२-४९ नीचेका, तुच्छ

अवशम्—९-८ पराधीन, असहाय

अवश—३-५, ६-४४, ८-१९, १८-६०, पराधीन, परवश, असहाय

अवशिष्यते—७-२ बाकी रहता है

अवष्टभ्य—९-८ आश्रय लेकर, १६-९ पकडे रखकर

अवसादयेत्—६-५ नाश करे, अधःपात करे

अवस्थातुम्—१-३० खडा—स्थिर—रहना

अवस्थितम्—१५-११ रहे हुएको

अवस्थित—९-४, १३-३२, प्रतिष्ठित, के आश्रित रहा हुआ

अवस्थितान्—१-२२, २७ खडे हुओंको

अवस्थिता—१-११, ३३, २-६, ११-३२, रहे हुए, खडे हुए, खडा किये हुए

अवहासार्थम्—११-४२ मस्खरीके लिए, विनोदके लिए

अवाच्यवादान्—२-३६ न बोलने योग्य बोल

अवाप्तव्यम्—३-२२ प्राप्त करनेको, प्राप्त करने योग्य

अवाप्तुम्—६-३६ प्राप्त होना, साधना

अवाप्नोति—१५-८, १६-२३, १८-५६ प्राप्त करता है

अवाप्य—२-८ प्राप्त करके

अवाप्यते—१२-५ प्राप्त की जाती है

अवाप्स्यथ—३-११ प्राप्त होओगे

अवाप्स्यसि—२-३८, ५३, १२-१०, प्राप्त करेगा, २-३३ प्राप्त होगा

अविकम्पेन—१०-७ अचल, अविचल

अविकार्यः—२-२५ जो विकारको न प्राप्त हो

अविज्ञेयम्—१३-१५ जो न जाना जाय ऐसा

अविद्वांस—३-२५ अज्ञानी

अविधिपूर्वकम्—९-२३, १६-१७, विधिरहित, अज्ञानपूर्वक, बिना विधिके

अविनश्यन्तम्—१३-२७ अविनाशीको

अविनाशि—२-१७ नाशरहित, अविनाशी

अशक्त—१२-११ अशक्त, असमर्थ
अशम—१४-१२ अशांति
अशस्त्रम्—१-४६ शस्त्रहीनको
अशान्तस्य—२-६६ अशांतका, जिसे शांति न हो उसे
अशाश्वतम्—८-१५ अनित्य, अशाश्वत
अशास्त्रविहितम्—१७-५ शास्त्र-निषिद्ध, शास्त्रीय विधिरहित
अशुचिव्रता—१६-१० अमंगल आचारवाले, अशुभ निश्चयो-वाले
अशुचि—१८-२७ अपवित्र, मैला
अशुचौ—१६-१६ अपवित्र—अशुभ—मे
अशुभात्—४-१६, ९-१ अशुभ—पाप—मेसे, अकल्याणमेसे
अशुभान्—१६-१९ पापोको, अमंगलको
अशुश्रूषवे—१८-६७ जो सुननेकी इच्छा नही करता उसे
अशेषत—६-२४, ३९, ७-२ पूर्ण रूपसे, पूरी तरहसे, १८-११ सर्वथा
अशेषेण—४-३५, १०-१६, १८-२९, ६३ नि.शेष, पूर्ण रीतिसे
अशोच्यान्—२-११ न शोक करने योग्यको
अशोष्य—२-२४ जो न सूख सके
अश्नन—५-८ खाता हुआ
अश्नन्ति—९-२० (वे) भोगते हैं, सेवन करते है
अश्नामि—९-२६ (मैं) सेवन करता हू
अश्नासि—९-२७ (तू) खाता है
अश्नुते—३-४, ५-२१, ६-२८, (वह) अनुभव करता है १३-१२, १४-२० प्राप्त होता है
अश्रद्दधान—४-४० श्रद्धारहित
अश्रद्धधाना—९-३ श्रद्धाहीन
अश्रद्धया—१७-२८ श्रद्धाके बिना
अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्—२-१ आसूसे जिसकी आख भरकर व्याकुल हो गई है उसे, अश्रुपूर्ण व्याकुल नेत्रवालेको
अश्रौषम्—१८-७४ (मैंने) सुना
अश्वत्थम्—१५-१, ३ अश्वत्थको, अश्वत्थ वृक्षको, आनेवाले क्षण तक न टिक सके ऐसे (क्षण-भगुर) को
अश्वत्थ—१०-२६ पीपल, अश्वत्थ वृक्ष
अश्वत्थामा—१-८ द्रोणाचार्यका पुत्र
अश्वानाम्—१०-२७ घोडोमे
अश्विनौ—११-६, २२ (दो) अश्विनीकुमार

आत्मा—६-५ ६, ७-१८, ९-५, १०-२०, १३-३३ आत्मा

आत्मानम्—३-४३, ४-७, ६-५, १०, १५, २०, २८, २९, ९-३४, १०-१५, ११-३, ४, १३-२४, २८, २९, १८-१६, ५१ आत्माको, अपनेको

आत्मौपम्येन—६-३२ अपने साथ तुलना करके, अपने-जैसा मानकर

आत्यन्तिकम्—६-२१ अनन्त, परम

आदत्ते—५-१५ ग्रहण करता है, छोड़ता है

आदर्श:—३-३८ दर्पण

आदिकर्त्रे—११-३७ आदिकर्त्ताको सिरजनहारको

आदित्यगतम्—१५-१२ आदित्यमें (सूर्यमें) स्थित

आदित्यवत्—५-१६ सूर्यके-जैसा, सूर्यकी तरह

आदित्यवर्णम्—८-९ सूर्यके समान तेजवालेको

आदित्यानाम्—१०-२१ आदित्योंमें

आदित्यान्—११-६ आदित्योंको

आदिदेवम्—१०-१२ आदिदेवको, देवोंमें प्रथमको

आदिदेव—११-३८ देवोंमें प्रथम

आदिम्—११-१६ आदिको

आदि—१०-२ उत्पत्तिकारण आदिकारण, १०-२०, ३२, १५-३ आदि, आरम्भ

आदौ—३-४१ प्रथम, ४-४ पहले

आद्यन्तवन्त—५-२२ आदि और अंतवाले

आद्यम्—८-२८, ११-३१, ४७, १५-४ प्रथम, आदिकारणरूप, आदिमें विद्यमान

आधत्स्व—१२-८ लगा, चिपका, पिरो

आधाय—५-१० अर्पण करके, ८-१२ धारण करके, स्थापित करके

आधिपत्यम्—२-८ मुखियापन, प्रभुत्व

आपन्नम्—७-२४ प्राप्त हुएको

आपन्ना—१६-२० प्राप्त हुए, प्राप्त होकर

आप—२-२३, ७० पानी, ७-४ पानी, रस, जलतन्मात्रा

आपूर्य—११-३० पूरा करके, भर करके

आपूर्यमाणम्—२-७० चारों ओरसे पूर्ण होते हुए—भरते हुए (को)

आप्तुम्—५-६; १२-९ पाने—प्राप्त करने (को)

आप्नुयाम्—३-२ (मैं) प्राप्त करू, पाऊ

आप्नुवन्ति—८-१५ (वे) प्राप्त करते हैं

आप्नोति—२-७०, ३-१६, ४-२१, ५-१२, १८-४७, ५० प्राप्त करता है

आब्रह्मभुवनात्—८-१६ ब्रह्मलोकतक (के)

आयुधानाम्—१०-२८ शस्त्रोंमें, हथियारोंमें

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धना—१७-८ आयुष्य, उत्साह (सत्त्व), बल, आरोग्य, आनन्द (सुख) और रुचि बढानेवाले

आरभते—३-७ आरम्भ करता है

आरभ्यते—१८-२५ आरंभ किया जाता है, शुरू किया जाता है

आरम्भ—१४-१२ (कर्मोका) आरम्भ

आरुरुक्षो—६-३ ऊपर चढनेकी, प्राप्त करनेकी—इच्छावालेको, साधन करने वालेको, उत्थान चाहनेवालेको

आर्जवम्—१३-७, १६-१, १७-१४, १८-४२ सरलता

आर्त—७-१६ (रोगादिके भयसे) दुःखी

आवयो—१८-७० हम दोनोका

आवर्तते—८-२६ पीछे फिरता है

आवर्तिन—८-१६ पीछे लौटनेवाले

आविश्य—१५-१३, १७ प्रवेश करके

आविष्टम्—२-१ घिरे हुएको, दीन बने हुएको

आविष्ट—१-२८ घिरा हुआ, दीन बना हुआ

आवृतम्—३-३८, ३९, ५-१५ ढका हुआ

आवृत—३-३८ ढका हुआ

आवृता—१८-३२ ढकी हुई, घिरी हुई

आवृता—१८-४८ ढके हुए, घिरे हुए

आवृत्तिम्—८-२३ पीछे लौटना, पुनर्जन्म

आवृत्य—३-४०, १३-१३, १४-९ ढाककर, व्याप्त (आवृत) कर

आवेशितचेतसाम्—१२-७ जिनका चित्त पिरोया हुआ है उनका करके, लगाकर, एकाग्र करके

आव्रियते—३-३८ ढका जाता है, घिरा रहता है

आशयात्—१५-८ स्थानमेसे, आसपासके मंडलमेसे

आशापाशशतै—१६-१२ आशा-

ई

ईदृक्—११-४६ ऐसा

ईदृशम्—२-३२, ६-४२ ऐसा इस प्रकारका

ईशम्—११-१५, ४४ नियताको, ईशको, ईश्वरको,

ईश्वरभाव—१८-४३ प्रभुता, राज्यकर्त्तापन

ईश्वरम्—१३-२८ ईश्वरको

ईश्वर—४-६ स्वामी, १५-८ जीवरूप बना हुआ यह मेरा अंशरूपी ईश्वर, १५-१७, १८-६१ ईश्वर, परमात्मा, १६-१४ ईश्वर, सर्वसम्पन्न

ईहते—(वे) इच्छा करते है

ईहन्ते—१६-१२ (वे) इच्छा करते हैं

उ

उक्तम्—११-१, ४१, १२-२०, १३-१८, १५-२० कहा हुआ उक्त, कहा गया

उक्त—१-२४, ८-२१, १३-२२ कहा गया, कहा हुआ

उक्ता—२-१८ कहे गये हैं, कहा है

उक्त्वा—१-४७, २-६, ११-६, २१, ५० कहकर, बोलकर

उग्रकर्माण—१६-६ घोर कर्म करनेवाले, भयानक काम करनेवाले

उग्ररूप—११-३१ भयंकर रूपवाला, उग्ररूप

उग्रम्—११-२० उग्र

उग्रा—११-३० उग्र

उग्रैं—११-४८ उग्र (तपो) से

उच्चैं—१-१२ ऊंचे स्वरसे

उच्चैं श्रवसम्—१०-२७ उच्चै-श्रवा नामका जो इन्द्रका घोड़ा है, उसे

उच्छिष्टम—१७-१० जूठन

उच्छोपणम्—२-८ चूस लेनेवाले

उच्यते—२-२५, ४८, ५५, ५६, ३-६, ४०, ६-३, ४, ८, १८, ८-१, ३, १३-१२, १७, २०, १४-२५, १५-१६, १७-१४, १५, १६, २७, २८, १८-२३, २५, २६, २८ कहाता है, कहा जाता है

उत—१-४०, १४-६, ११ सच-मुच, भी

उत्क्रामति—१५-८ छोड़ता है, त्यागता है

उत्क्रामन्तम्—१५-१० (देह) छोड़ते हुए को, (शरीरका) त्याग करते हुएको

उत्तमविदाम्—१४-१४ ज्ञानियोंका

उत्तमम्—४-३, ६-२७, ९-२, १४-१, १८-६ उत्तम

है, [illegible]

[illegible]—[illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]—१३-२२ [illegible]

[illegible]

[illegible]—[illegible]

[illegible]—[illegible] [illegible] है, होता है, [illegible] ६-३९ [illegible] १८ [illegible] है

उपपन्नम्—२-३२ [illegible] प्राप्त हुआ

[illegible]—६-१९ [illegible]

[illegible]—१०-१० [illegible]

[illegible]—६-२५ [illegible] हुआ [illegible] हुआ

उपरमते—६-२० [illegible] है, [illegible] आता है

उपरमेत्—६-२५ [illegible] हो, [illegible]

उपलभ्यते—१५-३ उपलब्ध होता है, जाना जा सकता है, देखनेमें आता है

उपलिप्यते—१३-३२, लिप्त होता है, लिपटता है

उपविश्य—६-१२ बैठकर

उपसंगम्य—१-२ पास जाकर

उपसेवते—१५-९ भोगता है,

[illegible] करता है

[illegible]—[illegible] [illegible]

[illegible]—[illegible] [illegible] द्वारा

[illegible]—१-४७ बैठ गया

[illegible]—[illegible], १६-११ [illegible]

[illegible]—१४-२, १८-५७ [illegible]

[illegible]—[illegible], १२-२, [illegible], १३-२५ पूजते हैं, उपा- [illegible]

[illegible]—[illegible] से युक्त, युक्त हुआ

[illegible]—६-३७ से युक्त, युक्त हुआ

[illegible]—८-१५, १६ पहुँचकर, पाकर

[illegible]—६-२७, ८-१०, २८ [illegible] जाता है, प्राप्त होता है

उपैष्यसि—९-२८ (तू) प्राप्त होगा

उभयविभ्रष्टः—६-३८ दोनों (कर्म और योग-मार्ग) से गया हुआ (गिरा हुआ)

उभयोः—१-२१, २४, २-१०, १६, ५-४ दोकी, दोनोंकी, १-२७ दोनोंमें

उभे—२-५० दोनों

उभौ—२-१९, ५-२, १३-१९ दोनों

ऊ

ऋ

ए

एकान्तम्—६-१६ केवल, बिल्कुल

एकांशेन—१०-४२ एक अंश—भाग—से

एकेन—११-२० अकेलेके द्वारा

एके—१८-३ कई एक, कितने ही

एतत्—२-३, ६, ३-३२, ४-३, ४, ६-२९, ३९, ४२, १०-१४, ११-३, ३५, १२-११, १३-१, ६, ११, १८, १५-२०, १६-२१, १७-१६, २६, १८-६३, ७२, ७५ यह

एतद्योनीनि—७-६ ये (दोनो प्रकृतियां) जिनकी उत्पत्तिका कारण हैं वे भूत

एतयोः—५-१ इन (दो) मेंसे

एतस्य—६-३३ इसकी, उसकी

एतानि—१४-१२, १३, १५-८, १८-६, १३ ये

एतान्—१-२२, २५, ३५, ३६, १४-२०, २१, २६, इनको

एताम्—१-३, ७-१४, १०-७, १६-९ इसको

एतावत्—१६-११ इतना मात्र, 'भोग ही सर्वस्व है' ऐसा (निश्चय करनेवाले)

एति—४-९, ८-६, ११-५५ जाता है, प्राप्त होता है

एते—१-२३, २८, २-१४, ४-३०, ७-१८, ११-३३, १८-१५ ये, ८-२६, २७ ये दो

एतेन—३-३९, १०-४० इससे, इसके द्वारा

एतेषाम्—१-१० इन (लोगों) का

एतैः—१-४३, ३-४०, १६-२२ इनके द्वारा

एधांसि—४-३७ ईंधन, लकड़ियां

एनम्—२-१९, २१, २३, २४, ४-४२, ६-२७, ११-५०, १५-३, ११ इसको, इनको

एनाम्—२-७२ इसको

एभिः—७-१३, १८-४० इनके द्वारा, इनसे

एभ्यः—३-१२ इनको ७-१३ इनसे

एव—१-१, ६, ८ इत्यादि, और, वैसे ही, भी, ही

एवम्—१-२४ इत्यादि, ऐसे, इस प्रकार, २-२५, २६ ऐसा, २-३८ ऐसा करनेसे

एवंरूप—११-४८ ऐसे रूपवाला

एवंविध—११-५३, ५४ इस भांतिका, इस प्रकारका

एष—२-१०, ३७, ४०, १०-४०, १८-५९ यह, वे

एषा—२-३९, ७२, ७-१४ यह

एषाम्—१-४२ इनके

एष्यति—१८-६८ आवेगा, प्राप्त होगा

एष्यसि—८-७, ९-२४ १८-६५ (तू) आवेगा, पावेगा

ऐ

ऐकान्तिकस्य—१४-२८ उत्तम २६, २९; ३-३७, ४१; —परम—अखंड, एकरस- (का)

ऐश्वरम्—९-५, ११-३, ८, ९ ईश्वरीय

ऐरावतम्—१०-२७ ऐरावत हाथी (को)

ओ

ओजसा—१५-१३ तेजसे, बलसे, शक्तिसे

ओषधी—१५-१३ अनाजको, वनस्पतियोंको

ओम्—८-१३ प्रणव, ओंकार, १७-२३, २४ ओम्

ओंकार—९-१७ प्रणव

औ

औषधम्—९-१६ (मंत्रमें) वन-स्पति

क

कच्चित्—६-३८, १८-७२ क्या ... भी, क्या

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्ष-विदाहिन—१७-९ कड़वे, खट्टे, खारे, बहुत उष्ण, तीखे, रूखे, जलन पैदा करनेवाले

कतरत्—२-६ (दोमेंसे) कौन-सा, क्या

कथम्—१-३७, ३९, २-४, २१, ४-४, ८-२, १०-१७, १४-२१ क्यों, कैसे

कथय—१०-१८ (तू) कह

कथयत—१८-७५ कहनेवाले (से)

कथयन्त—१०-९ कथन करते हुए, कीर्तन करते हुए

कथयिष्यन्ति—२-३४ (वे) कहेंगे

कथयिष्यामि—१०-१९ (मैं) कहूंगा

कदाचन—२-४७, १८-६७ कभी भी

कदाचित्—२-२० कभी-कभी

कन्दर्पः—१०-२८ कामदेव

कपिध्वज—१-२० जिसकी ध्वजापर वानर (हनुमान) है वह, अर्जुन

कपिलः—१०-२६ कपिल मुनि

कम्—२-२१ किसको

कमलपत्राक्ष—११-२ कमल-पत्र-जैसी आंखवाले हे कृष्ण

कुरुक्षेत्रे—१-१ (कर्मक्षेत्र)—देह-मे), जहा पाडव-कौरवोंके मध्य युद्ध हुआ था उस क्षेत्रमे, कुरुक्षेत्रमे

कुरुते—३-२१, ४-३७ करता है

कुरुनन्दन—२-४१, ६-४३, १४-१३ हे कुरुनदन (अर्जुन)

कुरुप्रवीर—११-४८ हे कुरुओं मे श्रेष्ठ—महान् वीर

कुरुवृद्ध—१-१२ कुरुओंमे वृद्ध (भीष्म)

कुरुश्रेष्ठ—१०-१९ हे कुरुओंमे उत्तम (अर्जुन)

कुरुष्व—९-२७ कर

कुरुसत्तम—४-३१ हे कुरुओंमे श्रेष्ठ (अर्जुन)

कुरून्—१-२५ कौरवोंको

कुर्यात्—३-२५ करे

कुर्याम्—३-२४ (मैं) करू

कुर्वन्—४-२१, ५-७, १३, १३-१०, १८-४७ करता हुआ

कुर्वन्ति—३-२५, ५-११ (वे) करते है

कुर्वाण—१८-५६ करता हुआ

कुलक्षयकृतम्—१-३८, ३९ कुलके नाश मे उत्पन्न

कुलक्षये—१-४० कुलके नाशमे, कुलनाश होनेसे

कुलघ्नानाम्—१-४२, ४३ कुल-घातको के

कुलधर्मा—१-४०, ४३ कुलके धर्म

कुलम्—१-४० कुलको

कुलस्य—१-४२ कुलका

कुलस्त्रियः—१-४१ कुलकी स्त्रिया, कुलीन स्त्रिया

कुले—६-४२ कुटुम्बमें, कुलमे

कुशले—१८-१० सुखकर कल्याणकारी, मंगल

कुसुमाकर—१०-३५ वसत ऋतु

कूटस्थम्—१२-३ सर्वदा एकरूप, धीर

कूटस्थ—६-८, १५-१६ निर्विकारी, अकम्पवान, अविचल, स्थिर

कूर्म—२-५८ कछुवा

कृतकृत्य—१५-२० कृतार्थ

कृतनिश्चयः—२-३७ जिसने निश्चय किया है वह, निश्चय करके

कृतम्—४-१५, १७-२८, १८-२३ किया हुआ

कृताञ्जलि—११-१४, ३५ जिसने हाथ जोडे हैं वह, हाथ जोडकर

कृतान्ते—१८-१३ जिसमे सर्व कर्मकी समाप्ति है उसमे (शकर), (साख्य) सिद्धातमे, साख्यशास्त्रमे

क्षेमतरम्—१-४६ बहुत कल्याण-कारक

ख

खम्—७-४ आकाश (तन्मात्रा)

खे—७-८ आकाश मे

ग

गच्छ—१८-६२ जा

गच्छति—६-३७, ४० जाता है प्राप्त करता है

गच्छन्—५-८ चलते हुए

गच्छन्ति—२-५१, ५-१७, ८-२४, १४-१८, १५-५ जाते हैं, प्राप्त करते हैं

गजेन्द्राणाम्—१०-२७ गजेन्द्रोमे, उत्तम हाथियोमे

गतरसम्—१७-१० जिसमेसे रस बह गया हो वह, बहुत पका हुआ, रसहीन

गतव्यथ—१२-१६ भयरहित चिंतारहित

गतसगस्य—४-२३ सगरहितका, आसक्तिरहितका

गतसंदेह:—१८-७३ संशयरहित हुआ

गत—११-५१ गया हुआ, पाया हुआ

गतागतम्—९-२१ गमन-आगमनको, जन्म-मरणके फेरको, आवागमनको

गतासून्—२-११ मरे हुओंको

गता—८-१५ प्राप्त हुए, १४-१ प्राप्त हो गये हैं, १५-४ गये हुए

गतिम्—६-३७, ४५, ७-१८, ८-१३, २१, ९-३२, १३-२८, १६-२०, २२, २३ गतिको

गति—४-१७, ९-१८, १२-५ गति

गती—८-२६ (दो) गति, मार्ग

गत्वा—१४-१५, १५-६ जाकर, प्राप्त होकर

गदिनम्—११-१७, ४६ गदा-धारीको

गन्तव्यम्—४-२४ प्राप्त करने योग्य

गन्तासि—२-५२ (तू) जायगा, प्राप्त करेगा

गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसघा—११-२२ गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धोके समुदाय—सघ

गन्धर्वाणाम्—१०-२६ गधर्वोमे

गन्ध—७-९ गध, वास

गन्धान्—१५-८ गधोको

गम्यते—५-५ प्राप्त किया जाता है

गरीयसे—११-३७ महानको, बहुत बडे को

गरीय—२-६ अधिक श्रेष्ठ (बहुत बडा)

गरीयान्—११-४३ श्रेष्ठ, बहुत बडे

गर्भम्—१४-३ गर्भको
गर्भ—३-३८ गर्भ
गात्रे—५-१८ गायमें, गायके बदलमें
गहना—४-१७ गभीर, विचित्र गूढ़
गाण्डीवम्—१-३० गाडीव धनुष
गात्राणि—१-२८ अंग, गात्र
गायत्री—१०-३५ इस नामका एक वैदिक छंद
गाम्—१५-१३ पृथ्वीको
गिराम्—१०-२५ वाणियोंमें, वचनोंमें
गीतम्—१३-४ गाया गया है, गाया हुआ
गुडाकेश—१०-२०, ११-७ हे निद्राको जीतनेवाले अर्जुन
गुडाकेश—२-९ अर्जुन
गुडाकेशेन—१-२४ अर्जुनद्वारा
गुणकर्मविभागयोः—३-२८ गुण तथा कर्मके विभागोंका
गुणकर्मविभागशः—४-१३ गुण और कर्मके विभागके अनुसार
गुणकर्मसु—३-२९ इन्द्रियोंके कर्मोंमें, गुणोंके कामोंमें
गुणतः—१८-२९ गुणके अनुसार
गुणप्रवृद्धाः—१५-२ गुणोंद्वारा बढ़ी हुई, गुणोंके सम्बन्धद्वारा वृद्धिको प्राप्त हुई
गुणभेदतः—१८-१९ गुणोंके भेदोंसे
गुणभोक्तृ—१३-१४ गुणोंका भोक्ता
गुणमयी—७-१४ गुणयुक्त, (तीन) गुणवाली
गुणमयैः—७-१३ गुणयुक्त
गुणसंग—१३-२१ गुणोंका स्पर्श, गुणसंग
गुणसंमूढाः—३-२९ गुणोंसे मोहित
गुणसंख्याने—१८-१९ गुणसंख्याके (कपिलके सांख्य) शास्त्रमें, गुणोंकी गणनामें, सांख्यशास्त्रमें
गुणातीत—१४-२५ गुणोंको लाँघ जानेवाला, गुणातीत
गुणान्—१३-१९, २१, १४-२०, २१, २६ गुणोंको
गुणान्वितम्—१५-१० गुणयुक्तको
गुणाः—३-२८, १४-५, २३ गुण
गुणेषु—३-२८ गुणोंके सम्बन्धमें
गुणेभ्यः—१४-१९ गुणोंसे, तीनों गुणोंके सिवा
गुणैः—३-५, २७, १४-२३ (सत्त्वादि तीन) गुणोंसे, १३-२३ गुणोंके साथ, १८-४० ४१ गुणोंके द्वारा (से)
गुरुणा—६-२२ बड़े भारी (दुःख) से
गुरु—११-४३ गुरु
गुरून्—२-५ गुरुओंको, गुरुजनोंको
गुह्यतमम्—९-१; १५-२० सबसे

अधिक गुह्य, गुह्यसे गुह्य

गुह्यतरम्—१८-६३ बहुत गुह्य

गुह्यम्—११-१, १८-६८, ७५ गुप्त वस्तु, रहस्य, गुह्य

गुह्यात्—१८-६३ गुह्यसे

गुह्यानाम्—१०-३८ गुह्य (रखने योग्य) बातोंमें

गृणन्ति—११-२१ उच्चारण करते हैं

गृह्णन्—५-९ पकड़ता हुआ, लेता हुआ

गृह्णाति—२-२२ ग्रहण करता है, धारण करता है

गृहीत्वा—१५-८, १६-१० लेकर, ग्रहण करके

गृह्यते—६-३५ निरुद्ध होता है, वशमें किया जा सकता है

गेहे—६-४१ घर में

गोविन्द—१-३२ (हे) गोविन्द

गोविन्दम्—२-९ गोविन्दको

ग्रसमानः—११-३० ग्रास करते हुए, खा डालते हुए

ग्रसिष्णु—१३-१६ संहार करनेवाला, भक्षण करनेवाला

ग्लानिः—४-७ ग्लानि, मंदता

घ

घातयति—२-२१ मरवाता है, हनन करवाता है

घोरम्—११-४९, १७-५ भयंकर, घोर, विकराल

घोरे—३-१ क्रूर (कर्म) में घोर (कर्म) करनेके सम्बन्धमें

घोषः—१-१९ आवाज, नाद

घ्नतः—१-३५ मारनेवालोंको मारनेपर

घ्राणम्—१५-९ नाक

च

च—१-१ इत्यादि, और, भी, वैसे ही, (कितनी ही बार पाद-पूरणार्थ भी प्रयुक्त होता है)

चक्रहस्तम्—११-४६ जिसके हाथमें चक्र है उसे

चक्रम्—३-१६ प्रवृत्ति, चक्र

चक्रिणम्—११-१७ चक्रधारी (कृष्ण) को

चक्षुः—५-२७ दृष्टिको, ११-८, १५-९ दृष्टि, आंख

चञ्चलत्वात्—६-३३ चञ्चलताके कारण

चञ्चलम्—६-२६, ३४ चञ्चल, अस्थिर

चतुर्भुजेन—११-४६ चार हाथवालेसे

चतुर्विधम्—१५-१४ चार प्रकारका (खाद्य, पेय, चोष्य, लेह्य)

चतुर्विधाः—७-१६ चार प्रकारके

चत्वार--१०-६ चार (सनक, सनंदन, सनातन और सनत्कुमार)

चन्द्रमसि—१५-१२ चन्द्रमामें

चमूम्—१-३ सेनाको

चरताम्—२-६७ (विषयोंमें) भटकती हुई (इन्द्रियोंके)

चरति—२-७१ फिरता है, विचरता है, ३-३६ करता है, आचरण करता है

चरन्ति—८-११ (वे) आचरण करते हैं

चरन्—२-६४ फिरते हुए, (इंद्रियों-का) व्यापार चलाते हुए

चरम्—१३-१५ जंगम, गतिमान

चराचरम्—१०-३९ स्थावर-जंगम (भूत सृष्टि)

चराचरस्य—११-४३ जंगम (चर) और स्थावर (अचर) का

चलति—६-२१ चलता है, चलाय-मान होता है

चलम्—६-३४, १७-१८ चंचल अस्थिर

चलितमानस—६-३७ चंचल मन-वाला

चातुर्वर्ण्यम्—४-१३ चार वर्णकी योजना, चार वर्ण

चान्द्रमसम्—८-२५ चन्द्रमाकी

चापम्—१-४७ धनुषको

चिकीर्षु—३-२५ करनेकी इच्छा करते हुए

चित्तम्—६-१८, २०, १२-९ चित्त, मन

चित्ररथ—१०-२६ गन्धर्वोंका नायक चित्ररथ

चिन्तयन्त—९-२२ चिंतन करते हुए—करनेवाले

चिन्तयेत्—६-२५ चिंतन कर

चिन्ताम्—१६-११ चिंताको

चिन्त्य—१०-१७ चिंतन करने-योग्य

चिरात्—१२-७ मुद्दत बाद, देर करके

चिरेण—५-६ लंबी मुद्दतमें, बहुत देर बाद

चूर्णितै—११-२७ चूर चूर हुए

चेकितान—१-५ राजाका नाम

चेत्—२-३३, ३-१, २४, ४-३६, ९-३०, १८-५८ जो

चेतना—१०-२२, १३-६ प्राण-शक्ति, बुद्धि-शक्ति, प्राणा-दिका व्यापार, अंतःकरणवृत्ति, चेतना, चेतनशक्ति

चेतसा—८-८, १८-५७, ७२ चित्तसे, मनसे

चेष्टते—३-३३ चलता है, बरतता है, चेष्टा करता है

चेष्टाः—१८-१४ क्रियाएं

चैलाजिनकुशोत्तरम्—६-११ जिसकी सतहपर दर्भ, मृगचर्म और वस्त्र बिछा हुआ है, दर्भ, मृगचर्म और वस्त्र एकके ऊपर एक बिछा हुआ (आसन)

च्यवन्ति—९-२४ चूते है, गिरते है

छ

छन्दसाम्—१०-३५ छदोंमें

छन्दांसि—१५-१ वेद

छन्दोभि—१३-४ मन्त्रोसे, छन्दोसे—मे

छलयताम्—१०-३६ छलनेवालोका, जुआरियोका, छल (कपट) करनेवालोका

छित्त्वा—४-४२, १५-३ छेदकर, नाश करके

छिन्दन्ति—२-२३ छेद करते है, नष्ट करते है

छिन्नद्वैधा—५-२५ जिनकी द्विधा वृत्ति नष्ट हो गई है, संशय रहित हुए, जिनकी शकाए मिट गई है वे

छिन्नसंशय—१८-१० जिसका संशय नष्ट हो गया है वह, संशयरहित हुआ

छिन्नाभ्रम्—६-३८ छितरे हुए बादल

छेत्ता—६-३९ छेदडालनेवाला, दूर करनेवाला

छेत्तुम्—६-३९ दूर करनेके लिए

ज

जगत—७-६, ८-२६, ९-१[illegible] १६-९ जगतका

जगत्—७-५, १३, ९-४, १० १०-४२, ११-७, १३, ३०, १५-१२ १६-८ जगत

जगत्पते—१०-१५ हे जगतके स्वामी

जगन्निवास—११-२५, [illegible] जगतके आश्रयरूप, [illegible] जगन्निवास

जघन्यगुणवृत्तिस्था—१४-१८ नीच गुणवाली, [illegible] (तामसी)

जनकादय—३-२० [illegible]

जनयेत्—३-२६ [illegible] चाहिए, [illegible]

जनसंसदि—१३-१० [illegible] लोगोंमें, जनसमूह[illegible]

जन—३-२१ [illegible]

जनाधिप—२-१२ [illegible]

जनानाम्—७-२८ [illegible]

जनार्दन—१-३६, ३९ [illegible] १०-१८, ११-५१ [illegible] (श्रीकृष्णजीके [illegible])

जना—७-१६, ८-२४, २४, ९-२२, १६-७, १७-४, ५ लोग

जन्तवः—५-१५ प्राणी, लोग

जन्म—२-२७, ४-४, ९, ६-४२, ८-१५, १६ जन्म

जन्मकर्मफलप्रदाम्—२-४३ जन्म-मरणरूपी कर्मके फल देने-वाली

जन्मनाम्—७-१९ जन्मोंका

जन्मनि—१६-२०, २० जन्ममें

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः—२-५१ जन्म-बन्धनसे मुक्त हुए

जन्ममृत्युजरादुःखैः—१४-२० जन्म, मृत्यु और बुढ़ापेके दुःखोंसे

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्—१३-८ जन्म, मरण, जरा, व्याधि और दुःख-जैसे दोषोंका निरन्तर भान

जन्मानि—४-५ जन्म

जपयज्ञः—१०-२५ जपनामक यज्ञ

जयद्रथम्—११-३४ जयद्रथ राजाको

जयः—१०-३६ जीत, जय

जयाजयौ—२-३८ हार-जीत, जय और पराजय

जयेम—२-६ (हम) जीतें

जयेयुः—२-६ (वे) जीतें

जरा—२-१३ बुढ़ापा

जरामरणमोक्षाय—७-२९ वृद्धा-वस्था और मृत्युसे मुक्त होनेके लिए

जहाति—२-५० त्यागता है, तजता है

जहि—३-४३, ११-३४ त्याग, हनन कर, संहार कर, मार

जागर्ति—२-६९ (वह) जागता है

जाग्रतः—६-१६ जागनेवालेका (को)

जाग्रति—२-६९ (वे) जागते हैं

जातस्य—२-२७ जन्मे लिये हुएको

जाताः—१०-६ जन्मे हुए, उत्पन्न

जातिधर्माः—१-४३ जातिधर्म

जातु—२-१२, ३-५, २३ कभी भी, किसी भी समय

जानन्—८-२७ जानता हुआ, जाननेवाला

जानाति—१५-१९ (जो) जानता है

जाने—११-२५ (मैं) जानता हूं

जायते—१-२९, ४१, २-२०; १४-१५ (वह) होता है, उत्पन्न होता है, जन्म लेता है

जायन्ते—१४-१२, १३ (वे) उत्पन्न होते हैं,—उनका उदय होता है

जाह्नवी—१०-३१ गंगा नदी
जिगीषताम्—१०-३८ जय चाहनेवालोंकी
जिघ्रन—५-८ सूंघता हुआ
जिजीविषाम—२-६ (हम) जीनेकी इच्छा रखते है
जिज्ञासु—६-४४, ७-१६ जानने-की इच्छावाला, आत्म-ज्ञानकी इच्छावाला
जितसङ्गदोषा—१५-५ जिन्होंने संगदोष जीत लिया है, जिन्होंने आसक्तिसे होने-वाले दोषोंको दूर कर दिया है वे
जित—५-१९, ६-६ जीता हुआ
जितात्मन—७-६ जितेन्द्रियका, जिसने अपना मन जीता है उसका (-को)
जितात्मा—१८-४९ जितेन्द्रिय, जिसने मनको जीता है वह
जित्वा—२-३७, ११-३३ जीतकर
जितेन्द्रिय—५-७ जिसने इन्द्रियों-को जीता है वह
जीर्णानि—२-२२, २२ जीर्ण, पुराने
जीवति—३-१६ (वह) जीता है, जीवित है
जीवनम्—७-९ आयुष्य, जीवन
जीवभूत—१५-७ जीवरूपमें, जीवात्मा
जीवभूताम्—७-५ जीवरूपको या जीवात्माको
जीवलोके—१५-७ संसारमें, जीव-लोकमें
जीवितेन—१-३२ जीवनसे
जुहोषि—९-२७ (तू हवनमें) होम करता है
जुह्वति—४-२६, २७, २९, ३० (वे) हवन करते है
जेतासि—११-३४ (तू) जीतेगा
जोषयेत्—३-२६ लगावे, प्रेरित करे, (कर्मोंका) सेवन करावे
ज्ञातव्यम्—७-२ जाननेका, जानने-योग्य
ज्ञातुम्—११-५४ जाननेके लिए
ज्ञातेन—१०-४२ जाननेमें, जानकर
ज्ञात्वा—४-१५, १६, ३२, ३५, ५-२९ ७-२, ९-१, १२-१२, १४-१, १६-२४, १८-५५ जानकर
ज्ञानगम्यम्—१३-१७ जो ज्ञानसे जाना जाय, ज्ञानसे प्राप्त किया जाय
ज्ञानचक्षुष—१५-१० ज्ञानचक्षु-वाले, दिव्य चक्षु, ज्ञानी
ज्ञानचक्षुषा—१३-३४ ज्ञानरूपी आंखोंसे, ज्ञानचक्षुसे
ज्ञानतपसा—४-१० ज्ञानरूपी तप-से

ज्ञानदीपिते— ४-२७ ज्ञानसे उद्दीप्त किये हुए (में)

ज्ञानदीपेन—१०-११ ज्ञानरूपी दीपकसे

ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः—५-१७ ज्ञानके द्वारा जिनका पाप नष्ट हो गया है—धुल गया है वे

ज्ञानप्लवेन—४-३६ ज्ञानरूपी नावद्वारा

ज्ञानयज्ञः—४-३३ (परमेश्वर जिसका विषय है) ज्ञानरूपी यज्ञ

ज्ञानयज्ञेन—९-१५, १८-७० ज्ञानयज्ञसे, ज्ञानके द्वारा

ज्ञानयोगव्यवस्थितिः—१६-१ ज्ञान और योगके संबंधमें दृढ़ता—निष्ठा

ज्ञानयोगेन—३-३ ज्ञानयोगसे

ज्ञानवताम्—१०-३८ ज्ञानवानोंका

ज्ञानवान्—३-३३, ७-१९ ज्ञानी

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा—६-८ शास्त्रज्ञान और अनुभवज्ञानसे जिसका मन तृप्त (शांत) हो गया है

ज्ञानविज्ञाननाशनम्—३-४१ ज्ञान और अनुभवका नाश करनेवाला

ज्ञानसङ्गेन—१४-६ ज्ञानके साथ, ज्ञानके संबंधसे

ज्ञानसंछिन्नसंशयम्—४-४१ ज्ञानद्वारा जिसके संशयोंका नाश हो गया है, ज्ञानसे जिसने संशयोंको छेद डाला है

ज्ञानस्य—१८-५० ज्ञानकी

ज्ञानम्—३-३९, ४०, ४-३४, ३९, ५-१५, १६, ७-२, ९-१, १०-४, ३८, १२-१२, १३-२, ११, १७, १८, १४-१, २, ९, ११, १७, १५-१५, १८-१८, १९ २०, २१, ४२, ६३ ज्ञान, १२-१२ ज्ञानमार्ग

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्—४-१९ ज्ञानरूपी अग्निसे जिसके कर्म जल गये हैं उसको

ज्ञानाग्निः—४-३७ ज्ञानरूपी अग्नि

ज्ञानात्—१२-१२ ज्ञानसे—की अपेक्षा, ज्ञानमार्गकी अपेक्षा

ज्ञानानाम्—१४-१ ज्ञानोंमें

ज्ञानावस्थितचेतसः—४-२३ जिसका चित्त ज्ञानमें सुस्थित हो गया है, जिसका चित्त ज्ञानमय है

ज्ञानासिना—४-४२ आत्मज्ञानरूपी तलवारसे

ज्ञानिनः—४-३४ ज्ञानी लोग, ३-३९, ७-१७ ज्ञानीका

मूल वस्तुने

तत्त्वदर्शिन—४-३४ तत्त्वको जानने वाले

तत्त्वदर्शिभिः—२-१६ तत्त्वको जाननेवालोंने, ज्ञानियोंद्वारा

तत्त्ववित्—३-२८, ५-८ रहस्य जाननेवाला पुरुष

तत्त्वम्—१८-१ रहस्य

तत्त्वेन—९-२४, ११-५४ यथावत्, मूल स्वरूपमें

तत्परम्—११-३७ उन (दोनों) से पर

तत्पर—४-३९ उसके (ज्ञानके) पीछे लगा हुआ, ईश्वर-परायण

तत्परायणाः—५-१७ वह (आत्मा) ही जिनका निवासस्थान है वे, उसे ही सर्वस्व माननेवाले, तत्परायण पुरुष

तत्प्रसादात्—१८-६२ उसकी दयासे, उसकी कृपाद्वारा

तत्र—१-२६ २-१३, २८, ६-१२, ४३ ८-१८, २४, २५ ११-१३ १४-६ १८-४, १६, ७८ वहां, उसमें, उसके संबंधमें

तथा—१-८ इत्यादि—और, वैसे ही, २-१, १३, २२, ३-२५, २८ ४-३७ ६-६, ११-२८, २९ ४९, ५०, १३-३२, ३३ १४-१५ १८-५०, ६३ वैसे, उसी प्रकार ११-५० अस्तु, (ऐसा हो); १५-३ यथार्थ, जैसा है वैसा

तथापि—२-२६ तो भी

तदनन्तरम्—१८-५५ उसके (मौत के) बाद, तदनन्तर

तदर्थम्—३-९ उसके निमित्त, यज्ञके निमित्त

तदर्थीयम्—१७-२७ उसी निमित्तसे, 'सत्' के निमित्त किये हुए (कर्म)

तदा—१-२, २१ २-५२, ५३, ५५, ४-७; ६-४, १८, ११-१३ १३-३०; १४-११, १४ उस समय, तब

तदात्मानः—५-१७ वही जिनकी आत्मा है वे, तन्मय हुए

तद्बुद्धयः—५-१७ उसमें (ब्रह्ममें) ही जिनकी बुद्धि है वे, उसका (ईश्वरका) ध्यान करनेवाले

तद्भावभावित—८-६ उसी स्वरूपमें एकरूप हुआ, उस स्वरूपका चिंतन करनेवाला

तद्वत्—२-७० उस प्रकार, ऐसे

तद्विद—१३-१ उसे (क्षेत्र और

क्षेत्रज्ञको) जाननेवाले, तत्त्व-ज्ञानी

तनुम्—७-२१, ६-११ देहको, मूर्तिको, स्वरूपको।

तन्निष्ठा—५-१७ उसीमे जिनकी निष्ठा है ऐसे, उसमे स्थिर रहनेवाले

तपन्तम्—११-१६ तपाते हुए को, तपानेवाले को

तपसा—११-५३ तपसे, तप द्वारा

तपसि—१७-२७ तपमे, तपके विषयमे

तपस्यसि—६-२७ (तू) तप करता है (—करे)

तपस्विभ्य—६-४६ कृच्छ्र-चान्द्रायणादि विविध प्रकारके तप करनेवालो की अपेक्षा, तपस्वियोकी अपेक्षा

तपस्विषु—७-६ तपस्वियोमे

तप—७-६, १०-५, १६-१, १७-५, ७, १४, १५ १६, १७, १८, १६, २८, १८-५, ४२ तप

तपःसु—८-२८ तपोमे

तपामि—६-१६ तपता हू, धूप देता हू

तपोभि—११-४८ तपोसे

तपोयज्ञा—४-२८ तपरूपी यज्ञ करनेवाले

तप्तम्—१७ १७, २८ तपा हुआ, किया हुआ

तप्यन्ते—१७-५ तपते है

तम्—२-१, १०, ४-१६, ६-२, २३, ४३, ७ २०, ८-६, १०, २१, २३, ६-२१, १०-१०, १३-१, १५-१, ४, १७-१२, १८-४६, ६२ उसे

तमस—८-६, १३-१७ अधकार-से, अज्ञानसे, अज्ञानरूपी अधकारसे १४-१६ तमो-गुणका, १४-१७ तमो गुणसे

तमसा—१८-३२ तमोगुणद्वारा, अधकारसे

तमसि—१४-१३, १५ अधेरेमे, तमोगुणमे

तम—१०-११, १४-५, ८, ६, १०, १७-१ अज्ञान रूपी अधकार, तमोगुण

तमोद्वारै—१६-२२ नरकके द्वारोसे (मुक्त)

तया—२-४४, ७-२२ उनके द्वारा

तयो—३-३४ उन दोका, ५-२ उन दोमे

तरन्ति—७-१४ (वे) तर जाते है

तुमुल—१-१३, १९ घोर, भयकर

तुल्यनिन्दात्मसंस्तुति — १४-२४ अपनी निन्दा या स्तुति जिसे समान है वह

तुल्यनिन्दास्तुति—१२-१९ निन्दा और स्तुति जिसे समान है वह

तुल्यप्रियाप्रिय—१४-२४ जिसे प्रिय और अप्रिय समान है वह

तुल्य—१४-२५ समवृत्ति, एक-जैसा

तुष्ट—२-५५ संतुष्ट

तुष्टि—१०-५ संतोष

तुष्यति—६-२० (वह) संतोष प्राप्त करता है, संतोषमे रहता है

तुष्यन्ति—१०-९ (वे) संतोषमे रहते हैं

तूष्णीम्—२-९ शांतिसे, शांत

तृप्ति—१०-१८ संतोष, तृप्ति

तृष्णासङ्गसमुद्भवम्—१४-७ तृष्णा (अप्राप्तकी इच्छा) और आसंग (प्राप्त वस्तुमे आसक्ति) उत्पन्न करनेवाला, तृष्णा और आसक्तिका मूल

ते—१-७, २-३९, ४-३, १६, ३४, ७-२, ८-११, ९-१, १०-१, १९, ११-८, ३१, ३९, ४०, १८-६३, ६४, ६५ तुझे, १-३३, २-६, ३-११, १३, ५-१९, २२, ७-१२, १४, २८, २९, ३०, ८-१७, ९-२०, २१, २३, २४, २९, ३२, १०-१०, ११-३३, ४९, १२-२, ४, २०, १३-२५, ३४, १६-८, १७ वे, २-७, ३४, ४७, ५२, ५३, ३-१, ८, १०-१४, ११-३, २३, २५, २७, ४९, १६-२४, १८-५९, ६७, ७२, तेरा, तुझे

तेजस्विनाम्—७-१०, १०-३६ तेजस्वियोका, बलवानोका, प्रतापवानोका

तेज—७-९, १०, १०-३६, १५-१२, १६-३, १८-४३ चकाचौंध करनेवाली शक्ति, तेज, प्रभाव

तेजोभि—११-३० तेजोसे

तेजोमयम्—११-४७ तेजवाला, तेजोमय

तेजोराशिम्—११-१७ तेजके पुंजको—राशिको

तेजोऽशसंभवम्—१०-४१ तेजके अंशमे (एक भागसे) उत्पन्न

दम्भमानमदान्विता —१६-१० दंभ, मान और मदसे युक्त, दंभी, मानी और मदांध
दम्भ —१६-४ दंभ, ढोंग
दम्भार्थम्—१७-१२ दंभके लिए, दंभसे
दम्भाहंकारसंयुक्ता —१७-५ दंभ और अहंकारसे युक्त, दंभ और अहंकारवाले
दंभेन—१६-१७, १७-१८ दंभसे, दंभपूर्वक
दया—१६-२ दया
दर्पम्—१६-१८, १८-५३ दर्प, घमंड
दर्प —१६-४ गर्व, दूसरोंका तिरस्कार करनेकी वृत्ति
दर्शनकाङ्क्षिण —११-५२ दर्शन करनेको उत्सुक, दर्शनकी इच्छावाले, दर्शनार्थी
दर्शय—११-४, ४५ दर्शन कराओ, दिखाओ
दर्शयामास—११-९, ५० दिखाया
दर्शितम्—११-४७ दिखाया, दिखाया हुआ
दम—१२-५ दम
दशनान्तरेषु—११-२७ दांतोंके बीच, दांतोंके दराजमें
दहति—२-२३ (वह) जलाता है
दंष्ट्राकरालानि—११-२५, २७, डाढोंसे भयंकर, विकराल डाढोंवाले
दाक्ष्यम्—१८-४३ चतुराई, कार्य-कुशलता, दक्षता
दातव्यम्—१७-२० देने योग्य है, देना चाहिए
दानक्रिया —१७-२५ दानकी क्रियाएं, दानरूपी क्रियाएं
दानवा —१०-१४ दानव
दानम्—१०-५, १६-१, १७ ७, २०, २१, २२, १८-५, ४३ दान
दाने—१७ २७ दानमें, दानके संबंधमें
दानेन—११-५३ दानसे
दानेषु—८-२८ दानोंमें
दानै —११-४८ दानोंद्वारा
दास्यन्ते—३-१२ (वे) देंगे
दास्यामि—१६-१५ (मैं) दान करूंगा
दिवि—९-२०, १८-४० स्वर्गमें, ११-१२ आकाशमें
दिव्यगन्धानुलेपनम्— ११-११ दिव्य गंध जिन्हें चुपड़े गये हैं ऐसा, दिव्य सुगंध-लेपवालेको
दिव्यम्—४-९, ८-८, १०, १०-१२, ११-८ अप्राकृत, ईश्वरीय, दिव्य
दिव्यमाल्याम्बरधरम्—११-११

दिव्य पुष्प और वस्त्र धारण करनेवालेको

दिव्यान्—९-२०, ११-१५ दिव्य

दिव्यानाम्—१०-४० दिव्य (विभूतियों) का

दिव्यानि—११-५ दिव्य (रूप)

दिव्यानेकोद्यतायुधम्—११-१० अनेक उठाये हुए दिव्य शस्त्रोंवाला

दिव्याः—१०-१६, १९ दिव्य

दिव्यौ—१-१४ (दो) दिव्य

दिशः—६-१३; ११-२०, २५, ३६ दिशाएं, दिशाओंको, ११-३६ (सब) दिशाओंमें, इधर-उधर

दीपः—६-१९ दीया

दीप्तम्—११-२४ प्रदीप्त हुएको, जगमगाते हुएको

दीप्तविशालनेत्रम्—११-२४ बड़ी तेजस्वी आंखवालेको

दीप्तहुताशवक्त्रम्—११-१९ जिसका मुख सुलगती (धधकती) अग्निरूप है उसे, प्रज्वलित अग्निके समान मुखवालेको

दीप्तानलार्कद्युतिम्—११-१७ सुलगती अग्नि और सूर्यके समान प्रकाशवालेको

दीप्तिमन्तम्—११-१७ प्रकाशवालेको, जगमगाती ज्योतिवालेको

दीयते—१७-२०, २१, २२ दिया जाता है, देने में आता है

दीर्घसूत्री—१८-२८ कामको लंबा करनेवाला, दीर्घसूत्री

दुरत्यया—७-१४ कठिनाईसे तरी जानेवाली, पार होनेमें कठिन

दुरासदम्—३-४३ जो कठिनाईसे जीता जा सके उसको, दुर्जयको

दुर्गतिम्—६-४० खराब गतिको

दुर्निग्रहम्—६-३५ कठिनाईसे निरोध किया जा सकनेवाला

दुर्निरीक्ष्यम्—११-१७ न देखे जा सकनेवालेको, कठिनाईसे देखे जा सकनेवालेको

दुर्बुद्धेः—१-२३ दुर्बुद्धि (का) (खोटी बुद्धि वाले दुर्योधनका)

दुर्मतिः—१८-१६ मूर्ख, दुर्मति

दुर्मेधाः—१८-३५ दुर्मति, दुर्बुद्धि

दुर्योधनः—१-२ दुर्योधन राजा

दुर्लभतरम्—६-४२ अधिक दुर्लभ, बहुत दुर्लभ

दुष्कृताम्—४-८ पापकारियोंका, दुष्टोंका

दुष्कृतिनः—७-१५ पापी, दुराचारी

दुष्टासु—१-४१ दूषित हुई (स्त्रियों) में, दूषित होनेपर

दुष्पूरम्—१६-१० तृप्त न होनेवाली, किसी प्रकार भी पूर्ण न होनेवाली

दुष्पूरेण—३-३९ पूरा न किये जा सकनेवाले—अतृप्त न किये जा सकनेवाले (अग्निके समान काम)

दुष्प्राप—६-३६ प्राप्त करनेमें कठिन, दुष्प्राप्य (योग)

दुःखतरम्—२-३६ अधिक दुःख-दायक

दुःखम्—५-६, १२-५ कठिनतासे, कष्टसे ६-३२, १०-४, १३-८, १४-१६ दुःख दुःख-को, १८-८ दुःखरूप

दुःखयोनय—५-२२ दुःखके हेतु

दुःखशोकामयप्रदाः—१७-९ दुःख, शोक और रोग (आमय) उत्पन्न करनेवाले

दुःखसंयोगवियोगम्—६-२३ दुःखके संयोगका वियोग दुःखके सम्बन्धसे रहित (स्थिति) को

दुःखहा—६-१७ दुःखका नाश करनेवाला, दुःखनाशक

दुःखान्तम्—१८-३६ दुःखके अन्तको

दुःखालयम्—८-१५ दुःखका घर

दुःखेन—६-२२ दुःखसे

दुःखेषु—२-५६ दुःखोंमें

दूरस्थम्—१३-१५ दूर रहा हुआ

दूरेण—२-४९ बहुत, अधिक

दृढनिश्चयः—१२-१४ दृढनिश्चय-वाला

दृढम्—६-३४, १८-६४ अति-शय, दृढ

दृढव्रताः—७-२८ अतिशय व्रतवाले, ९-१४ दृढ निश्चयवाले

दृढेन—१५-३ दृढतर, मजबूत (शस्त्र)

दृष्टपूर्वम्—११-४७ पहले देखा हुआ

दृष्टवान्—११-५२, ५३ (जैसे) देखा है

दृष्टः—२-१६ देखा हुआ, जाना हुआ

दृष्टिम्—१६-९ दृष्टिको, सिद्धा-न्तको

दृष्ट्वा—१-२, २०, २८ २-५९, ११-२०, २३, २४, २५ ४५, ४९ ५१ देखकर

देव—११-१५, ४४, ४५ हे देव

देवताः—४-१२ देवोंको, देव-ताओंको

देवदत्तम्—१-१५ अर्जुनने देवदत्त नामक शङ्ख (को)

देवदेव—१०-१५ हे देवोंके देव

देवदेवस्य—११-१३ देवोंके देवका

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्—१७-१४ देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीकी पूजा

देवभोगान्—९-२० देव-भोग्य भोगोंको

देवम्—११-११, १४ ईश्वरको,

ध

धनानि—१-३३ धन, सपत्ति
धनुर्धर —१८-७८ धनुर्धारी
धनु —१-२० धनुष (को)
धर्मकामार्थान्—१८-३४ धर्म, काम और अर्थको
धर्मक्षेत्रे—१-१ धर्मक्षेत्रमे, धर्मक्षेत्ररूप (कुरुक्षेत्र) मे
धर्मम्—१८-३१, ३२ धर्मको
धर्मसमूढचेता —२-७ धर्म (कर्तव्य) के विषयमे जिसका मन मूढ हुआ है ऐसा
धर्मसस्थापनार्थाय—४-८ धर्मकी सुस्थापना के लिए, धर्मका पुनरुद्धार करनेके लिए
धर्मस्य—२-४०, ४-७, ६-३, १४-२७ धर्मका
धर्मात्मा—९-३१ धर्मवान् धर्मात्मा
धर्माविरुद्ध —७-११ धर्मसे अविरुद्ध, धर्मका अविरोधी
धर्मे—१-४० धर्मंमे
धर्म्यम्—२-३३ धर्मप्राप्त, धर्म्य, ९-२, १८-७० धर्मवाला, धार्मिक, पवित्र, धर्म्य, धर्मानुकूल
धर्म्यात्—२-३१ धार्मिक (युद्ध) से
धर्म्यामृतम्—१२-२० धर्मरूपी अमृतको, पवित्र अमृतरूप ज्ञानको

धाता—९-१७ धारण करनेवाला, १०-३३ रक्षण करनेवाला
धातारम्—८-९ विधाताको, पालनहारको
धाम—८-२१; १०-१२, ११-३८, १५-६ स्थान, धाम
धारयते—१८-३३, ३४ (वह) धारण करता है, चलाता है
धारयन्—५-९ मानता हुआ, भावना रखकर ६-१३, रखता हुआ, रखकर
धारयामि—१५-१३ (मैं) धारण करता हू
धार्तराष्ट्रस्य— १-२३ धृतराष्ट्र-पुत्र—दुर्योधन—का
धार्तराष्ट्राणाम्—१-१९ धृतराष्ट्रके पुत्रोके, कौरवोके
धार्तराष्ट्रान्—१-२०, ३६, ३७ धृतराष्ट्रके पुत्रोको, कौरवोको
धार्तराष्ट्रा —१-४६, २-६ धृतराष्ट्रके पुत्र, कौरव
धार्यते—७-५ धारण किया जाता है
धिष्ठितम्—१३-१७ अधिष्ठित, रहा हुआ
धीमता—१-३ बुद्धिमान (द्वारा)
धीमताम्—६-४२ बुद्धिमानोका, ज्ञानवानोका
धीरम्—२-१५ स्थिरबुद्धिको, ज्ञानीको

धीर—२-१३, १४-२४ ज्ञानी, बुद्धिमान पुरुष, धीर
धूम—८-२५ धुआं
धूमेन—३-३८, १८-४८ धुएंसे
धृतराष्ट्रस्य—११-२६ धृतराष्ट्रका
धृतराष्ट्र—१-१ दुर्योधनादिका अंधा पिता
धृतिगृहीतया—६-२५ दृढ हुई, धृतियुक्त, अडिग (द्वारा)
धृतिम्—११-२४ धीरज (को)
धृति—१०-३४, १३-६; १६-३; १८-३३, ३४, ३५, ४३ धीरज, धैर्य, धृति
धृतेः—१८-२९ धीरजका, धृतिका
धृत्या—१८-३३, ३४ धैर्यसे, धृतिसे, १८-५१ दृढतापूर्वक
धृत्युत्साहसमन्वित—१८-२६ धृति—दृढता और उत्साहवाला
धृष्टकेतु—१-५ राजाका नाम
धृष्टद्युम्न—१-१७ द्रुपदका पुत्र धृष्टद्युम्न
धेनूनाम्—१०-२८ गायोंमें
ध्यानयोगपर—१८-५२ ध्यानयोग में परायण
ध्यानम्—१२-१२ ध्यान, ध्यानमार्ग
ध्यानात्—१२-१२ ध्यानकी अपेक्षा, ध्यानमार्गकी अपेक्षा
ध्यानेन—१३-२४ ध्यानसे
ध्यायतः—२-६२ ध्यान करनेवाले-का, चिंतन करनेवालेका
ध्यायन्त—१२-६ ध्यान करते हुए
ध्रुवम्—२-२७; १२-३ स्थिर, निश्चयपूर्वक, अचल
ध्रुव—२-२७ स्थिर, अनिवार्य निश्चित
ध्रुवा—१८-७८ अचल, अविचल, निश्चित

न

न—१-३० इत्यादि, नहीं
नकुलः—१-१६ नकुल
नक्षत्राणाम्—१०-२१ नक्षत्रों मे
नदीनाम्—११-२८ नदियोंकी
नभ—१-१९ आकाशको
नभःस्पृशम्—११-२४ आकाशको छूनेवालेको, आकाशको स्पर्श करनेवाले (को)
नमस्कुरु—९-३४, १८-६५ (तू) नमस्कार कर नमन कर
नमस्यन्तः—९-१४ नमन करते हुए
नमस्यन्ति—११-३६ (वे) नमन करते हैं, नमस्कार करते हैं
नमः—९-३४, ११-३१,३५, ३९, ४०, १८-६५ वंदन, नमस्कार
नमेरन्—११-३७ (वे) नमस्कार करें

निराशी—३-३०; ४-२१; ६-१० आशारहित, आसक्ति-रहित, वासनारहित (होकर)

निराश्रय—४-२० आश्रयरहित, जिसे किसी भी प्रकारके आश्रयकी लालसा नहीं

निराहारस्य—२-५९ निराहारीका

निरीक्षे—१-२२ (मैं) देखूं, निरखूं

निरुद्धम्—६-२० वृत्तिशून्य हुआ, अंकुशमें आया हुआ

निरुध्य—८-१२ रोककर, स्थिर करके

निर्गुणत्वात्—१३-३१ निर्गुण होनेसे

निर्गुणम्—१३-१४ गुणसे रहित

निर्देश—१७-२३ नाम, वर्णन, अभिधान

निर्दोषम्—५-१९ दोषरहित, निष्कलंक

निर्द्वन्द्वः—२-४५; ५-३ सुख-दुःख, रागद्वेषादिक द्वन्द्वों-से रहित, सुखदुःखादि द्वन्द्वोंसे मुक्त

निर्ममः—२-७१; ३-३०; १२-१३; १८-५३ ममता-रहित, ममत्वरहित

निर्मलत्वात्—१४-६ निर्मलताके कारण

निर्मलम्—१४-१६ निर्मल

निर्मानमोहाः—१५-५ मान और मोहरहित

निर्योगक्षेमः—२-४५ अप्राप्तकी प्राप्ति (योग) और प्राप्तकी रक्षा (क्षेम) की इच्छासे रहित, किसी भी वस्तुको पाने और संभालनेकी झंझट-से मुक्त

निर्वाणपरमाम्—६-१५ मोक्ष देनेवाली, मोक्षरूप परम (शांति) को

निर्विकारः—१८-२६ विकार-रहित, हर्षशोकरहित

निर्वेदम्—२-५२ वैराग्य, उदा-सीनता (को)

निर्वैरः—११-५५ वैररहित, द्वेषरहित

निवर्तते—२-५९ (वह) निवृत्त होता है, मंद पड़ता है, ८-२५ पीछे फिरता है, पुनर्जन्म पाता है

निवर्तन्ति—१५-४ (वे) वापिस आते हैं

निवर्तन्ते—८-२१; ९-३; १५-६ (वे) पीछे लौटते हैं, फिर जन्म लेते हैं

निवर्तितुम्—१-३९ हटनेके लिए, बचनेके लिए

निवसिष्यसि—१२-८ निवास करेगा
निवातस्थ—६-१६ वायुरहित स्थानमे रहा हुआ
निवास—६-१८ (प्राणियोका) वासस्थान, निवास
निवृत्तानि—१४-२२ नष्ट होनेपर, प्राप्त न होनेपर, निवृत्त होनेपर
निवृत्तिम्—१६-७, १८-३० अकर्तव्य, निवृत्तिको
निवेशय—१२-८ प्रवेश करा, धारण कर, लगा
निशा—२-६६ रात्रि
निश्चयम्—१८-४ निश्चय, निर्णय
निश्चयेन—६-२३ दृढतापूर्वक, निश्चयसे
निश्चरति—६-२६ चलायमान होता, भागता है
निश्चला—२-५३ निश्चल, स्थिर
निश्चितम्—२-७, १८-६ निश्चयपूर्वक, निश्चित, तय
निश्चिता—१६-११ निश्चयवान निश्चय करनेवाले
निश्चित्य—३-२ तय करके, निश्चयपूर्वक
निष्ठा—३-३, १७-१, १८-५० स्थिति, मार्ग, अवस्था, निष्ठा, गति
निस्त्रैगुण्य—२-४५ तीनो गुणोंमे रहित, तीनो गुणोमे अलिप्त
निहता—११-३३ हनन किये हुए, मारे हुए
निहत्य—१-३६ मारकर, हनन करके
निःश्रेयसकरौ—५-२ मोक्षदायक, परमकल्याणकारक
निःस्पृह—२-७१, ६-१८ इच्छारहित
नीति—१०-३८ राजनीति, नीति, १८-७८ न्याय, न्यायसगत वर्ताव, नीति
नु—१-३५, २-३६ मान, के द्वारा
नृलोके—११-४८ नरलोकमे, मृत्युलोकमे
नृषु—७-८ लोगोमे, पुरुषोमे
नैष्कर्म्यसिद्धिम्—१८-४६ निष्कर्मभावकी प्राप्तिको, नैष्कर्म्यरूप (परम) सिद्धिको
नैष्कर्म्यम्—३-४ निष्कर्मभाव, कर्मशून्यता
नैष्कृतिक—१८-२८ परद्रोही, नीच
नैष्ठिकीम्—५-१२ परमनिष्ठावाली, मोक्षदायिनी (को)
नो—१७-२८ नहीं
न्याय्यम्—१८-१५ नीतिपूर्ण, न्यायी
न्यासम्—१८-२ त्यागको

परमाम्—८-१३, १५, २१, १८-४९ परम (को)

परमेश्वर—११-३ हे परमेश्वर

परमेश्वरम्—१३-२८ परमेश्वरको

परमेष्वास—१-१७ बड़े धनुष-धारी

परमगतिप्राप्तम्—[illegible] परमगतिको प्राप्तको

परया—१-२८, १२-२, १७-१७ अतिशय, परम (के द्वारा)

परस्तात्—८-९ उस पार

परस्परम्—३-११, १०-९ अन्योन्यको, एक दूसरेको

परस्य—९-१६ दूसरेके, पराएके

पर—६-४० दूसरा, ८-२० पर, उस पारका, ८-२२, १३-१२ परम, उत्तम

परा—३-४२ सूक्ष्म, १८-५० परम (निष्ठा)

पराणि—३-४२ सूक्ष्म

परम्—४-३९, ६-४५, ७-५, ९-३२, १३-२८, १४-१, १६-२२, २३, १८-५४, ६२, ६८ परम, श्रेष्ठ, ऊँची

परिकीर्तित—१८-७, २७ कहा गया है

परिक्लिष्टम्—१७-२१ दुःखपूर्वक, दुःखसे

परिग्रहम्—१८-५३ बंधनकारक सामानको, परिग्रहको

परिचक्षते—१७-१३, १७ (वे) कहते हैं

परिचर्यात्मकम्—१८-४४ सेवारूप, नौकरीका

परिचिन्तयन्—चिंतन करते हुए

परिज्ञाता—१८-१८ ज्ञाता

परिणामे—१८-३७, ३८ परिणाममें, परिणामस्वरूप

परित्यज्य—१८-६६ त्यागकर

परित्याग—१८-७ त्याग

परित्राणाय—४-८ परिपालनके लिए, रक्षाके लिए

परिदह्यते—१-३० जलता है

परिदेवना—२-२८ दुःख, चिंता

परिपन्थिनौ—३-३४ (दो) चोर, शत्रु, बटमार

परिप्रश्नेन—४-३४ बार-बार प्रश्न करके

परिमार्गितव्यम्—१५-४ अत्यन्त खोजने योग्य, खोज करना चाहिए

परिशुष्यति—१-२९ सूखता है

परिसमाप्यते—४-३३ लय—अन्तर्भाव—पाता है, पराकाष्ठाको पहुँचता है

पर्जन्य—३-१४ वर्षा

पर्जन्यात्—३-१४ वर्षासे

पापा —३-१३ पापी लोग
पापेन—५-१० पापसे
पापेभ्य —४-३६ पापियोसे, पापियोकी अपेक्षा
पापेषु—६-९ पापियोमे, पापियोके बारेमे
पाप्मानम्—३-४१ पापरूपको, पापीको
पारुष्यम्—१६-४ कठोर वचन कहना, कठोरता
पार्थ—१-२५ इत्यादि, हे पार्थ, अर्जुन
पार्थ —१-२६, १८-७८ पृथा—कुन्तीका पुत्र, अर्जुन
पार्थस्य—१८-७४ पार्थका
पार्थाय—११-९ पार्थके लिए
पावक —२-२३, १०-२३, १५-६ अग्नि
पावनानि—१८-५ पवित्रकरनेवाले
पितर —१-३४, बड़े लोग इत्यादि, १-४२ पितर लोग
पिता—९-१७, ११-४३, ४४, १४-४ बाप, पिता
पितामह —१-१२ भीष्म, ९ १७ पितामह
पितामहान्—१-२६ पितामहोको
पितामहा —१-३४ पितामहलोग, दादा
पितृव्रता —९-२५ (श्राद्धादिद्वारा) पितरोका पूजन करनेवाले
पितृणाम्—१०-२९ पितरोमे
पितॄन्—१-२६ बुजुर्गोको, ९-२५ पितरोको, पितृलोकको
पीडया—१७-१९ दु ख—से—देकर, पीडा देकर
पुण्यकर्मणाम्—७-२८, १८-७१ पुण्यवानोका, सदाचारी (लोगो) का
पुण्यकृताम्—६-४१ पुण्यवानोके
पुण्यफलम्—८-२८ पुण्यका फल
पुण्यम्—९-२०, १८-७६ पवित्र
पुण्य —७-९ पवित्र (गध)
पुण्या —९-३३ पुण्यवान
पुण्ये—९-२१ पुण्यमे ('क्षीणे पुण्ये'—पुण्य क्षीण होनेपर)
पुत्रदारगृहादिषु—१३-९ पुत्र, स्त्री और घर आदिमें
पुत्रस्य—११-४४ पुत्रका
पुत्रान्—१-२६ पुत्रोको
पुत्रा —१-३४, ११-२६ पुत्र
पुनरावर्तिन —८-१६ फिर पीछे आनेवाले—पुन जन्म लेनेवाले
पुनर्जन्म—४-९, ८-१५, १६ पुनर्जन्म
पुन —४-३५, ८-२६, ९-७, ८, ३३, ११-१६, ३९, ४९, ५०, १६-१३, १८-७७ फिर,

द्वारा

प्रजन—१०-२८ प्रजोत्पत्ति करनेवाला

प्रजहाति—२-५५ (वह) तजता है, त्यागता है

प्रजहीहि—३-४१ छोड ('मार' इस अर्थका 'प्रजहि' पाठ भी है)

प्रजानाति—१८-३१ (वह) जानता है, समझता है

प्रजानामि—११-३१ (मैं) जानता हूं

प्रजापतिः—३-१०, ११-३९ ब्रह्मा, प्रजापति

प्रजाः—३-१०, २४ लोगोंको, प्रजाको, १०-६ प्रजा, संतति

प्रज्ञा—२-५७, ५८, ६१, ६८ बुद्धि

प्रज्ञाम्—२-६७ बुद्धिको

प्रज्ञावादान्—२-११ पंडिताईके वचन—बोल

प्रणम्य—११-१४, ३५, ४४ प्रणाम करके

प्रणयेन—११-४१ स्नेहसे, प्रेमसे

प्रणव—७-८ ओंकार ॐ

प्रणश्यति—२-६३; ६-३०, ९-३१ (वह) नष्ट होता है

प्रणश्यन्ति—१-४० (वे) नाशको प्राप्त होते हैं

प्रणश्यामि—६-३० (मैं) नाशको प्राप्त होता हूं (परोक्ष—दूर—होता हूं)

प्रणष्ट—१८-७२ नष्ट

प्रणिधाय—११-४४ नीचा करके, नवाकर

प्रणिपातेन—४-३४ नमस्कार-द्वारा, विनयपूर्वक, नम्रता-पूर्वक

प्रतपन्ति—११-३० तपता है, तपा रहा है

प्रतापवान्—१-१२ प्रतापी

प्रति—२-४३ तरफ, लिए, के वास्ते

प्रतिजानीहि—९-३१ (तू) निश्चय-पूर्वक जान

प्रतिजाने—१८-६५ (मैं) प्रतिज्ञा करता हूं

प्रतिपद्यते—१४-१४ (वह) पाता है, प्राप्त होता है

प्रतियोत्स्यामि—२-४ (मैं) सामने आऊं, लडूं (सामना करूंगा, लडूंगा)

प्रतिष्ठा—१४-२७ स्थान, स्थिति

प्रतिष्ठाप्य—६-११ स्थापना करके

प्रतिष्ठितम्—३-१५ प्रतिष्ठित, रहा हुआ

प्रतिष्ठिता—२-५७, ५८, ६१, ६८ स्थिर, प्रतिष्ठित हुई

प्रत्यक्षावगमम्—९-२ प्रत्यक्ष बोध हो ऐसी (—ऐसा), प्रत्यक्ष

अनुभवमे आने योग्य
प्रत्यनीकेषु—११-३२ शत्रुकी सेनामे, प्रतिपक्षियोमे
प्रत्यवाय —२-४० अडचन, विघ्न, विपरीत परिणाम
प्रत्युपकारार्थम्—१७-२१ बदलेके लिए, बदलेकी आशासे
प्रथित —१५-१८ प्रसिद्ध, प्रख्यात
प्रदध्मतु —१-१४ बजाए, फूंके
प्रदिष्टम्—८-२८ कहा हुआ
प्रदीप्तम्—११-२९ प्रदीप्त—जलते हुए (अनलमे)
प्रदुष्यन्ति—१-४१ दूषित होती है
प्रद्विषन्त —१६-१८ अत्यत द्वेष करनेवाले
प्रपद्यते—७-१९ (वह) आश्रय लेता है, पहुचता है, पाता है
प्रपद्ये—१५-४ (मैं) शरणमे जाता हू, शरण पाता हू
प्रपद्यन्ते—४-११, ७-१४, १५, २० (वे) आश्रय लेते है, भजते हैं, शरणमे जाते-आते हैं
प्रपन्नम्—२-७ शरणमे आए हुएको
प्रपश्य—११-४९ देख
प्रपश्यद्भि —१-३९ देखनेवालो (के द्वारा), समझनेवालो(से)
प्रपश्यामि—२-८ (मैं) देखता हू
प्रपितामह —११-३९ परदादा; पितामह, ब्रह्मदेवका पिता
प्रभवति—८-१९ (वह) उत्पन्न होता है
प्रभवन्ति—८-१८, १६-९ (वे) उत्पन्न होते हैं
प्रभवम्—१०-२ उत्पत्तिको
प्रभव —७-६, ९-१८, १०-८ उत्पत्तिका कारण
प्रभविष्णु—१३-१६ उत्पन्न करनेवाला, कर्त्ता
प्रभा—७-८ तेज
प्रभापेत—२-५४ बोलना चाहिए, बोले
प्रभु —५-१४, ९-१८, २४ स्वामी, प्रभु
प्रभो—११-४, १४-२१ हे प्रभो
प्रमाणम्—३-२१, १६-२४ प्रमाण
प्रमाथि—६-३४ मथनेवाली, क्षोभकारक
प्रमाथीनि—२-६० मथन करने-वाली
प्रमादमोहौ—१४-१७ प्रमाद (असावधानी) और मोह
प्रमाद —१४-१३ प्रमाद, असा-वधानी
प्रमादात्—११-४१ गफलतसे, भूलसे

प्रमादालस्यनिद्राभि —१४-८ प्रमाद (कर्तव्य न करना, अकर्तव्य करना), आलस (उत्साह-प्रतिबंध) और निद्रा-द्वारा, असावधानी, आलस और निद्रासे (-के पाशसे)

प्रमादे—१४-१३ कर्तव्यशून्यतामें

प्रमुखे—२-६ सामने

प्रमुच्यते—५-३, १०-३ (वह) छूटता है, मुक्त होता है

प्रयच्छति—९-२६ (वह) देता है, अर्पण करता है

प्रयतात्मन:—९-२६ नित्य शुद्ध चित्तवाले पुरुषकी प्रयत्न-शील मनुष्यकी

प्रयत्नात्—६-४५ विशेष प्रयत्नसे

प्रयाणकाले—७-३०, ८-२, १० मृत्युसमयमें

प्रयाता —८-२३, २४ गये हुए, मृत

प्रयाति—८-५, १३ (वह) जाता है, मरता है

प्रयुक्त:—३-३६ प्रेरा हुआ, प्रेरित किया हुआ

प्रयुज्यते—१७-२६ (वह) प्रयुक्त होता है, का प्रयोग होता है

प्रलपन्—५-९ बोलता हुआ

प्रलयम्—१४-१४, १५ प्रलय मृत्यु, मौत (को)

प्रलय:—७-६, ९-१८ नाश मरण, नाशका कारण

प्रलयान्ताम्—१६-११ मौतके साथ अंत पानेवाली, प्रलयतक जिसका अंत ही नहीं ऐसी

प्रलये—१४-२ प्रलयकालमें

प्रलीन:—१४-१५ मृत्यु-प्राप्त, मृत, मरा हुआ

प्रलीयते—८-१९ (वह) लय होता है, नाशको प्राप्त होता है

प्रलीयन्ते—८-१८ (उनका) प्रलय होता है, (वे) लय होते हैं

प्रवक्ष्यामि—४-१६; ९-१, १३-१२, १४-१ (मैं) कहूंगा, ठीक कहूंगा

प्रवक्ष्ये—८-११ (मैं) कहूंगा, वर्णन करूंगा

प्रवदताम्—१०-३२ वाद (विवाद) करनेवालोंका

प्रवदन्ति—२-४२; ५-४ (वे) कहते हैं, बोलते हैं

प्रवर्तते—५-१४; १८-८ (वह) चलता है, बरतता है, करता है

प्रवर्तन्ते—१६-१०, १७-२४ (वे) चलते हैं, बरतते हैं

प्रवर्तितम्—३-१६ चलाये हुए

प्रविभक्तम्—११-१३ जुदा जुदा विभागोमे पडे हुए, विभक्त हुए
प्रविभक्तानि—१८-४१ भिन्न-भिन्न—जुदा किये हुए
प्रविलीयते—४-२३ (वह) लय—नाशको—प्राप्त होता है
प्रविशन्ति—२-७० (वे) प्रवेश करते हैं
प्रवृत्त.—११-३२ प्रवृत्त हुआ
प्रवृत्तिम्—११-३१, १४-२२, १६ ७, १८-३० चेष्टा, व्यापार, राजसी कार्य, प्रवृत्तिको
प्रवृत्ति —१४-१२ प्रवृत्ति, १५-४ ससार; माया, प्रवृत्ति, १८-४६ उत्पत्ति, व्यापार, प्रवृत्ति
प्रवृत्ते—१-२० प्रवृत्त होनेपर, चालू होनेपर
प्रवृद्ध —११-३२ वृद्धि पाया हुआ
प्रवृद्धे—१४-१४ वृद्धि पाये हुएमे, वृद्धि पानेपर
प्रवेष्टुम्—११-५४ प्रवेश करनेके लिए, सायुज्य मुक्ति पानेके लिए
प्रव्यथितम्—११-२०, ४५ भय-भीत हुआ, त्रस्त, व्याकुल
प्रव्यथितान्तरात्मा—११-२४ जिसका आत्मा व्याकुल हुआ है ऐसा
प्रव्यथिता —११-२३ भयभीत, त्रस्त (हो गये है)
प्रशस्ते—१७-२६ श्रेष्ठ, अच्छे
प्रशान्तमनसम्—६-२७ जिसका मन अच्छी प्रकार शात हुआ है उसे, शातचित्तको
प्रशान्तस्य—६-७ शातचित्तका, सपूर्ण रीतिसे शात हुएको
प्रशान्तात्मा—६-१४ जिनका अत करण पूर्ण शात है ऐसा (पूर्ण शातिसे युक्त)
प्रसक्ता —१६-१६ आसक्त, मस्त हुए
प्रसङ्गेन—१८-३४ प्रसग के आने-पर, आसक्तिसे (—पूर्वक)
प्रसन्नचेतस —२-६५ प्रसन्न चित्त-वालेकी, प्रसन्नता प्राप्त किये हुएकी
प्रसन्नात्मा—१८-५४ प्रसन्नचित्त
प्रसन्नेन—११-४७ प्रसन्न होने-वालेके द्वारा, प्रसन्न होकर
प्रसभम्—२-६० बलात्कारसे ; ११-४१ अनुचित रीतिसे
प्रसविष्यध्वम्—३-१० (तुम) वृद्धिको प्राप्त होओ
प्रसादये—११-४४ (मैं) प्रसन्न करता हू, प्रसन्न होनेकी प्रार्थना

करता हूं
प्रसादम्—२-६४ शांति, प्रसन्नता (को)
प्रसादे—२-६५ प्रसादमें, चित्त-प्रसन्नतासे, चित्त प्रसन्न होने-पर
प्रसिद्ध्येत्—३-८ (वह) सिद्ध हो, चले
प्रसीद—११-२५, ३१, ४५ (तू) प्रसन्न हो
प्रसृता—१५-४ प्रसृत, प्रसार की हुई
प्रसृता—१५-२ प्रसृत हैं
प्रहसन्—२-१० हसते-हसते
प्रहास्यसि—२-३९ (तू)—से छूटेगा, छोडेगा, तोडेगा
प्रहृष्यति—११-३६ (वह) हर्ष पाता है
प्रहृष्येत्—५-२० (वह) हर्षित हो, सुख माने
प्रह्लाद—१०-३० भक्त प्रह्लाद
प्राकृत—१८-२८ पामर, असंस्कारी
प्राक्—५-२३ पहले
प्राञ्जलय:—११-२१ जिनके हाथ जुड़े हैं ऐसे, हाथ जोडकर, हाथ जोडे हुए
प्राणकर्माणि—४-२७ प्राणकर्मोंको
प्राणम्—४-२९; ८-१०, १२ प्राणवायुको, प्राणको
प्राणान्—१-३३, ४-३० प्राणोंको,
प्राणापानगती—४-२९ प्राण और अपान वायुकी (दो) गतियोंको
प्राणापानसमायुक्त:—१५-१४ प्राण और अपान वायुसे युक्त (होकर)
प्रणापानौ—५-२७ प्राण और अपान वायुको
प्राणायामपरायणा:—४-२९ प्राणायाममें तत्पर रहनेवाले
प्राणिनाम्—१५-१४ प्राणियोंके
प्राणे—४-२९ प्राणवायुमें
प्राणेषु—४-३० प्राणोंमें
प्राधान्यत:—१०-१९ मुख्यरूपसे, मुख्य-मुख्य
प्राप्त—१८-५० प्राप्त
प्राप्नुयात्—१८-७१ (वह) प्राप्त करे
प्राप्नुवन्ति—१२-४ (वे) प्राप्त करते हैं
प्राप्य—२-५७, ७२; ५-२०, ६-४१; ८-२१, २५, ९-३३ प्राप्त करके, पाकर
प्राप्यते—५-५ प्राप्त किया जाता है
प्राप्स्यसि—२-३७, १८-६२ (तू) पायेगा, प्राप्त करेगा
प्राप्स्ये—१६-१३ (मैं) पाऊंगा,

पूरा करुगा
प्रारभते—१८-१५ (वह) आरभ करता है
प्रार्थयन्ते—९-२० (वे) प्रार्थना करते हैं, मागते हैं
प्राह—४-१ कहा
प्राहु—६-२, १३-१, १५-१, १८-२, ३ (वे) कहते हैं
प्रियकृत्तम—१८-६९ अधिक प्रिय करनेवाला (भक्त—सेवक)
प्रियचिकीर्षव—१-२३ प्रिय करनेकी इच्छावाले
प्रियतर—१८-६९ अधिक प्रिय
प्रियम्—५-२० प्रिय, इष्ट वस्तु
प्रियहितम्—१७-१५ (कर्णको) प्रिय और (परिणाममे) हितकर
प्रिय—७-१७, ९-२९, ११-४४, १२-१४, १५, १६, १७, १९; १७-७, १८-६५ प्रिय, इष्ट
प्रिया—१२-२० प्रिय
प्रियाय—११-४४ प्रियजनके लिए
प्रीतमना—११-४९ प्रसन्न मनवाला, शातचित्त
प्रीतिपूर्वकम्—१०-१० प्रेमसहित, प्रेमपूर्वक
प्रीति—१-३६ सुख, आनद
प्रीयमाणाय—१०-१ सतोषीके लिए, प्रियजनके लिए
प्रेतान्—१७-४ प्रेतोको
प्रेत्य—१७-२८, १८-१२ परलोकमे, मृत्युको प्राप्त होकर
प्रोक्तम्—८-१, १३-११, १७-१८, १८-३७ कहा हुआ, कहाता है
प्रोक्तवान्—४-१, ४ (वह) कहाता था, (उसने) कहा
प्रोक्त—४-३, ६-३३, १०-४०, १६-६ कहा हुआ है
प्रोक्ता—३-३ कही गई है
प्रोक्तानि—१८-१३ कहे गये, कहे हुए
प्रोच्यते—१८-१९ कहे जाते हैं
प्रोच्यमानम्—१८-२९ कहे हुएको, कहे गयेको
प्रोतम्—७-७ पिरोया हुआ, गूथा हुआ

फ

फलम्—२-५१, ५-४, ७-२३, ९-२६, १४-१६, १७-१२, २१, २५, १८-९ १२ फल, फलको
फलहेतव—२-४९ फलके हेतु, फलके उद्देश्यसे कर्म करनेवाले
फलाकाड्क्षी—१८-३४ फलकी आकाक्षा—इच्छा—रखनेवाला, फलेच्छावाला
फलानि—१८-६ फलोको

फले—५-१२ फलमें
फलेषु—२-४७ फलोंमें

ब

बत—१-४५ खेदसूचक उद्गार, (कैसी दुःखकी बात है!)
बद्धाः—१६-१२, बंधे हुए, फंसे हुए
बध्नाति—१४-६ (वह) बांधता है
बध्यते—४-१४ (वह) बंधता है
बन्धम्—१८-३० बंधनको
बन्धनात्—५-३ बंधनसे
बन्धु—६-५/६ भाई, बन्धु, सगा, मित्र
बन्धून्—१-२७ भाइयोंको बान्धवोंको
बभूव—२-९ (वह) हुआ
बलम्—१-१० सैन्य, ७-११, १६-१८, १८-५३ बल पराभव करनेकी शक्ति
बलवताम्—७-११ बलवानोंका
बलवत्—६-३४ जोरकी, बलवान
बलवान्—१६-१४ बलवान
बलात्—३-३६ बलसे, बलात्कारसे
बहवः—१-९; ४-१० ११-२८ बहुत, घने, बहुत
बहिः—५-२७, १३-१५ बाहर
बहुदंष्ट्राकरालम्—११-२३ बहुत-सी विकराल दाढ़ोंवाले, बहुत-सी दाढ़ोंके कारण भयंकर
बहुधा—९-१५; १३-४ बहुत प्रकारसे, अनेक प्रकारसे
बहुना—१०-४२ बहुत अधिक (जानने) से
बहुबाहूरुपादम्—११-२३ बहुत-से हाथ, जांघ और पैरवाला
बहुमत—२-३५ मानको प्राप्त
बहुलायासम्—१८-२४ बहुत क्लेश उत्पन्न करनेवाला, [illegible]-पूर्वक
बहुवक्त्रनेत्रम्—११-२३ बहुतसे मुख और आंखोंवाला
बहुविधा—४-३२ बहुत प्रकारके
बहुशाखाः—२-४१ बहुत शाखा-वाली
बहूदरम्—११-२३ बड़े पेटवाला
बहूनाम्—७-१९ बहुत
बहूनि—४-५; ११-६ बहुत
बहून्—२-३६ बहुत-सों (को) अनेक (को)
बालाः—५-४ अविचारी, विवेक-हीन लोग अज्ञानी लोग
बाह्यस्पर्शेषु—५-२१ बाहरके पदार्थोंके साथ इन्द्रियोंके संयोगोंमें, बाह्य विषयोंमें
बाह्यान्—५-२७ बाहरके
बिभर्ति—१५-१७ (वह) धारण करता है, पुष्ट करता है

भवत—४-४ आपका, १४-१७ (वे दो) उत्पन्न होते हैं
भवति—१-४४, २-६३, ३-१४, ४-७, १२, ६-२, १३, ४२, ७-२३, ९-३१, १४-३, १०, २१, १७-२, ३, ७, १८-१२ (वह) होता है, पैदा होता है, उत्पन्न होता है
भवन्तम्—११-३१ आपको
भवन्तः—१-११ आप, आप सब
भवन्ति—३-१४, १०-५, १६-३ (वे) होते हैं, पैदा होते हैं
भव—१०-४ उद्भव, उत्पत्ति, जन्म
भवान्—१-८, १०-१२, ११-३१ आप
भवाप्ययौ—११-२ उत्पत्ति और नाश (प्रलय)
भवामि—१२-७ (मैं) होता हूं
भविता—२-२०, १८-६९ होनेवाला, (वह) होगा
भविष्यताम्—१०-३४ भविष्यमें उत्पन्न होनेवालोंका
भविष्यति—१६-१३ (वह) होगा
भविष्यन्ति—११-३२ (वे) होंगे
भविष्याणि—७-२६ इसके बाद होनेवाला
भविष्यामः—२-१२ (हम) होंगे
भवेत्—१-४६, ११-१२ (वह) हो
भस्मसात्—४-३७ भस्मीभूत, भस्मरूप
भारत—१-२४; २-१० हे भारत (भरतकुलोत्पन्न) धृतराष्ट्र, २-१४; इत्यादि, हे भारत अर्जुन
भावना—२-६६ ध्यान, भक्ति
भावम्—७-१५ भाव-स्वभावको, ७-२४, ८-६, ९-११ स्वरूपको; १८-२० भाव—वस्तुको
भावयत—३-११ (तुम) पोषण करो
भावयन्तः—३-११ पोषण करके
भावयन्तु—३-११ पोषण करें
भावसमन्विता—१०-८ भावनावाले, प्रेमयुक्त, भावपूर्वक
भावसंशुद्धि—१७-१६ अंतःकरणकी निर्मलता, भावनाशुद्धि
भाव—२-१६ अस्तित्व, हस्ती, ८-४, २० भाव, तत्त्व, स्वरूप, १८-१७ भाव, भावना
भावाः—७-१२ भाव, पदार्थ, १०-५ भाव, भावना
भावेषु—१०-१७ पदार्थोंमें, भावोंमें, रूपोंमें
भावैः—७-१३ भावोंसे, स्वभावोंसे
भाषसे—२-११ (तू) बोलता है
भाषा—२-५४ लक्षण, व्याख्या
भासयते—१५-६, १२ प्रकाशित

करता है
भासः—११-१२ तेजका, ज्योति-का, ११-३० तेज, प्रकाश
भास्वता—१०-११ प्रकाशमय, उज्ज्वल (ज्ञानदीप) से
भाः—११-१२ तेज
भिन्ना—७-४ भेदवाली, भिन्न
भीतभीत—११-३५ भयभीत हुआ
भीतम्—११-५० भयभीत (अर्जुन) को
भीतानि—११-३६ भयभीत हुए
भीताः—११-२१ भयभीत होकर
भीमकर्मा—१-१५ भयङ्कर, भयानक कर्मवाला
भीमाभिरक्षितम्—१-१० भीम-द्वारा रक्षित
भीमार्जुनसमाः—१-४ भीम और अर्जुनके समान
भीष्मद्रोणप्रमुखतः—१-२५ भीष्म और द्रोणके सामने
भीष्मम्—१-११, २-४, ११-३४ भीष्मको
भीष्मः—१-८, ११-२६ भीष्म-पितामह
भीष्माभिरक्षितम्—१-१० भीष्म-द्वारा रक्षित (बल)
भुक्त्वा—९-२१ भोगकर
भुङ्क्ते—३-१२, १३-२१ (वह) भोगता है
भुङ्क्ष्व—११-३३ (तू) भोग
भुञ्जते—३-१३ (वे) भोगते हैं, खाते हैं
भुञ्जानम्—१५-१० भोगनेवाले-को
भुञ्जीय—२-५ मैं भोगूँ
भुवि—१८-६९ पृथ्वीमें
भूतगणान्—१७-४ भूतगणोंको
भूतग्रामम्—९-८ प्राणियोंके समुदायमात्रको—सारे समुदायको, १७-६ (पञ्च) महाभूतोंको
भूतग्रामः—८-१९ भूतसमुदाय, प्राणियोंका समुदाय
भूतपृथग्भावम्—१३-३० प्राणियोंका नानात्व—अनेकत्व जीवोंके भिन्न-भिन्न अस्तित्व
भूतप्रकृतिमोक्षम्—१३-३४ प्रकृतिके बन्धनसे प्राणियोंकी मुक्ति
भूतभर्तृ—१३-१६ प्राणियोंका पोषण करनेवाला
भूतभावन—१०-१५ हे प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाले, जीवोंके पिता
भूतभावनः—९-५ भूतोंको उत्पन्न करनेवाला
भूतभावोद्भवकरः—८-३ सृष्टि उत्पन्न करनेवाला, प्राणीमात्रको उत्पन्न करनेवाला

भोक्तृत्वे—१३-२० भोगनेमें
भोक्ष्यसे—२-३७ (तू) भोगेगा
भोगान्—२-५, ३-१२ भोगोंको
भोगा—१-३३, ५-२२ भोग
भोगी—१६-१४ विषयभोग जिसे प्राप्त हुए हों ऐसा व्यक्ति, भोगी
भोगैश्वर्यगतिम्—२-४३ भोग और ऐश्वर्य प्राप्त करनेके (लिए)
भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्—२-४४ भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त लोगोंकी
भोगैः—१-३२ भोगोंसे
भोजनम्—१७-१० आहार, भोजन
भ्रमति—१-३० (वह) फिरता है, घूमता है
भ्रातॄन्—१-२६ भाइयोंको
भ्रामयन्—१८-६१ भ्रमण कराता हुआ, घुमाता हुआ
भ्रुवोः—५-२७, ८-१० (दो) भृकुटियोंके (बीच)

म

मकरः—१०-३१ मगर, मगरमच्छ
मच्चित्तः—६-१४, १८-५७, ५८ जिसका चित्त मुझमें लगा हुआ है, मुझमें परायण
मच्चित्ताः—१०-९ जिनके चित्त मुझमें लगे हुए हैं वे, मुझमें चित्त पिरोनेवाले
मणिगणाः—७-७ मणियोंका समूह, मनके
मतम्—३-३१, ३२, ७-१८, १३-२, १८-६ माना हुआ, मानना, अभिप्राय, मत
मतः—६-३२, ४६, ४७, ११-१८, १८-६ माना हुआ, माना जाता है
मता—३-१, १६-५ मानी हुई, मानी गई है
मताः—१२-२ माने गये हैं, माने जाते हैं
मतिः—६-३६, १८-७०, ७८ बुद्धि, मत, अभिप्राय
मते—८-२६ (दो गतियां) मानी गई हैं
मत्कर्मकृत्—११-५५ मेरे ही लिए कर्म करनेवाला
मत्कर्मपरमः—१२-१० मेरे ही लिए किये जानेवाले कामोंमें परायण, कर्ममात्र मुझे अर्पण करनेवाला
मत्तः—७-७ मुझसे, मेरी अपेक्षा, ७-१२, १०-५, ८, १५-१५ मुझसे, मुझमेंसे
मत्परमः—११-५५ मुझमें परायण
मत्परमाः—१२-२० मुझमें परायण
मत्परः—२-६१, ६-१४, १८-५७

[illegible] मेरा [illegible]

[illegible] मुझमें [illegible]

[illegible]—९-३४ [illegible]

[illegible]

[illegible]—१२-८ मुझमें [illegible]

[illegible]—१८-६ [illegible]

[illegible]—९-२८, १०-८; ११-४१ [illegible]

[illegible]—९-१३ मेरी [illegible]

[illegible]—९-४, ५, ६ मेरे [illegible]

[illegible]—११-१ [illegible] करनेके लिये

[illegible]—१२-१० मेरे लिये, मेरे [illegible]

[illegible]—७-१ मेरे लिये

[illegible]—९-२७ मुझे [illegible] (कर)

[illegible]—१८-३५ [illegible]

[illegible]—८-१ [illegible]

[illegible]—१०-९ मुझमें [illegible]

[illegible] करनेवाले [illegible]

[illegible]—९-४३ मुझमें [illegible]

[illegible] (जिसके) द्वारा

[illegible]—९-३४; ११-५५, १२-१४, १६; १३-१८; १८-६५ मेरा भक्त

[illegible]—७-२३ मेरे भक्त, मेरा भजन करनेवाले

[illegible]—१८-५४ मेरी भक्ति को

[illegible]—१८-६८ मेरे [illegible]

[illegible]—४-१०; ८-५; १४-१९ मेरे भावको

[illegible]—१३-१८ मेरे भावको

[illegible]—१०-६ मुझमें भाववाले

[illegible]—९-३४ मेरा पूजन करनेवाले, मुझे पूजनेवाले

[illegible]—९-३४, १८-६५ मेरी पूजा करनेवाला, मेरे निमित्त [illegible] करनेवाला

[illegible]—१२-११ मेरे निमित्त [illegible]

[illegible]—१८-५६ मेरा [illegible]

[illegible]—३-३१, ३-४, ६-३६; [illegible]

योंका, महर्षियोमे
महात्मन.—११-१२, १८-७४; महात्माका
महात्मन्—११-२०, ३७ हे महात्मन्
महात्मा—७-१९; ११-५० महात्मा
महात्मान —८-१५, ९-१३ महात्मा
महानुभावान्—२-५ प्रभावशाली आर्योंको, महानुभावोको
महान्—९-६, १८-७७ बडा, महान्
महापाप्मा—३-३७ महापापी
महाबाहु —१-१८ महाबाहु, लबी बाहुवाला
महाबाहो—२-२६, ६८, ३-२८, ४३, ५-३, ६, ६-३५, ३८, ७-५, १०-१, ११-२३, १४-५, १८-१, १३ हे लबी बाहुवाले
महाभूतानि—१३-५ (पच) महाभूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश
महायोगेश्वरः—११-९ महा योगेश्वर
महारथ —१-४, १७ महारथी
महारथा —१-६, २-३५ महारथी (अनेक)
महाशखम्—१-१५ बडे शखको
महाशन.—३-३७ बहुत खानेवाला, पेटू
महिमानम्—११-४१ महिमाको
महीकृते—१-३५ पृथ्वीके लिए, जमीन (के टुकडे) के लिए
महीक्षिताम्—१-२५ राजाओंका
महीपते—१-२१ हे महीपति, हे राजन्
महीम्—२-३७ पृथ्वीको
महेश्वरः—१३-२२ महेश्वर, स्वामी
महेष्वासा —१-४ बडे धनुर्धारी
मस्यन्ते—२-३५ (वे) मानेंगे
मा—२-३, ४७, नही—मा (निषेधवाचक), ११-४९ न होओ; माभू २-४७ न होओ, मा व्यथिष्ठाः ११-३४ डरो मत, त्रास मत पाओ, मा शुच—१६-५, ११-६६ शोक न कर, विषाद न कर, मा स्म गम २-३ न जा—न प्राप्त हो
माता—९-१७ माता
मातुलान्—१-२६ मामाओंको
मातुला.—१-३४ मामा
मात्रास्पर्शा —२-१४ बाह्य पदार्थोंके सयोग, इद्रियोके स्पर्श
माधव—१-३७ हे माधव-कृष्ण
माधव —१-१४ कृष्ण

मुहु'—१८-७६ फिरसे
मुमुक्षुभि.—४-१५ मोक्षकी इच्छा करनेवालोद्वारा
मुह्यति—२-१३, ८-२७ (वह) मोहग्रस्त होता है, मूर्च्छित होता है
मुह्यन्ति—५-१५ (वे) मोहग्रस्त होते हैं, मोहमे फसते हैं
मूढग्राहेण—१७-१९ दुराग्रहसे
मूढयोनिषु—१४-१५ पश्वादि योनियोमे, मूढ योनियोमे
मूढ —७-२५ अज्ञान, मूढ
मूढा —७-१५, ९-११, १६-२० मूर्ख लोग, मूढ लोग
मूर्तय —१४-४ मूर्ति, प्राणी
मूर्ध्नि—८-१२ मस्तक—ब्रह्मरन्ध्र—मे
मूलानि—१५-२ जड, मूल
मृगाणाम्—१०-३० मृगोका—पशुओका (—मे)
मृगेन्द्र —१०-३० सिंह
मृतम्—२-२६ मरे हुए, मरनेवालेको
मृतस्य—२-२७ मरे हुएका
मृत्युम्—१३-२५ मृत्युको
मृत्युससारवर्त्मनि—९-३ मृत्युमय ससारमार्गमे
मृत्युससारसागरात्—१२-७ मृत्युमय ससारसे, मृत्युरूपी ससारसागरसे
मृत्यु —२-२७, ९-१९; १०-३४ मृत्यु, मरण
मे—१-२१, २९, ३०, ४६, ३-२, २२, ३१, ३२, ४-३, ५, ९, १४, ६-३०, ३६, ३९, ४७, ७-४, ५, १८, ९-५, २९, ३१, १०-१, २, १८, १९, ११-५, ८, १८, ४५, ४७, ४९, १२-२, १४, १५, १६, १७, १९, २०, १३-३; १६-६, १३, १८-४, ६, ६४, ६५, ६९, ७०, ७७ मेरा, २-७, ५-१, ९-२६, १०-१३, ११-४, ३१, ४५ मुझे, १८-१३, ३६, ५० मेरे पाससे
मेधा—१०-३४ बुद्धि
मेधावी—१८-१० आत्मज्ञानी, बुद्धिमान
मेरु —१०-२३ मेरु पर्वत
मैत्र —१२-१३ मित्रभाववाला
मोक्षकाङ्क्षिभि—१७-२५ मुमुक्षुओसे, मोक्षेच्छुओद्वारा
मोक्षपरायण—५-२८ —मोक्षके विषयमे परायण
मोक्षयिष्यामि—१८-६६ (मै) मुक्त करूंगा
मोक्षम्—१८-३० मोक्षको
मोक्ष्यसे—४-१६, ९-१, २८

दान और तपरूपी क्रियाए
यज्ञभाविता—३-१२ यज्ञद्वारा सतुष्ट देवगण
यज्ञम्—४-२५, १७-१२, १३ यज्ञको
यज्ञविद—४-३० यज्ञ जाननेवाले
यज्ञशिष्टामृतभुज—४-३१ यज्ञमेसे बचे हुए अमृतका पान करनेवाले
यज्ञशिष्टाशिन—३-१३ यज्ञमेसे बाकी रहा हुआ खानेवाले
यज्ञ—३-१४, ९-१६, १६-१, १७-७, ११, १८-५ वैश्व-देवादि स्मार्त कर्म, यज्ञ
यज्ञात्—३-१४ यज्ञसे, यज्ञमेसे, ४-३३ यज्ञकी अपेक्षा
यज्ञानाम्—१०-२५ यज्ञोंमे
यज्ञाय—४-२३ यज्ञके लिए, यज्ञार्थ
यज्ञार्थात्—३-९ यज्ञार्थ—ईश्वर-प्रीत्यर्थ—किये हुए (कर्म) के सिवा, निष्काम रहकर किये हुए विहित कर्मके सिवा
यज्ञा—४-३२; १७-२३ यज्ञ
यज्ञे—३-१५; १७-२७ यज्ञमे
यज्ञेन—४-२५ यज्ञद्वारा
यज्ञेषु—८-२८ यज्ञोंमे
यज्ञै.—९-२० यज्ञोद्वारा
यत्—१-४५ जिससे कि, २-६ कि, २-७, ८ इत्यादि जो, जिसे, १५-८, ८ जो, जब
यतचित्तस्य—६-१९ नियत चित्त-वालेका, स्थिरचित्तका
यतचित्तात्मा—४-२१, ६-१० जिसका अत करण और देह नियममें—काबूमे—है, जिसका मन अपने वशमे है वह, चित्त स्थिर करके
यतचित्तेन्द्रियक्रिया—६-१२ जिसने चित्तकी और इन्द्रियोकी क्रियाए नियममें रखी हैं, वह चित्त और इन्द्रियोको वश करके
यतचेतसाम्—५-२६ जिन्होने अपने मनको वशमे किया है (उन यतियोका)
यतत—२-६० प्रयत्नमे करनेवालेकी
यतता—६-३६ यत्नवानसे, यत्न-करनेवालेके द्वारा
यतताम्—७-३ प्रयत्न करने-वालोमे
यतति—७-३ (वह) यत्न करता है
यतते—६-४३ (वह) प्रयत्न करता है
यतन्त—९-१४, १५-११ प्रयत्न करनेवाले
यतन्ति—७-२९ (वे) प्रयत्न

यश.—१०-५, ११-३३ कीर्ति, यश

यष्टव्यम्— १७-११ यज्ञ करने योग्य, यज्ञ करना चाहिए

यस्मात्—१२-१५ जिससे, जिसके द्वारा, १५-१८ जिस कारणसे, जिससे

यस्मिन्—६-२२, १५-४ जिसमे, जिसके विषयमे

यस्य—२-६१, ६८, ४-१६, ८-२२, १५-१, १८-१७ जिसका

यस्याम्—२-६९ जिसमे

य—२-१९ इत्यादि, जो

या—२-६९, १८-३०, ३२, ५० जो

यातयामम्—१७-१० प्रहरतक पड़ा हुआ

याति—६-४५, ८-५, ८, १३, २६, १३-२८, १४-१४, १६-२२ (वह) जाता है, प्राप्त होता है

यादव—११-४१ हे यादव—कृष्ण

यादसाम्—१०-२९ जलचरोंमें

यादृक्—१३-३ जैसा

यान्—२-६ जिन्हें

यान्ति—३-३३, ४-३१, ७-२३, २७, ८-२३, ९-७, २५ ३२, १३-३४, १६-२० (वे) जाते है, अनुसरण करते हैं, प्राप्त करते है

याभि—१०-१६ जिनके द्वारा

याम्—२-४२; ७-२१ जिसे

यावत्—१-२२ जिससे, जबतक, १३-२६ जो कुछ

यावान्—२-४६, १८-५५ जितना, जैसा

यास्यसि—२-३५, ४-३५ (तू) जायगा, प्राप्त होगा

या—१४-४ जो

युक्तचेतस—७-३० वे जिनका अंत करण युक्त हुआ है, समत्वको प्राप्त हुए

युक्तचेष्टस्य—६-१७ यथायोग्य नियमित चेष्टावाले

युक्ततम—६-४७ उत्तम योगी

युक्ततमा—१२-२ उत्तम योगी

युक्तस्वप्नावबोधस्य—६-१७ जिसका सोना-जागना नियमित है, सोने और जागनेमे प्रमाण रखनेवाले

युक्त—२-३९, ७-२२, ८-११, १८-५१—से युक्त, वाला, २-६१, ४-१८, ५-८, ६-१४, १८ युक्त, योगी, ३-२६, ५-१२, २३ समतावान मनुष्य,

समत्व रखनेवाला, ६-८ ईश्वरपरायण मनुष्य
युक्तात्मा—७-१८ निष्काम कर्मयोगी
युक्ताहारविहारस्य—६-१७ जिस-का खान-पान और घूमना-फिरना यथायोग्य है, आहार-विहारमें प्रमाण रखनेवाला
युक्ते—१-१४ युक्त, जड़े हुए
युक्तैः—१७-१७ एकाग्र चित्त-वालोंसे, समभावी पुरुषों-द्वारा
युक्त्वा—९-३४ जोड़कर
युगपत्—११-१२ एक ही समय, एक साथ
युगसहस्रान्ताम्—८-१७ हजार युग अवधिवाली
युगे—४-८ युग मे
युज्यते—१०-७ (वह) जुड़ता है, प्राप्त होता है, १७-२६ युक्त होता है, काममे आता है
युज्यस्व—२-३८, ५० (तू) प्रवृत्त हो
युञ्जत—६-१९ साधन करने-वालेका, (आत्माका परमात्माके साथ) संयोग साधनेवालेका, संबंध जोड़नेवालेका
युञ्जन्—६-१५, २८, ७-१ साधता हुआ, जोड़ता हुआ, (आत्माका परमात्माके साथ) अनुसंधान (संयोग) करता हुआ
युञ्जीत—६-१० (वह) स्थिर करे, साधे, के साथ जोड़े
युञ्ज्यात्—६-१२ (वह) (योग) साधे
युद्धविशारदा—१-९ युद्धमें कुशल
युद्धम्—२-३२ युद्धको
युद्धात्—२-३१ युद्धसे, युद्धकी अपेक्षा
युद्धाय—२-३७, ३८ युद्धके लिए, लड़नेके लिए
युद्धे—१-२३, ३३, १८-४३ युद्धमे
युधामन्यु—१-६ एक राजा-का नाम
युधि—१-४ युद्धमे, लड़नेमे
युधिष्ठिर—१-१६ युधिष्ठिर राजा, धर्मराजा
युध्य—८-७ (तू) युद्ध कर, लड़
युध्यस्व—२-१८, ३-३०, ११-३४ (तू) लड़, युद्ध कर
युयुधान—१-४ सात्यकि
युयुत्सव—१-१ लड़नेकी इच्छा-वाले
युयुत्सुम्—१-२८ लड़ने को उत्सुक, लड़नेकी इच्छावाले (को)

योधवीरान्—११-३४ वीर लड़ाकोंको
योधा—११-३२ लड़ाके, योद्धा
योनिम्—१६-२० योनिको, भवको
योनिषु—१६-१९ योनियोमें
योनि:—१४-३, ४ गर्भस्थान, उत्पत्तिस्थान
यौवनम्—२-१३ युवावस्था, यौवन

र

रक्षांसि—११-३६ राक्षस
रजस—१४-१६ रजोगुणका, १४-१७ रजोगुणसे
रजसि—१४-१२, १५ रजोगुणमे
रज—१४-५, ७, ९, १०, १७-१ रजोगुण, रजस्
रजोगुणसमुद्भव—३-३७ रजोगुणसे उत्पन्न
रणसमुद्यमे—१-२२ रणसमारम्भमें, रणसग्राममे
रणात्—२-३५ रणसे
रणे—१-४६, ११-३४ रणमे
रता—५-२५, १२-४ रत, लगे रहनेवाले
रथम्—१-२१ रथको
रथोत्तमम्—१-२४ उत्तम रथको
रथोपस्थे—१-४७ रथमे, रथके पिछले भागमे
रमते—५-२२, १८-३६ (तू वह) रमता है
रमन्ति—१०-९ (वे) आनदमे रहते हैं
रवि:—१०-२१, १३-३३ सूर्य
रसनम्—१५-९ जीभ, स्वादेन्द्रिय
रसवर्जम्—२-५९ रसको छोड़कर—रस नही जाता
रस—२-५९, ७-८ रस
रसात्मक—१५-१३ रसवाला, रसरूपी
रस्या—१७-८ रसदार
रहसि—६-१० एकातमे
रहस्यम्—४-३ गुप्त बात, सार, मर्मकी बात
राक्षसीम्—९-१२ राक्षसी (को)
रागद्वेषवियुक्तै—२-६४ रागद्वेषरहित (द्वारा)
रागद्वेषौ—३-३४ रागद्वेष, १८-५१ रागद्वेषको
रागात्मकम्—१४-७ इच्छा उत्पन्न करनेवाला, रागरूपी
रागी—१८-२७ रागोसे भरा हुआ, रागी
राजगुह्यम्—९-२ गूढ वस्तुओमे—गुह्योमे राजा—श्रेष्ठ
राजन्—११-९, १८-७६, ७७ हे राजा

ल

विद्यात्—६-२३ ; १४-११ (उन्हे) जानना चाहिए, (वे) जानें
विद्यानाम्—१०-३२ विद्याओमे
विद्याम्—१०-१७ (मैं) जानू, पहचानू
विद्याविनयसपन्ने—५-१८ विद्या और विनयवालोमे, विद्वान् और विनयवानके विषयमे
विद्वान्—३-२५, २६ ज्ञानी, समझदार पुरुष
विधानोक्ता—१७-२४ शास्त्र-विहित, शास्त्रमे कही हुई
विधिदृष्ट—१७-११ विधिपूर्वक
विधिहीनम्—१७-१३ विधिरहित
विधीयते—२-४४ (वह) स्थिर हो सकती है, की जा सकती है
विधेयात्मा—२-६४ जिसका मन अपने काबूमे है वह
विनङ्क्ष्यसि—१८-५८ (तू) नाशको प्राप्त होगा
विनद्य—१-१२ आवाज करके, बजाकर
विनश्यन्ति—४-४० ; ८-२० (वह) नाशको प्राप्त होता है
विनश्यत्सु—१३-२७ नाशवान प्राणियोमे
विना—१०-३९ सिवा, विना
विनाशम्—२-१७ नाश (को)
विनाश—६-४० नाश
विनाशाय—४-८ नाशके लिए
विनियतम्—६-१८ अच्छी तरहसे नियमबद्ध किया हुआ
विनियम्य—६-२४ अच्छी तरहसे नियममे रखकर
विनिवर्तन्ते—२-५९ (वे) विरत (निवृत्त) होते है, शान्त होते है
विनिवृत्तकामा—१५-५ जिनकी कामनाए शात हो गई है वे
विनिश्चितै—१३-४ निश्चित, निश्चयवालो (द्वारा)
विन्दति—४-३८, ५-२१, १८-४५, ४६ (वह) प्राप्त करता है
विन्दते—५-४ (वह) प्राप्त करता है
विन्दामि—११-२४ (मैं) प्राप्त करता हू
विपरिवर्तते—९-१० (वह) परिवर्तन प्राप्त करता है, उत्पत्ति और नाश होता है, (रेहटकी भाति) घूमता रहता है
विपरीतम्—१८-१५ विपरीत; उल्टा
विपरीतानि—१-३१ उल्टा, विपरीत
विपरीतान्—१८-३२ उलटे (को)
विपश्चित—२-६० ज्ञानीका, विवेकदृष्टिवालेका, समझदारका

विवृद्धम्—१४-११ बढ़ा हुआ
विवृद्धे—१४-१२, १३ बढ़े हुएमें, वृद्धि पाये हुए (में)
विशते—१८-५५ (वह) प्रवेश करता है
विशन्ति—८-११; ९-२१, ११-२१, २७, २८, २९, (वे) प्रवेश करते हैं
विशालम्—९-२१ विस्तीर्ण, विशाल
विशिष्टा—१-७ मुख्य, खास-खास
विशिष्यते—३-७, ५-२; ६-९, ७-१७, १२-१२ (वह) विशेष है, श्रेष्ठ है, बढ़ जाता है, अच्छा है
विशुद्धया—१८-५१ संस्कारी—शुद्ध (द्वारा)
विशुद्धात्मा—५-७ जिसने अपने हृदयको शुद्ध किया है वह
विश्वतोमुखम्—९-१५, ११-११ विश्वव्यापकको, चारो ओर जिसके मुख हैं उसे, सर्व-व्यापीको
विश्वतोमुख—१०-३३ चारो ओर मुखवाला, सर्वव्यापी
विश्वम्—११-१९, ३८ विश्व, जगत, जगतको, ११-४७ विश्वव्यापीको
विश्वमूर्ते—११-४६ हे विश्वमूर्ति
विश्वरूपम्—११-१६ विश्वरूपको
विश्वस्य—११-१८, ३८ जगतका, विश्वका
विश्वे—११-२२ विश्वेदेव
विश्वेश्वर—११-१६ हे जगतके ईश्वर
विषमे—२-२ कठिन समयमे, संकटमे
विषयप्रवाला—१५-२ विषयरूपी जिनके पल्लव—अंकुर—हैं वे विषयरूपी कोपलवाली
विषयान्—२-६२, ६४, ४-२६, १५-९, १८-५१ विषयोको
विषया—२-५९ विषय
विषयेन्द्रियसंयोगात्—१८-३८ विषय और इंद्रियोंके संयोग-से—मिलापसे
विषम्—१८-३७, ३८ जहर
विषादम्—१८-३५ खिन्नताको, निराशा
विषादी—१८-२८ शोकातुर, गमगीन
विषीदन्—१-२८ खिन्न होता हुआ, खेद पाता हुआ
विषीदन्तम्—२-१, १० दुःखीको, उदास होकर बैठे हुएको
विष्टभ्य—१०-४२ व्याप्त होकर, धारण करके
विष्ठितम्—१३-१७ विशेष रूप-

वेत्ता—११-३८ जाननेवाला, ज्ञाता
वेत्ति—२-१९, ४-९, ६-२१, ७-३, १०-३, ७, १३-१, २३, १४-१९; १८-२१, ३० (वह) जानता है, मानता है, अनुभव करता है
वेत्थ—४-५, १०-१५ (तू) जानता है
वेद—२-२१, २९, ७-२६, १५-१ (वह) जानता है, मानता है, ४-५, ७-२६ (मैं) जानता हू
वेदयज्ञाध्ययनै--११-४८ वेदोमे (वेदाभ्याससे), यज्ञसे और शास्त्रोके अध्ययनसे
वेदवादरता—२-४२ वेदवादी
वेदवित्—१५-१, १५ वेद जाननेवाला, ज्ञानी
वेदविद—८-११ वेद जाननेवाले
वेदानाम्—१०-२२ वेदोमे
वेदान्तकृत्— १५-१५ वेदान्तका कर्त्ता—प्रकट करनेवाला, वेदका रहस्य प्रकट करनेवाला
वेदा—२-४५, १७-२३ वेद
वेदितव्यम्—११-१८ जानने योग्य
वेदितुम्—१८-१ जाननेके लिए
वेदेषु—२-४६, ८-२८ वेदोमे
वेदे—१५-१८ वेदमे, वेदोमे
वेदै—११-५३, १५-१५ वेदो-द्वारा
वेद्यम्—९-१७, ११-३८ जानने योग्य
वेद्य—१५-१५ जानने योग्य
वेपथु—१-२९ कपकपी
वेपमान—११-३५ कापता हुआ, धूजता हुआ
वैनतेय—१०-३० विनताका पुत्र—गरुड
वैराग्यम्—१३-८, १८-५२ विरक्तता, वैराग्य, वैराग्यको
वैराग्येण—६-३५ वैराग्यसे
वैरिणम्—३-३७ वैरी—दुश्मनको
वैश्यकर्म—१८-४४ वैश्यका कर्म
वैश्या—९-३२ वैश्य
वैश्वानर—१५-१४ जठराग्नि, वैश्वानर अग्नि
व्यक्तमध्यानि—२-२८ जिनका मध्यकाल प्रकट हो गया है ऐसे, जिनके बीचकी स्थिति व्यक्त है ऐसे
व्यक्तय—४-१८ स्थावर-जगमादि भूत, व्यक्त भूत—सृष्टि
व्यक्तिम्—७-२४, १०-१४ प्रकट होना, व्यक्तता, स्वरूप
व्यतितरिष्यति—२-५२ (वह) पार उतर जायगा

व्यतीतानि—४-५ हो चुके, बीत गये
व्ययन्ति—१४-२ (वे) नाशको प्राप्त होते हैं, व्यथा पाते हैं
व्यथयन्ति—२-१५ (वे) पीडा देते हैं, व्याकुल करते हैं
व्यथा—११-४६ अकुलाहट, व्यथा
व्यथिष्ठा—११-३४ देखो 'मा व्यथिष्ठा' (न व्यथित हो)
व्यदारयत्—१-१६ (उसने) चीर डाला
व्यनुनादयन्—१-१६ गुंजा देनेवाला
व्यपाश्रित्य—६-३२ आश्रय लेकर
व्यपेतभी—११-४६ जिसका भय चला गया है वह, भयरहित
व्यवसाय—१०-३६; १८-५६ निश्चय
व्यवसायात्मिका—२-४१, ४४ निश्चयवाली, निश्चयात्मक
व्यवसित—६-३० यथार्थ संकल्पवाला, निश्चयवाला
व्यवसिता—१-४५ तैयार हुए
व्यवस्थितान्—१-२० सज्ज, सजे हुए
व्यवस्थितौ—३-३४ (दो) रहते हैं
व्यात्ताननम्—११-२४ खुले हुए मुखवालेको
व्याप्तम्—११-२० व्याप्त (है)
व्यामिश्रेण—३-२ मिश्र, दो अर्थवाली
व्याप्य—१०-१६ व्याप्त होकर
व्यासप्रसादात्—१८-७५ व्यासकी कृपासे
व्यास—१०-१३, ३७ व्यास मुनि
व्याहरन्—८-१३ उच्चारण करता हुआ, जपता हुआ
व्युदस्य—१८-५१ छोड़कर, तजकर, जीतकर
व्यूढम्—१-२ व्यूहके आकारमें
व्यूढाम्—१-३ सज्ज, व्यूहाकार (को)
व्रज—१८-६६ (तू) जा
व्रजेत—२-५४ (वह) चलता है, बरतता है, चले, बरते

श

शक्नोति—५-२३ (वह) सकता है समर्थ है
शक्नोमि—१-३० (मैं) सकता हूं, समर्थ हू
शक्नोषि—१२-६ (तू) सकता है, समर्थ है
शक्यसे—११-८ (तू) सकता है, समर्थ है
शक्यम्—११-४, १८-११ शक्य
शक्य—६-३६, ११-४८, ५३, ५४ शक्य
शङ्खम्—१-१२ शंख (को)

शङ्खाः—१-१३ शंख
शङ्खान्—१-१८ शंखो (को)
शङ्खौ—१-१४ (दो) शंख
शठ—१८-२८ वंचक, धोखा देनेवाला, शठ
शतश—११-५ सैंकडोमे, सैंकडो
शत्रुत्वे—६-६ शत्रुत्वमे
शत्रुम्—३-४३ शत्रुको
शत्रुवत्—६-६ शत्रु-जैसा
शत्रु—१६-१४ शत्रु
शत्रून्—११-३३ शत्रुओंको
शत्रौ—१२-१८ शत्रुमे
शनै—६-२५ धीरे
शब्दब्रह्म—६-४४ वेद, वेदोक्त कर्मका फल, सकाम वैदिक कर्म करनेवालेकी स्थिति
शब्द—१-१३, ७-८ आवाज, ध्वनि, शब्द
शब्दादीन्—४-२६, १८-५१ शब्द आदिको, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि पाँच इन्द्रियविषयोको
शमम्—११-२४ शांतिको
शम—६-३; १०-४, १८-४२ अंतर्निग्रह, शांति, शम
शरणम्—२-४९, ९-१८; १८-५२, ६६ आश्रय, शरण
शरीरम्—१३-१, १५-८ शरीर, शरीरको
शरीरयात्रा—३-८ शरीरका व्यापार—चेष्टा—स्थिति
शरीरवाङ्मनोभि—१८-१५ शरीर, वाणी और मनद्वारा
शरीरविमोक्षणात्—५-२३ शरीरके अंत—देहांत—के पहले
शरीरस्थम्—१७-६ शरीरमे स्थितको
शरीरस्थ—१३-३१ शरीरमे स्थित
शरीराणि—२-२२ देह, शरीर
शरीरिण—२-१८ शरीरी—जीव-आत्मा-का
शरीरे—१-२९, २-२०, ११-१३ शरीरमे
शर्म—११-२५ सुख, शांति
शशाङ्क—११-३९, १५-६ चंद्रमा
शशिसूर्यनेत्रम्—११-१९ चंद्र और सूर्य जिसकी आँखें हैं, उसे
शशिसूर्ययो—७-८ चंद्र और सूर्यमे, चंद्र-सूर्यकी
शशी—१०-२१ चंद्रमा
शश्वत्—९-३१ शाश्वत, सनातन
शश्वच्छान्तिम्—९-३१ निरंतर सनातन शांतिको
शस्त्रपाणय—१-४६ हाथमे शस्त्रवाले
शस्त्रभृताम्—१०-३१ - शस्त्र-

शुक्लपक्ष
शुच—१६-५, १८-६६ देखो 'मा शुच.' (शोक न कर)
शुचि—१२-१६ पवित्र
शुचीनाम्—६-४१ पवित्र (लोगो) का
शुचौ—६-११ पवित्र (मे)
शुनि—५-१८ कुत्तेमे
शुभान—१८-७१ शुभ (लोकों) को
शुभाशुभपरित्यागी—१२-१७ शुभ और अशुभका त्याग करनेवाला
शुभाशुभफलै—९-२८ अच्छे-बुरे फलवाले (के द्वारा)
शुभाशुभम्—२-५७ शुभ और अशुभको
शूद्रस्य—१८-४४ शूद्रका
शूद्राणाम्—१८-४१ शूद्रोका
शूद्रा—९-३२ शूद्र लोग, शूद्र
शूरा—१-४, ९ शूरवीर
शृणु—२-३९, ७-१, १०-१, १३-३, १६-६, १७-२, ७, १८-४, १९, २९, ३६, ४५, ६४ (तू) सुन
शृणुयात्—१८-७१ (वह) सुने
शृणोति—२-२९ (वह) सुनता है
शृण्वत—१०-१८ सुननेवालेकी, सुनते हुए
शृण्वन्—५-८ सुनते हुए
शैव्य—१-५ एक राजाका नाम, शिवि लोगोका राजा
शोकम्—२-८, १८-३५ शोकको
शोकसंविग्नमानसः—१-४७ शोकसे व्याकुल-व्यग्रचित
शोचति—१२-१७, १८-५४ (वह) शोक करता है, चिंता करता है
शोचितुम्—२-२६, २७, ३० शोक करनेको
शोषयति—२-२३ (वह) सुखाता है
शौचम्—१३-७, १६-३, ७, १७-१४, १८-४२ अतर और बाहर की शुद्धि, शौच, पवित्रता
शौर्यम्—१८-४३ पराक्रम, शौर्य
श्याला—१-३४ साले
श्रद्दधाना—१२-२० श्रद्धा रखनेवाले
श्रद्धया—६-३७; ७-२१, २२, ९-२३, १२-२, १७-१, १७ श्रद्धाद्वारा—से
श्रद्धा—१७-२, ३ श्रद्धा
श्रद्धामय—१७-३ श्रद्धावाला, श्रद्धामय
श्रद्धावन्त—३-३१ श्रद्धावाले
श्रद्धावान्—४-३९, ६-४७, १८-७१ श्रद्धावाला
श्रद्धाविरहितम्—१७-१३ श्रद्धा-

ष

स

सख्यु —११-४४ सखाका, मित्रका

सगद्गदम्—११-३५ गद्गद् होकर, गद्गद् कठसे

सकरस्य—३-२४ सकरका, अव्यवस्थाका, वर्णसकरका

सकर —१-४२ (वर्णोंका) मिश्रण, सकर

सकल्पप्रभवान्—६-२४ सकल्पोसे उत्पन्न हुए (कामो) को

सख्ये—१-४७, २-४ सग्राममे

सगम्—२-४८, ५-१०, ११, १८-६, ९ आसक्ति—सगको

सगरहितम्—१८-२३ आसक्ति बिना ।

सगवर्जित —११-५५ (धनादिकी) आसक्तिसे रहित

सगविवर्जित —१२-१८ काम-त्यागी, आसक्तिरहित

सगः—२-४७ सग, आग्रह, २-६२ आसक्ति

सगात्—२-६२ सगसे, आसक्तिसे

सग्रहेण— ८-११ सक्षेपमे

सङ्ग्रामम्—२-३३ लडाई, सग्राम

सघात —१३-६ (शरीर, इद्रिय आदिका) समुदाय, सघात

सचराचरम्—९-१० स्थावरजगम पदार्थोंको, ११-७ स्थावर-जगमसहित (जगत) को

सचेताः—११-५१ प्रसन्नचित्त, शात

सच्छब्द —१७-२६ 'सत्' शब्द

सज्जते—३-२८ (वह) आसक्त होता है

सज्जन्ते—३-२९ (वे) आसक्त होते हैं, रहते हैं

सजनयन्—१-१२ उत्पन्न करता हुआ, पैदा करता हुआ

सजय—१-२ हे सजय

सजयति—१४-९ उत्पन्न करता है, सयोग करता है, आसक्त करता है

सजय —१-२, २४, ४७, २-१, ९, ११-९, ३५, ५०, १८-७४ सजय

सजायते—२-६२, १३-२६, १४-१७ उत्पन्न होता है

सज्ञार्थम्—१-७ नाम (जानने) के लिए, जानकारी के लिए

सत्—९-१९, ११-३७, १३-१२, १७-२३, २६, २७ ईश्वरका नाम, सत्

सततयुक्तानाम्—१०-१० (मुझसे) सतत तन्मय रहनेवालोका

सततयुक्ता —१२-१ अहर्निश समाहित रहते हुए, निरन्तर ध्यान करते हुए

सततम्—३-१९, ६-१०, ८-१४, ९-१४, १२-१४, १७-२४,

सन्तः—३-१३ सत्पुरुष, सन्त, जो होते हैं

सन्तुष्टः—३-१७, १२-१४, १९ सन्तोष पाया हुआ, तृप्त

संदृश्यन्ते—११-२७ (वे) दिखाई देते हैं

संनियम्य—१२-४ संयम करके, वशमें रखकर

संनिविष्टः—१५-१५ प्रवेश करके, रहा हुआ

संन्यसनात्—३-४ (बाहरी) त्यागने

संन्यस्य—३-३०, ५-१३, १२-६, १८-५७ त्यागकर, अर्पण करके

संन्यासयोगयुक्तात्मा—९-२८ अर्पणरूप संन्यास और कर्मरूप योग—अथवा सर्वसंन्यासरूपी योग—में समाहित हुआ, फलत्यागरूपी समत्वको पाया हुआ

संन्यासस्य—१८-१ संन्यासका

संन्यासम्—५-१, ६-२, १८-२ सर्वथा त्यागको, कर्मोंके त्यागको, संन्यासको

संन्यासः—५-२, ६, १८-७ (कर्मोंका) त्याग, संन्यास

संन्यासिनाम्—१८-१२ संन्यासियोंका, त्यागियोंका

संन्यासी—६-१ सर्वकर्मत्यागी, संन्यासी

संन्यासेन—१८-४९ संन्यासद्वारा

सपत्नान्—११-३४ शत्रुओंको

सप्त—१०-६ सात (ऋषि-भृगु वसिष्ठ, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु)

समक्षम्—११-४२ उपस्थितिमें, सोहबतमें, जाहिरमें

समग्रम्—४-२३, ११-३० सब, सर्व, सारा, सारेको, ७-१ सम्पूर्णको, सम्पूर्णरूपमें

समग्रान्—११-३० सब (को)

समचित्तत्वम्—१३-९ समचित्तता, समानता, समभाव

समता—१०-५ समचित्तता, समता, बराबरीपना

समतीतानि—७-२६ बीतेहुए (को)

समतीत्य—१४-२६ लांघकर, पार करके

समत्वम्—२-४८ समानता, समता

समदर्शनः—६-२९ समान देखने-वाला, समभाव रखनेवाला

समदर्शिनः—५-१८ समान भाव रखनेवाले, समदृष्टि रखते हैं

समदुःखसुखम्—२-१५ सुख-दुःखमें सम रहनेवाले (को)

समदुःखसुखः—१२-१३, १४-२४ जिसे सुख-दुःख समान है ऐसा,

समीक्ष्य—१-२७ ध्यानपूर्वक देखकर
समुद्रम्—२-७०, ११-२८ सागरको
समुद्धर्ता—१२-७ बचानेवाला, उद्धार करनेवाला
समुपस्थितम्—१-२८ इकट्ठा हुए (को), २-२ उत्पन्न हुआ, उपस्थित हुआ
समुपाश्रित—१८-५२ आश्रय लेकर रहनेवाला, आश्रय लिया हुआ
समृद्धवेगा.—११-२६, २९ बढते जाते वेगवाले (होकर), बढते हुए वेगमे
समृद्धम्—११-३३ समृद्धिवाला, धन-धान्यसे भरा हुआ
समे—२-३८ समान (दो)
समौ—५-२७ समान, समभावी, एक समान (दो)
सपत्—१६-५ सपत्ति
सपदम्—१६-३, ४, ५ सपत्तिको
सपद्यते—१३-३० होती है
सपश्यन्—३-२० देखकर,—का विचार करते हुए
सप्रकीर्तित—१८-४ वर्णन किया गया है, कहा गया है
सप्रतिष्ठा—१५-३ पाया, नींव
सप्रवृत्तानि—१४-२२ प्राप्त होनेपर, आ जानेपर
सप्रेक्ष्य—६-१३ अच्छी तरह निगाह डालकर, नजर टिकाकर, देखकर
सप्लुतोदके—२-४६ सरोवरमे (से)
सबन्धिन—१-३४ सगे-सबधी
सभवन्ति—१४-४ (वे) उत्पन्न होते हैं
सभव.—१४-३ उत्पत्ति
सभवामि—४-६, ८ (मैं) जन्म लेता हू
सभावितस्य—२-३४ प्रतिष्ठितका, मान पाये हुएका (को)
समोहम्—७-२७ मूर्च्छाको
समोह—२-६३ अविवेक, मूढता
समोहात्—२-६३ समोहसे, मूढतासे
सम्यक्—५-४, ८-१०, ९-३० भली प्रकारसे
सरसाम्—१०-२४ सरोवरोंमे
सर्ग—५-१९ ससार, जन्म
सर्गाणाम्—१०-३२ सृष्टियोमें
सर्गे—७-२७ सृष्टिमे, जगतमे, १४-२ उत्पत्तिकालमे
सर्पाणाम्—१०-२८ सर्पोमे
सर्व—११-४० हे सर्वरूप (ईश्वर)
सर्वकर्मणाम्—१८-१३ सब कर्मोंकी, कर्ममात्रकी
सर्वकर्मफलत्यागम्—१२-११, १८-२ सब कर्मोंके फल-

त्यागका

सर्वकर्माणि—३-२६ सारे कर्म, ४-३७, ५-१३, १८-५६, ५७ सब कर्मोंको

सर्वकामेभ्यः—६-१८ सब कामनाओंसे

सर्वकिल्बिषैः—३-१३ सब पापोंसे

सर्वक्षेत्रेषु—१३-२ सब शारीरिक क्षेत्रोंमें

सर्वगतम्—३-१५; १३-३२ सबमें व्याप्त, सर्वव्यापी

सर्वगतः—२-२४ सबमें व्याप्त, सर्वव्यापी

सर्वगुह्यतमम्—१८-६४ सबसे गुह्य, सब गुह्योंमें गुह्यतम

सर्वज्ञानविमूढान्—३-३२ ज्ञानहीन मूर्खोंको

सर्वतः—२-४६ सब प्रकार, ११-१६, १७, ४०, १३-१३ सबसे, सब तरफसे, चारों ओर

सर्वतःपाणिपादम्—१३-१३ सब ओर हाथ-पैरवाला

सर्वतःश्रुतिमत्—१३-१३ सब ओर कानवाला

सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्—१३-१३ जिसके सब तरफ आंख, मुंह और सिर हैं वह

सर्वत्र—२-५७, ६-२९, ३०, ३२, १२-४, १३-२८, ३२; १८-४९ सब जगह

सर्वत्रगम्—१२-३ सर्वव्यापीको, सब जगह जानेवालेको

सर्वत्रगः—९-६ सब जगह जानेवाला, सब जगह विचरण करनेवाला

सर्वथा—६-३१, १३-२३ सब प्रकारसे, चाहे जैसा

सर्वदुर्गाणि—१८-५८ सब संकटोंको, (संकटरूपी) पहाड़ोंको

सर्वदुःखानाम्—२-६५ सब दुःखोंका

सर्वदेहिनाम्—१४-८ सब प्राणियोंका, देहधारीमात्रका

सर्वद्वाराणि—८-१२ सब द्वारोंको, इंद्रियोंको

सर्वद्वारेषु—१४-११ सब द्वारोंमें, इंद्रियोंमें

सर्वधर्मान्—१८-६६ सब धर्मोंको

सर्वपापेभ्यः—१८-६६ सब पापोंसे

सर्वपापैः—१०-३ सब पापोंसे

सर्वभावेन—१५-१९; १८-६२ पूर्णभावसे, समभावसे

सर्वभूतस्थम्—६-२९ भूतमात्रमें स्थित

सर्वभूतस्थितम्—६-३१ भूतमात्रमें रहे हुएको

सर्वभूतहिते—५-२५, १२-४

सवादम्—१८-७०, ७४, ७६ सवादको

सवृत्त—११-५१ शात हुआ—हुआ हू

सशयम्—४-४२, ६-३९ सशयको

सशयस्य—६-३९ सशयका

सशय—८-५, १०-७, १२-८ शका, सशय

सशयात्मन—४-४० शकाशीलका

सशयात्मा—४-४० शकाशील

सशितव्रता—४-२८ तीक्ष्ण व्रत करनेवाले, कठिन व्रतधारी

सशुद्धकिल्विष—६-४५ जिसके पाप धुल गये हैं वह, पापमुक्त

सश्रिता—१६-१८—का आश्रय लेनेवाले

ससारेषु—१६-१९ ससारमे, लोकमे

ससिद्धिम्—३-२०, ८-१५; १८-४५ ज्ञानको, मोक्षको, परम सिद्धिको

ससिद्धौ—६-४३ मोक्षके लिए, परम सिद्धिके लिए

सस्तभ्य—३-४३ स्थिर करके वशमे करके

सस्पर्शजा—५-२२ विषयेन्द्रिय-सबधसे होनेवाले, विषयजन्य

सस्मृत्य—१८-७६, ७७ याद करके

सहरते—२-५८ (वह) समेट लेता है, इकट्ठा कर लेता है

स—१-१३, १९ वह

सा—२-६९, ६-१९, ११-१२, १७-२, १८-३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५ वह (स्त्रीलिंग)

साक्षात्—१८-७५ स्वय, प्रत्यक्ष

साक्षी—९-१८ कृताकृतको देखनेवाला, साक्षी

सागर—१०-२४ समुद्र

सात्त्विकप्रिया—१७-८ सात्त्विक लोगोको प्रिय

सात्त्विकम्—१४-१६, १७-२०, १८-२०, २३, ३७ सात्त्विक, सत्त्वगुणयुक्त

सात्त्विक—१७-११, १८-९, २६ सात्त्विक

सात्त्विका—७-१२ सात्त्विक, सत्त्वगुणात्मक, १७-४ सात्त्विक लोग

सात्त्विकी—१७-२, १८-३०, ३३ सात्त्विक, सत्त्वगुणात्मक

सात्यकि—१-१७ एक यादव, युयुधान, श्रीकृष्णका सारथि

साधर्म्यम्—१४-२ समान भावको, सरूपताको

साधिभूताधिदैवम्—७-३० अधिभूत—पचमहाभूतो और अधिदैव—देवसहितको

साधियज्ञम्—७-३० अधियज्ञवालेको

सुकृतस्य—१४-१६ सत्कर्मका, अच्छी तरह किये हुएका
सुकृतम्—५-१५ पुण्य
सुकृतिन —७-१६ अच्छे काम करनेवाले, सदाचारी
सुखदु खे—२-३८ सुख और दु खमे
सुखदु खसंज्ञै —१५-५ सुख-दु ख नामसे पहचाने जानेवाले (के द्वारा)
सुखदु खानाम्—१३-२० सुख-दु खोका
सुखम्—२-६६, ४-४०, ५-२१, ६-२१, २७, २८, ३२, १०-४, १३-६, १६-२३, १८-३६, ३७, ३८, ३९ सुख, सुखको, ५-३ सरलतासे ५-१३ सुखसे, सुखमे
सुखसङ्गेन—१४-६ सुखके सबध-से, सुखके साथ
सुखस्य—१४-२७ सुखका
सुखानि—१-३२, ३३ सुख, सुखो-को
सुखिन —१-३७, २-३२ सुखी, भाग्यशाली (लोग)
सुखी—५-२३; १६-१४ सुखी
सुखे—१४-९ सुखमे
सुखेन—६-२८ सुखसे, सहजतासे, अनायास
सुखेषु—२-५६ सुखोमे
सुघोषमणिपुष्पकौ—१-१६ सुघोष और मणिपुष्पक नामक नकुल और सहदेवके शख
सुदुराचार —९-३० अत्यत दुरा-चारी
सुदुर्दर्शम्—११-५२ बहुत कठि-नाईसे देखा जा सके ऐसा, बहुत दुर्लभ दर्शनवाला
सुदुर्लभ —७-१९ कठिनाईसे मिलनेवाला, बहुत दुर्लभ
सुदुष्करम्—६-३४ अत्यन्त कठि-नाईसे किया जा सकने योग्य
सुनिश्चितम्—५-१ ठीक निश्चय-पूर्वक, अच्छी तरहसे निश्चय करके
सुरगणा —१०-२ देवोके सघ, देव
सुरसघा —११-२१ देवोके समु-दाय, सघ
सुराणाम्—२-८ देवोका
सुरेन्द्रलोकम्—९-२० स्वर्गको, देवलोकको, इन्द्रलोकको
सुलभ —८-१४ सहज, मिलने-जैसा
सुविरूढमूलम्—१५-३ गहराईतक गई हुई जडोवाले
सुसुखम्—९-२ सुख देनेवाला, सहल
सुहृत्—९-१८ हितेच्छु, मित्र
सुहृदम्—५-२९ हित करनेवाले (को)

स्त्रिय—९-३२ स्त्रियां
स्त्रीषु—१-४१ स्त्रियोंमें
स्थाणुः—२-२४ स्थिर
स्थानम्—५-५, ८-२८; ९-१८, १८-६२ पद, स्थिति, स्थान
स्थाने—११-३६ योग्य है, उचित स्थानपर है
स्थापय—१-२१ खड़ा रखो
स्थापयित्वा—१-२४ स्थापन करके, खड़ा रखकर
स्थावरजङ्गमम्—१३-२६ अचर और चर, स्थावर-जंगम
स्थावराणाम्—१०-२५ स्थिर वस्तुओंमें, स्थावरोंमें
स्थास्यति—२-५३ (वह) स्थिर होगा—रहेगा
स्थितप्रज्ञस्य—२-५४ स्थिर बुद्धि-वालेकी, स्थितप्रज्ञकी
स्थितप्रज्ञ—२-५५ स्थितप्रज्ञ
स्थितधी—२-५४, ५६ स्थिर बुद्धिवाला
स्थितम्—५-१९, १३-१६, १५-१० रहा हुआ, स्थिर
स्थित—५-२०, ६-१०, १४, २१, २२, १०-४२, १८-७३ रहा हुआ, स्थिर
स्थितान्—१-२६ खड़े हुए (को)
स्थिता—५-१९ स्थिर, स्थिर हुए हैं
स्थितिम्—६-३३ स्थितिको
स्थिति—२-७२ निष्ठा, स्थिति, १७-२७ दृढता, स्थिरता, स्थिर भावना
स्थितौ—१-१४ बैठे हुए (दो)
स्थित्वा—२-७२ रहकर, स्थिर होकर
स्थिरबुद्धिः—५-२० स्थिर बुद्धि-वाला
स्थिरम्—६-११, १२-९ स्थिर अचल
स्थिरमति—१२-१९ स्थिर बुद्धि-वाला
स्थिर—६-१३ स्थिर
स्थिराम्—६-३३ स्थिर (को)
स्थिरा—१७-८ पौष्टिक
स्थैर्यम्—१३-७ स्थिरता
स्निग्धा—१७-८ स्निग्ध, चिकना-हटवाले, चिकने
स्पर्शनम्—१५-९ स्पर्शेन्द्रिय, त्वचा
स्पर्शान—५-२७ इन्द्रियोंके विषयोंवाले स्पर्शको, विषय-भोगोंको
स्पृशन्—५-८ छूता हुआ, स्पर्श करता हुआ
स्पृहा—४-१४, १४-१२ तृष्णा, लालसा, इच्छा
स्म—२-३ निषेधवाची 'मा' के साथ आनेवाला अतिरिक्त

पूर्वसंस्कारसे उत्पन्न, स्वभाव-जन्य, स्वाभाविक

स्वभावजा—१७-२ स्वभावके साथ जन्मी हुई, स्वभाव-सहज, स्वभावत

स्वभावजेन—१८-६० स्वभाव-जन्य (द्वारा)

स्वभावनियतम्—१८-४७ स्व-भावसिद्ध, स्वभावानुरूप

स्वभावप्रभवै—१८-४१ स्वभाव-जन्य—प्रकृति से उत्पन्न ए (गुणोके द्वारा)

स्वभाव—५-१४, ८-३ आत्मा-का मूल स्वरूप, प्रकृति

स्वम्—६-१३ अपना

स्वयम्—४-३८, १०-१३, १५, १८-७५ अपने आप, खुद

स्वया—७-२० अपनी (प्रकृति द्वारा)

स्वर्गतिम्—९-२० स्वर्गकी गति-को, स्वर्गप्राप्तिको

स्वर्गद्वारम्—२-३२ स्वर्गका दरवाजा

स्वर्गपरा—२-४३ स्वर्गको श्रेष्ठ माननेवाले

स्वर्गम्—२-३७ स्वर्गको

स्वर्गलोकम्—९ २१ स्वर्गलोकको

स्वल्पम्—२-४० थोडा, यत्किं-चित् पालन)

स्वस्ति—११-२१ भला हो, कल्याण हो

स्वस्थ—१४-२४ आत्मस्थ, स्वस्थ

स्वस्या.—३-३३ अपनी

स्वाध्यायज्ञानयज्ञा—४-२८ वेदा-भ्यास और शास्त्रज्ञानरूपी यज्ञ करनेवाले, स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञ करनेवाले

स्वाध्याय—१६-१ वेदादिका अभ्यास, स्वाध्याय

स्वाध्यायाभ्यसनम्—१७-१५ वेदोका, धर्मग्रन्थोका अभ्यास

स्वाम्—४-६, ९-८ अपनी (प्रकृति) को

स्वे—१८-४५ अपनेमे

स्वेन—१८-६० अपने (द्वारा)

ह

ह—२-९ एक उपपद है

हतम्—२-१९ मारे हुए (को)

हत—२-३७, १६-१४ मारा हुआ

हतान्—११-३४ मारे हुओको

हत्वा—१-३१, ३६, ३७, २-५, ६, १८-१७ मारकर, हनन करके

हनिष्ये—१६-१४ (मैं) मारूंगा

हन्त—१०-१९ अब, अच्छा

हन्तारम्—२-१९ मारनेवाले (को)

हन्ति—२-१६, २१, १८-१७ (वह) मारता है, हनन करता है
हन्तुम्—१-३५, ३७, ४५ मारनेको
हन्यते—२-१६, २० (वह) मारा जाता है, हनन किया जाता है
हन्यमाने—२-२० हनन होने पर, नाश होनेपर, नाश होनेसे
हन्युः—१-४६ (वे) मारें, मार डालें
हयैः—१-१४ घोडोंद्वारा
हरति—२-६७ (वह) हरण कर लेता है, खींच ले जाता है
हरन्ति—२-६० (वे) हर लेते हैं
हरिः—११-६ कृष्ण
हरेः—१८-७७ हरिका, कृष्णका
हर्षशोकान्वितः—१८-२७ हर्ष और शोकसे घिरा हुआ, हर्ष और शोकवाला
हर्षम्—१-१२ आनन्द (को) हर्ष (को)
हर्षामर्षभयोद्वेगैः—१२-१५ हर्ष, अमर्ष (क्रोध), भय और उद्वेगसे
हविः—४-२४ बलि, हवनकी वस्तु
हस्तात्—१-३० हाथसे
हस्तिनि—५-१८ हाथीमें
हानिः—२-६५ नाश
हि—१-११ इत्यादि, एक पादपूरक उपपद, सचमुच, कारण कि; 'पर' के अर्थमें भी कभी-कभी उपयोगमें आता है
हितकाम्यया—१०-१ हितेच्छासे, हितके लिए
हितम्—१८-६४ लाभ, हित
हित्वा—२-३३ छोड़कर, खोकर
हिनस्ति—१३-२८ (वह) नाश करता है, घात करता है
हिमालयः—१०-२५ हिमालय पर्वत
हिंसात्मकः—१८-२७ हिंसक स्वभाववाला, हिंसावान
हिंसाम्—१८-२५ हिंसा-पर-पीडनको
हुतम्—४-२४ होमा हुआ, ९-१६ हवन, हवनद्रव्य, १७-२८ हवन किया हुआ, यज्ञ
हृतज्ञानाः—७-२० जिनका ज्ञान हरा गया है वे
हृत्स्थम्—४-४२ हृदयमें रहे हुए
हृदयदौर्बल्यम्—२-३ हृदयकी दुर्बलता
हृदयानि—१-१९ हृदयोंको
हृदि—८-१२, १३-१७, १५-१५ हृदयमें
हृद्देशे—१८-६१ हृदयस्थानमें, हृदयमें

हृद्या—१७-८ हृदयको प्रिय, मनको प्रिय लगें ऐसे

हृषित—११-४५ आनंदित

हृषीकेश—११-३६, १८-१ हे इंद्रियोके ईश—कृष्ण

हृषीकेशम्—१-२१; २-९ हृषीकेशको

हृषीकेश—१-१५, २४, २-१० कृष्ण

हृष्टरोमा—११-१४ रोमांचित

हृष्यति—१२-१७ (वह) हर्षित होता है

हृष्यामि—१८-७६, ७७ (मैं) हर्षित होता हू, प्रसन्न होता हू

हे—११-४१ हे, संबोधनार्थक उपपद

हेतवः—१८-१५ कारण, हेतु

हेतुना—९-१० हेतुसे, कारणसे

हेतुमद्भि—१३-४ कार्यकारण-के हेतुवाले (के द्वारा), युक्ति-वाले (के द्वारा), उदाहरण तर्क (के द्वारा)

हेतु—१३-२० कारण, हेतु

हेतो.—१-३५ कारणसे, हेतुसे

ह्रियते—६-४४ (वह) खिंचता है

ह्री—१६-२ अकार्यमे लज्जा, मर्यादा, व्रीडा

गी ता - मा ता

[गीता-सबधी विविध विचार]

गी ता - मा ता

: १

गीता-माता

गीता शास्त्रोका दोहन है। मैंने कही पढा था कि सारे उपनिषदोका निचोड उसके ७०० श्लोकोमे जाता है। इसलिए मैंने निश्चय किया कि कुछ न हो सके तो भी गीताका ज्ञान प्राप्त कर लू। आज गीता मेरे लिए केवल बाइबिल नही है, केवल कुरान नही है, मेरे लिए वह माता हो गई है। मुझे जन्म देनेवाली माता तो चली गई, पर सकटके समय गीता-माता के पास जाना मैं सीख गया हू। मैंने देखा है कि जो कोई इस माताकी शरण जाता है, उसे ज्ञानामृतसे वह तृप्त करती है।

कुछ लोग कहते हैं कि गीता तो महा गूढ ग्रथ है। स्व० लोकमान्य तिलकने अनेक ग्रथोका मनन करके पडितकी दृष्टिसे उसका अभ्यास किया और उसके गूढ अर्थोंको वे प्रकाशमे लाये। उसपर एक महाभाष्य-की रचना भी की। तिलक महाराजके लिए यह गूढ ग्रथ था, पर हमारे जैसे साधारण मनुष्यके लिए वह गूढ नही है। सारी गीताका वाचन आपको कठिन मालूम हो तो आप पहले केवल तीन अध्याय पढ लें। गीताका सब सार इन तीन अध्यायोमे आ जाता है। बाकीके अध्यायोमे वही बात अधिक विस्तारसे और अनेक दृष्टियोसे सिद्ध की गई है। यह भी किसीको कठिन मालूम हो तो इन तीन अध्यायोमेसे कुछ ऐसे श्लोक छाटे जा सकते हैं[1] जिनमे गीताका निचोड आ जाता है। तीन जगहोपर

---

[1] गाधीजी ने स्वयं चुने हुए श्लोकोंका एक सग्रह 'गीता प्रवेशिका'-के नामसे किया था, जो इस पुस्तकमें अन्यत्र दिया गया है।

तो गीतामें यह भी आता है कि सब धर्मोंको छोड़कर तू केवल मेरी ही शरण ले। इससे अधिक सरल और सादा उपदेश क्या हो सकता है? जो मनुष्य गीतामेंसे अपने लिए आश्वासन प्राप्त करना चाहे तो उसे उसमेंसे वह पूरा-पूरा मिल जाता है। जो मनुष्य गीताका भक्त होता है, उसके लिए निराशाकी कोई जगह नहीं है, वह हमेशा आनंदमें रहता है।

पर इसके लिए बुद्धिवाद नहीं, बल्कि अव्यभिचारिणी भक्ति चाहिए। अबतक मैंने एक भी ऐसे आदमीको नहीं जाना जिसने गीताका अव्यभिचारिणी भक्तिसे सेवन किया हो और जिसे गीतासे आश्वासन न मिला हो। तुम विद्यार्थी लोग कहीं परीक्षामें फेल हो जाते हो तो निराशाके सागरमें डूब जाते हो। गीता निराश होनेवालोंको पुरुषार्थ सिखाती है, आलस्य और व्यभिचारका त्याग बताती है। एक वस्तुका ध्यान करना, दूसरी चीज बोलना और तीसरीको सुनना इसको व्यभिचार कहते हैं। गीता सिखाती है कि पास हो या फेल, दोनों चीजें समान हैं। मनुष्यको केवल प्रयत्न करनेका अधिकार है, फलपर कोई अधिकार नहीं। यह आश्वासन मुझे कोई नहीं दे सकता, वह तो अनन्य भक्तिसे ही प्राप्त होता है। सत्याग्रहीकी हैसियतसे मैं कह सकता हूं कि इसमेंसे नित्य ही मुझे कुछ-न-कुछ नई वस्तु मिलती रहती है। कोई मुझे कहेगा कि यह तुम्हारी मूर्खता है तो मैं उसे कहूंगा कि मैं अपनी इस मूर्खतापर अटल रहूंगा। इसलिए सब विद्यार्थियोंसे मैं कहूंगा कि सवेरे उठकर तुम इसका अभ्यास करो। तुलसीदासका मैं भक्त हूं; पर तुम लोगोंको इस समय मैं तुलसीदास नहीं सुझाता हूं। विद्यार्थीकी हैसियतसे तुम गीताका ही अभ्यास करो, पर द्वेष-भावसे नहीं, भक्ति-भावसे। तुम उसमें भक्ति-पूर्वक प्रवेश करोगे तो जो तुम्हें चाहिए वह उसमेंसे मिलेगा। अठारहों अध्याय कंठ करना कोई खेल नहीं है, पर करने जैसी चीज तो है ही। तुम एक बार उसका आश्रय लोगे तो देखोगे कि दिनोंदिन उसमें तुम्हारा अनुराग बढ़ेगा। फिर तुम कारागृहमें हो या जंगलमें, आकाशमें हो या अंधेरी कोठरीमें, गीताका रटन तो निरंतर तुम्हारे हृदयमें चलता ही रहेगा और उसमेंसे तुम्हें आश्वासन मिलेगा। तुमसे

यह आधार तो कोई छीन ही नही सकता। इसके रटनमें जिसका प्राण जायगा उसके लिए तो वह सर्वस्व ही है, केवल निर्वाण नही, बल्कि ब्रह्म-निर्वाण है।

२

गीतासे प्रथम परिचय

विलायतमे रहते हुए कोई एक साल हुआ होगा, इस बीच दो थियोसाफिस्ट मित्रोंसे मुलाकात हुई। दोनो सगे भाई थे और अविवाहित थे। उन्होने मुझसे गीताकी बात चलाई। उन दिनो वे एडविन आरनॉल्डकृत गीताके अग्रेजी-अनुवाद को पढ रहे थे, पर मुझे उन्होंने अपने साथ संस्कृतमे गीता पढनेके लिए कहा। मैं लज्जित हुआ, क्योकि मैंने तो गीता न सस्कृतमे, न भाषामे ही पढी थी। मुझे उनसे यह बात झेंपते हुए कहनी पडी, पर साथ ही यह भी कहा कि मैं आपके साथ पढने के लिए तैयार हू। यो तो मेरा सस्कृत-ज्ञान नहीके बराबर है, फिर भी मैं इतना समझ सकूगा कि अनुवाद कही गडबड होगा तो वह बता सकू। इस तरह इन भाइयोके साथ मेरा गीता-वाचन आरभ हुआ। दूसरे अध्यायके अन्तिम श्लोकोमे :

ध्यायतो विषयान्पुस. सगस्तेषूपजायते।
सगात्सजायते काम कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति समोह समोहात्स्मृतिविभ्रम।
स्मृतिभ्रशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥[1]

इन श्लोकोका मेरे दिलपर गहरा असर हुआ। बस कानोंमे उनकी ध्वनि दिन-रात गूजा करती। तब मुझे प्रतीत हुआ कि भगवद्गीता तो अमूल्य

---

[1] विषयका चिंतन करनेसे, पहले तो उसके साथ सग पैदा होता है और संगसे कामकी उत्पत्ति होती है। कामनाके पीछे-पीछे क्रोध आता है। फिर क्रोधसे समोह, समोहसे स्मृतिभ्रम और स्मृतिभ्रमसे बुद्धिका नाश होता है और अतमें पुरुष खुद ही नष्ट हो जाता है।

ग्रंथ है। यह धारणा दिन-दिन अधिक दृढ़ होती गई, और अब तो तत्त्वज्ञानके लिए मैं इसे सर्वोत्तम ग्रंथ मानता हूं। निराशाके समय इस ग्रंथने मेरी अमूल्य सहायता की है। यों इसके लगभग तमाम अंग्रेजी अनुवाद मैं पढ़ गया हूं, परन्तु एडविन आर्नोल्डका अनुवाद सबमें श्रेष्ठ मालूम होता है। उन्होंने मूल ग्रंथके भावोंकी रक्षा की है और तिसपर भी वह अनुवाद जैसा नहीं मालूम होता। फिर भी यह नहीं कह सकते कि इस समय मैंने भगवद्गीताका अच्छा अध्ययन कर लिया है। उसका रोजमर्रा पाठ तो वर्षों बाद शुरू हुआ।

'आत्मकथा,' नवां संस्करण
पृष्ठ ७१

: २ :

गीताका अध्ययन

गीताका अध्ययन शुरू किया। एक छोटा-सा 'जिज्ञासुमंडल' भी बनाया गया और नियम-पूर्वक अध्ययन आरंभ हुआ। गीताजीके प्रति मेरा प्रेम और श्रद्धा तो पहले हीसे थी। अब उसका गहराई के साथ रहस्य समझनेकी आवश्यकता दिखाई दी। मेरे पास एक-दो अनुवाद रखे थे। उनकी सहायतासे मूल संस्कृत समझनेका प्रयत्न किया और नित्य एक या दो श्लोक कंठ करनेका निश्चय किया।

सुबहका दतौन और स्नानका समय मैं गीताजी कंठ करनेमें लगाता। दतौनमें १५ और स्नानमें २० मिनट लगते। दतौन अंग्रेजी रिवाजके मुताबिक खड़े-खड़े करता। सामने दीवारपर गीताजीके श्लोक लिखकर चिपका देता और उन्हें देख-देखकर रटता रहता। इस तरह रटे हुए श्लोक स्नान करने तक पक्के हो जाते। बीचमें पिछले श्लोकोंको भी दुहरा जाता। इस प्रकार मुझे याद पड़ता है कि १३ अध्याय तक गीता कण्ठ कर ली थी, पर बादमें कामकी झंझटें बढ़ गईं। सत्याग्रहका जन्म हो गया और उस बालक की परवरिशका भार मुझपर आ पड़ा, जिससे विचार करनेका समय भी

उसके लालन-पालनमें बीता और कह सकते हैं कि अब भी बीत रहा है।

गीता-पाठका असर मेरे सहाध्यायियोपर तो जो कुछ पडा हो वह वही बता सकते हैं, किन्तु मेरे लिए तो गीता आचारकी एक प्रौढ मार्गदर्शिका बन गई है। वह मेरा धार्मिक कोष हो गई है। अपरिचित अंग्रेजी शब्दके हिज्जे या अर्थको देखनेके लिए जिस तरह मैं अंग्रेजी कोषको खोलता, उसी तरह आचार-सबधी कठिनाइयो और उसकी अटपटी गुत्थियोको गीताजीके द्वारा सुलझाता। उसके अपरिग्रह, समभाव इत्यादि शब्दोने मुझे गिरफ्तार कर लिया। यही धुन रहने लगी कि समभाव कैसे प्राप्त करू, कैसे उसका पालन करूँ? जो अधिकारी हमारा अपमान करे, जो रिश्वतखोर हैं, रास्ते चलते जो विरोध करते हैं, जो कलके साथी है, उनमें और उन सज्जनोमे जिन्होंने हमपर भारी उपकार किया है, क्या कुछ भेद नही है? अपरिग्रहका पालन किस तरह मुमकिन है? क्या यह हमारी देह ही हमारे लिए कम परिग्रह है? स्त्री-पुत्र आदि यदि परिग्रह नही तो फिर क्या है? क्या पुस्तकोसे भरी इन अलमारियोमे आग लगा दू? पर यह तो घर जलाकर तीर्थ करना हुआ। अन्दरसे तुरत उत्तर मिला, "हा, घरबारको खाक किए बिना तीर्थ नही किया जा सकता।" इसमे अंग्रेजी कानूनके अध्ययनने मेरी सहायता की। स्नेल-रचित कानूनके सिद्धान्तोकी चर्चा याद आई। ट्रस्टी शब्दका अर्थ, गीताजीके अध्ययनकी बदौलत अच्छी तरह समझमे आया। कानूनशास्त्रके प्रति मनमे आदर बढा, उसके अदर भी मुझे धर्मका तत्त्व दिखाई पडा। ट्रस्टी यो करोडोकी सपत्ति रखते हैं, फिरभी उसकी एक पाईपर उनका अधिकार नही होता। इसी तरह मुमुक्षुको अपना आचरण रखना चाहिए, यह पाठ मैंने गीताजीसे सीखा। अपरिग्रही होनेके लिए समभाव रखनेके लिए हेतुका और हृदयका परिवर्त्तन आवश्यक है, यह बात मुझे दीपककी तरह स्पष्ट दिखाई देने लगी। बस, तुरत रेवाशकरभाईको लिखा कि बीमेकी पालिसी बद कर दीजिए। कुछ रुपया वापस मिल जाय तो ठीक, नही तो खैर। बाल-बच्चो और गृहिणीकी रक्षा वह ईश्वर करेगा जिसने उनको और हमको पैदा किया है। यह आशय मेरे उस पत्रका था। पिताके समान अपने बड़े भाईको लिखा, "आजतक मैं जो कुछ बचाता रहा, आपके अर्पण करता

रहा, अब मेरी आशा छोड़ दीजिए। अब जो कुछ बच रहेगा, वह यहींके सार्वजनिक कामोंमें लगेगा।"

'आत्मकथा', नया संस्करण }
पृष्ठ २९५ }

: ४ :

गीता-ध्यान

कल्पनाका चित्र कुछ भी खींचा हो और उसका ध्यान किया हो तो इसमें दोष नहीं देखता। लेकिन गीतामाताके ध्यानसे सन्तोष होता हो तो और क्या चाहिए? गीताका ध्यान दो तरहसे हो सकता है. एक तो उसे माताके रूपमें माना है। इसलिए सामने माताकी तस्वीरकी जरूरत रहती हो तो या तो अपनी माँका ही, यदि वह मर गई हो तो, कामधेनुका आरोपण करके गीताके रूपमें मानकर उसका ध्यान करना चाहिए, या कोई भी काल्पनिक चित्र मनमें खींच लिया जाय। उसे गोमाताका रूप दिया हो तो भी काम चल सकता है। दूसरी तरह हो सके तो इसे मैं ज्यादा अच्छा समझता हूं। हम हमेशा जो अध्याय बोलते हों, उसमेंसे या किसी भी अध्यायके किसी भी श्लोक या किसी शब्दका ध्यान करना ही उसका चिन्तन करना है। गीतामें जितने शब्द हैं उतने ही उनके आभूषण हैं और प्रियजनोंके आभूषणोंका ध्यान करना भी उन्हींका ध्यान करनेके बराबर है। यही बात गीताकी है। लेकिन इसके सिवा किसीको और कोई ढंग मिल जाय तो भले ही वह उस ढंगसे ध्यान करे। जितने दिमाग उतनी ही विविधता होती है। कोई दो व्यक्ति एक ही तरीकेसे एक ही चीजका ध्यान नहीं करते। दोनोंके वर्णन और कल्पनामें कुछ-न-कुछ फर्क तो रहेगा ही।

छठे अध्यायके अनुसार जरा-सी भी की हुई साधना बेकार नहीं जाती, और जहांसे रह गई हो वहांसे दूसरे जन्ममें आगे चलती है। इसी तरह जिसमें कल्याणमार्गकी तरफ मुड़नेकी इच्छा तो जरूर हो मगर अमल करनेकी शक्ति न हो, उसे ऐसा मौका जरूर मिलेगा, जिससे दूसरे जन्ममें उसकी

यह इच्छा दृढ हो। इस बारेमे भी मेरे मनमे कोई शका नही है। मगर इसका यह अर्थ न किया जाय कि तब तो हम इस जन्ममे शिथिल रहे, तो भी काम चलेगा। ऐसी इच्छा इच्छा नही है, या वह बौद्धिक है, मगर हार्दिक नही है। बौद्धिक इच्छाके लिए कोई स्थान ही नही है। वह मरनेके बाद नही रहती, पर जो इच्छा दिलमे पैठ जाती है उसके पीछे प्रयत्न तो होना ही चाहिए। मगर कई कारणोमे और शरीरकी कमजोरीसे सभव है कि यह इच्छा इस जन्ममे पूरी न हो और इस तरहका अनुभव हमे रोज होता है। मगर इस इच्छाको लेकर जीव देहको छोडता है और दूसरे जन्ममे इस जन्मकी उपाधिया कम होकर यह इच्छा फलती है या ज्यादा मजबूत तो होती ही है। इस तरह कल्याणकृत लगातार आगे बढता ही रहता है।

ज्ञानेश्वर महाराजने निवृत्तिनाथके जीते हुए उनका ध्यान धरा हो तो भले ही धरा हो, लेकिन इतना होनेपर भी मेरी पक्की राय है कि वह हमारे नकल करने लायक नही है। जिसका ध्यान करना है वह पूर्णता को पाया हुआ व्यक्ति होना चाहिए। जीवित व्यक्तिके लिए इस तरहका ख्याल करना बिलकुल बेजा और गैरजरूरी है। किन्तु यह हो सकता है कि ज्ञानेश्वर महाराजने शरीरधारी निवृत्तिनाथका ध्यान किया हो। मगर हम इस झगडेमे कहा पडें? और जब जीवित मूर्तिका ध्यान करनेका सवाल उठता है तब कल्पनाकी मूर्तिकी गुजायश नही रहती। और इसका उल्लेख करके जवाब दिया हो तो इस जवाबसे बुद्धिभ्रंश होना सभव है।

पहले अध्यायमे जो नाम दिये हैं, वे सब नाम, मेरी रायमे, व्यक्तिवाचक होनेके बजाय गुणवाचक ज्यादा है। दैवी और आसुरी वृत्तियोके बीचकी लडाईका बयान करते हुए कविने वृत्तियोको मूर्तिमान बनाया है। इस कल्पनामे इस बातसे इनकार नही किया गया है कि पाडवो और कौरवोके बीच हस्तिनापुरके पास सचमुच युद्ध हुआ होगा। मेरी ऐसी कल्पना है कि उस जमानेका कोई दृष्टान्त लेकर कविने इस महान ग्रथकी रचना की है। इसमे भूल हो सकती है, या ये सब नाम ऐतिहासिक हो तो ऐतिहासिक आरभके लिए ये नाम देना बेजा भी नही माना जा सकता। विषय-

विचारके लिए पहला अध्याय जरूरी है इसलिए गीता-पाठके वक्त उसे पढ़ लेना भी जरूरी है।

'महादेवभाईनी डायरी',
पहला भाग, पृष्ठ २२३
१८ जून, १९३२

... ...

वह दिन याद आता है जब मि० बेकर मुझे वेलिंग्टन कन्वेन्शनमें ईसाई बनानेको ले गये। वे हमेशा मेरे साथ चर्चा करते थे। मैं उन्हें कहता कि आप मुझमें श्रद्धा जाग्रत कीजिए। जो भी अच्छा असर आप मुझ पर डालना चाहते हों, वह डालने देनेके लिए मैं तैयार हूं। इसलिए उन्होंने कहा कि वेलिंग्टन कन्वेन्शनमें चलो। वहां समर्थ लोग आयेंगे। आप उनसे मिलेंगे तो आपको विश्वास हुए बिना रहेगा ही नहीं। सारे डब्बे में गोरे बैठे थे और मैं अकेला ऊपरके बर्थपर दबा हुआ बैठा था। वे लोग कहने लगे, "देखिये, हिक्स नदी आई, भव्य प्रदेश है। देखिये, सूर्योदयके दर्शन तो कीजिये।" मगर मैं उतरता ही न था। मैं तो ११वें अध्यायका पाठ कर रहा था। बेकरने मुझसे पूछा, "क्या पढ रहे हैं?" मैंने कहा, "भगवद्गीता।" उन्हें लगा होगा कि कैसा मूर्ख है कि बाइबिल नहीं पढ़ता। मगर क्या करते? उन्हें मुझपर जबरदस्ती तो करनी न थी। कन्वेन्शनमें मेरेलिए विशेष प्रार्थना भी हुई। मगर मैं कोरा-का-कोरा ही लौटा।

'महादेवभाईनी डायरी'
पहला भाग, पृष्ठ २२७
१९ जून, १९३२

: ५ :

गीतापर आस्था

' फिर एक 'विशालबुद्धि' पुरुष—गीताका प्रणेता उत्पन्न हुआ। उसने हिन्दू-समाजको गहरे तत्त्वज्ञानसे भरा और साथ ही हिन्दू-धर्मका ऐसा दोहन अर्पित किया कि जो मुग्ध जिज्ञासुको सहज ही समझमे आ सकता है। हिन्दू-धर्मका अध्ययन करनेकी इच्छा रखनेवाले प्रत्येक हिन्दूके लिए यह एकमात्र सुलभ ग्रंथ है और यदि अन्य सभी धर्मशास्त्र जलकर भस्म हो जाय तब भी इस अमर ग्रथके सात सौ श्लोक यह बतानेके लिए पर्याप्त होगे कि हिन्दू-धर्म क्या है और उसे जीवन मे किस प्रकार उतारा जाय। मैं सनातनी होनेका दावा करता हू, क्योकि चालीस वर्षोंसे उस ग्रथके उपदेशोको जीवनमे अक्षरश उतारनेका मैं प्रयत्न करता आया हू। गीताके मुख्य सिद्धान्तके विपरीत जो कुछ भी हो, उसे मैं हिन्दू-धर्मका विरोधी मानकर अस्वीकार करता हू। गीतामे किसी भी धर्म या धर्म-गुरुके प्रति द्वेष नही। मुझे यह कहते बडा आनद होता है कि मैंने गीताके प्रति जितना पूज्यभाव रखा है, उतने ही पूज्यभावसे मैंने बाइबिल, कुरान, जदअवस्ता और ससारके अन्य धर्म-ग्रथ पढे है। इस वाचनने गीताके प्रति मेरी श्रद्धाको दृढ बनाया है। उससे मेरी दृष्टि और उससे मेरा हिन्दू धर्म विशाल हुआ है। जैसे कि जरथुस्त, ईसा और मुहम्मदके जीवन-चरितको मैंने समझा है, वैसे ही गीताके बहुतसे वचनोपर मैंने प्रकाश डाला है। इससे इन सनातनी मित्रोने मुझे जो ताना दिया है, वह मेरे लिए तो आश्वासनका कारण बन गया है। मैं अपनेको हिन्दू कहनेमे गौरव मानता हू, क्योकि मेरे मनमे यह शब्द इतना विशाल है कि पृथ्वीके चारो कोनोके पैगबरोके प्रति यह केवल सहिष्णुता ही नही रखता, बरन् उन्हे आत्मसात् कर लेता है। इस जीवन-सहितामे कहीं भी अस्पृश्यताको स्थान हो, ऐसा मैं नही देखता। इसके विपरीत, लोह-चुबकके समान चित्ताकर्षक वाणीमे मेरी बुद्धिको स्पर्श करके और इसके भी आगे मेरे हृदयको पूर्णतया स्पर्श करके मेरे मनमे यह आस्था उत्पन्न करती है कि भूतमात्र एक रूप हैं, वे

सभी ईश्वरमेंसे निकले हैं और उसीमें विलीन हो जानेवाले हैं। भगवती गीतामाताद्वारा उपदिष्ट सनातन धर्मके अनुसार जीवनका साफल्य बाह्य आचार और कर्मकांडमें नहीं, वरन् सम्पूर्ण चित्तशुद्धिमें और शरीर, मन और आत्मा-सहित समग्र व्यक्तित्वको परब्रह्मके साथ एकाकार कर देनेमें है। गीताके इस संदेशको अपने जीवनमें ओतप्रोत करके मैं करोड़ों की मानवमेदिनीके पास गया हूं और उन्होंने मेरी बातें सुनी हैं तो मेरी राजनीतिज्ञताके कारण अथवा मेरी वाणीकी छटाके कारण नहीं, बल्कि मेरा विश्वास है कि मुझे अपना, अपने धर्मका मानकर सुनी हैं। समयके साथ-साथ मेरी यह श्रद्धा अधिकाधिक दृढ़ होती गई है कि मैं सनातन-धर्मी होनेका दावा करूं, यह चीज गलत नहीं और यदि ईश्वरकी इच्छा होगी तो वह मुझे इस दावेपर मेरी मृत्युकी मुहर लगा लेने देगा।

'महादेवभाईनी डायरी,'
भाग २, पृष्ठ ४३५
४ नवबर, १९३२

६

गीताका अर्थ

एक मित्र इस प्रकार प्रश्न करते हैं :

"गीताका संदेश क्या है? हिंसा या अहिंसा? मालूम होता है कि यह झगड़ा हमेशा ही चलता रहेगा। यह बात और है कि हम गीतामें किस संदेशको देखना चाहते हैं और उसमें से कौनसा संदेश निकालना चाहते हैं और यह दूसरी ही बात है कि उसको सीधे ही पढ़नेपर क्या छाप पड़ती है। जिसके दिलमें यह बात जम गई है कि अहिंसा-तत्त्व ही जीवन-संदेश है, उसके लिए तो यह प्रश्न गौण है। वह तो यही कहेगा कि गीतामेंसे अहिंसा निकलती हो तो मुझे वह ग्राह्य है। इतने भव्य ग्रंथमेंसे अहिंसा जैसा भव्य धार्मिक सिद्धान्त ही निकलना चाहिए; किन्तु

यदि न निकलता हो तो गीताको भी रहने दीजिए। उसको आदरसे पूजेंगे, लेकिन उसे प्रमाण ग्रथ नही मानेंगे।

"प्रथम अध्यायको पढनेपर यही प्रतीत होता है कि अहिंसा-वृत्तिसे प्रेरित अर्जुन अशस्त्र होकर कौरवोके हाथो मरनेको तैयार है। हिंसासे होनेवाले पाप और हानि उसको निगाहमे साफ नजर आते हैं। विषादसे वह काप उठता है और कहता है

'अहो बत् महत्पाप कर्त्तुं व्यवसिता वयम्।' इसपर श्रीकृष्ण उससे कहते हैं—समझदार होकर भी यह क्या बोलते हो ? कोई किसीको न मारता है, न कोई मरता ही है। आत्मा अमर है और शरीरका नाश तो होगा ही। इसलिए इस धर्म-प्राप्त युद्धको लड लो। जय क्या और पराजय क्या ? केवल अपना कर्तव्य पूरा करो।

"११वें अध्यायमे भी उसे विश्वरूप दिखाकर भगवान् श्रीकृष्ण यही कहते हैं।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्त्तुमिहो प्रवृत्त।

× × ×

मया हतास्त्व जहि मा व्यथिष्ठा।

"ईश्वरकी दृष्टिमे हिंसा और अहिंसा दोनो समान ही है, लेकिन मनुष्यके लिए ईश्वरका सदेश क्या हो सकता है ?"

'युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।'

यह क्या ? गीताका सदेश यदि अहिंसा हो तो १ और ११ अध्याय सुसम्बद्ध नही मालूम होते। वे उसके पोषक तो हैं ही नही। ऐसी शकाओका समाधान कौन करे ?

"कामकी भीडमेसे कुछ समय निकालकर आप इसका जवाब दें तो कितना अच्छा हो !"

ऐसे प्रश्न तो हुआ ही करेंगे। जिसने कुछ अध्ययन किया है उसे उनका यथाशक्ति जवाब भी देना होगा, किन्तु इनका समाधान करनेपर भी आखिर मुझे यह तो कहना ही पडेगा कि मनुष्य वही करेगा जो उसका हृदय उसे करनेको कहेगा। प्रथम हृदय है और फिर बुद्धि। प्रथम

सिद्धात और फिर प्रमाण। प्रथम स्फुरण और फिर उसके अनुकूल तर्क। प्रथम कर्म और फिर बुद्धि। इसीलिए बुद्धि कर्मानुसारिणी कही गई है। मनुष्य जो कुछ भी करता है या करना चाहता है उसका समर्थन करनेके लिए प्रमाण भी ढूढ निकालता है।

इसलिए मैं समझता हू कि मेरा गीताका अर्थ सबके अनुकूल न होगा। ऐसी स्थितिमे यदि मैं इतना कहू कि गीताके मेरे अर्थपर मैं किस तरह पहुचा और धर्मशास्त्रियोंके अर्थ निकालनेमे मैंने किन-किन सिद्धान्तोको मान्य रखा है तो यही बस होगा। "परिणाम चाहे कुछ आवे, मुझे तो युद्ध करना चाहिए। जो शत्रु मरने योग्य है, वे तो स्वयं ही मरे हुए है। मुझे तो उनको मारनेमे मात्र निमित्त बनना है।"

१८८६के सालमे गीताजीसे मेरा प्रथम परिचय हुआ। उस समय मेरी उम्र २० सालकी थी। मैं अहिंसाधर्मको बहुत ही थोडा समझता था। शत्रुको भी प्रेमसे जीतना चाहिए, यह मैं गुजराती कवि शामल भट्टके इस छप्पयसे "पाणी आपे ने खाय भलु भोजन तो दीजे" सीखा था। इसमे जो सत्य है वह मेरे हृदयमे अच्छी तरह बैठ गया था, किन्तु उस समय मुझे उसमेसे जीव-दयाकी स्फुरणा नही हुई थी। इसके पहले मैं देश हीमे मासाहार कर चुका था। मैं मानता था कि सर्पादिका नाश करना धर्म है। मुझे याद आता है कि मैंने खटमल इत्यादि जीव मारे हैं। मुझे तो यह भी याद आता है कि मैंने एक बिच्छूको भी मारा था। आज यह समझा हू कि ऐसे जहरीले जीवोको भी न मारना चाहिए। उस समय मैं यह मानता था कि हमें अग्रेजोके साथ लडनेके लिए तैयारी करनी होगी। 'अग्रेज राज्य करते हैं इसमे आश्चर्य ही क्या है'—इस आशयकी एक कविता गुनगुनाया करता था। मेरा मासाहार इसी तैयारीका कारण था। विलायत जानेके पहले मेरे ऐसे विचार थे। मैं मासाहार इत्यादिसे बच गया, इसका कारण माताको दिये हुए वचनोको मरते दम तक पालन करनेकी मेरी वृत्ति ही थी। सत्यके प्रति मेरे प्रेमने बहुत-सी आपत्तियोंमेसे मेरी रक्षा की है।

अब दो अग्रेजोंसे प्रसग पडनेपर मुझे गीता पढनी पडी। 'पढनी पडी' इसलिए कहता हू, क्योकि उसे पढनेकी मुझे कोई खास इच्छा न थी,

लेकिन जब इन दो भाइयोने मुझे उनके साथ गीता पढनेको कहा तब मैं शर्मिन्दा हुआ। मुझे अपने धर्मशास्त्रोका कुछ भी ज्ञान नही है, इस ख्यालसे मुझे बडा दु ख हुआ। मालूम होता है, इस दु खका कारण अभिमान था। मेरा सस्कृतका अध्ययन ऐसा तो था ही नही कि गीताजीके सब श्लोकोका अर्थ मैं बिना किसी मददके ठीक-ठीक समझलू। ये दोनो भाई तो कुछ भी न समझते थे। उन्होने सर एडविन आरनॉल्डका गीताजीका उत्तमोत्तम काव्यानुवाद मेरे सामने रख दिया। मैंने तो फौरन ही उस पुस्तकको पढ डाला और उसपर मैं मुग्ध हो गया। तबसे लेकर आजतक दूसरे अध्यायके अतिम १६ श्लोक मेरे हृदयमे अकित है। मेरे लिए तो सब धर्म उन्हीमे आ जाता हैं। उसमे सपूर्ण ज्ञान है। उसमे कहे हुए सिद्धात अचल हैं। उसमे बुद्धिका भी सपूर्ण प्रयोग किया गया है, लेकिन यह बुद्धि सस्कारी बुद्धि है। उसमे अनुभव ज्ञान है।

इस परिचयके बाद तो मैंने बहुत-से अनुवाद पढे, बहुत-सी टीकाए पढी, बहुत-से तर्क किये और सुने, लेकिन उसे पढनेपर जो छाप मुझपर पडी थी वह दूर नही हुई। ये श्लोक गीताजीके अर्थको समझनेकी कुजी हैं। उससे विरोधी अर्थवाले वचन यदि मिलें तो उन्हें त्याग करनेकी भी सलाह मैं दूगा। नम्र और विनयी मनुष्यको तो त्याग करनेकी भी जरूरत नही है। वह तो सिर्फ यो ही कह दे कि दूसरे श्लोकोका आज इसके साथ मेल नही मिलता है तो यह मेरी बुद्धिका ही दोष है। समय बीतनेपर इनका और इन उन्नीस श्लोकोमे कहे गये सिद्धातोका भी मेल बैठ जायगा। अपने मनसे और दूसरोसे यह कहकर वह शात हो जायगा।

शास्त्रका अर्थ करनेमे सस्कार और अनुभवकी आवश्यकता है। 'शूद्रको वेदका अभ्यास नही होता', यह वाक्य सर्वथा गलत नही है। शूद्र अर्थात् असस्कारी, मूर्ख, अज्ञान। वह वेदादिका अभ्यास करके उनका अनर्थ करेगा। बडी उम्रके भी सब लोग बीजगणितके कठिन प्रश्न अपने आप समझनेके अधिकारी नही हैं। उनको समझनेके पहले उन्हें कुछ प्राथमिक शिक्षा ग्रहण करनी पडती है। व्यभिचारीके मुखसे 'अह ब्रह्मास्मि' क्या शोभा देगा? उसका वह क्या अर्थ (या अनर्थ) करेगा?

अर्थात शास्त्रका अर्थ करनेवाला यमादिका पालन करनेवाला होना

चाहिए। यमादिका शुष्क पालन जैसा कठिन है, वैसा ही निरर्थक भी है। शास्त्रोंने गुरुका होना आवश्यक माना है, लेकिन इस जमानेमें गुरुओंका तो करीब-करीब लोप-सा हो गया है। ज्ञानी लोग इसीलिए भक्ति-प्रधान प्राकृत ग्रंथोंका पठन-पाठन करनेकी शिक्षा देते हैं, किन्तु जिनमें भक्ति नहीं, श्रद्धा नहीं, वे शास्त्रका अर्थ करनेके अधिकारी नहीं होते। विद्वान् लोग विद्वत्तापूर्ण अर्थ उसमेंसे भले ही निकालें, लेकिन वह शास्त्रार्थ नहीं। शास्त्रार्थ तो अनुभवी ही कर सकता है।

परन्तु प्राकृत मनुष्योंके लिए भी कुछ सिद्धांत तो हैं ही। शास्त्रोंके वे अर्थ, जो सत्यके विरोधी हैं, सही नहीं हो सकते। जिसे सत्यके सत्य होनेके बारेमें ही शंका है उसके लिए शास्त्र हैं ही नहीं, अथवा यों कहिए कि उसके लिए सब शास्त्र अशास्त्र हैं। उसको कोई नहीं पहुंच सकता। जिसे शास्त्रमेंसे अहिंसा नहीं प्राप्त हुई है, उसके लिए भय है, लेकिन यह बात नहीं कि उसका उद्धार न हो। सत्य विध्यात्मक है, अहिंसा निषेधात्मक है। सत्य वस्तुका साक्षी है, अहिंसा वस्तु होनेपर भी उसका निषेध करती है। सत्य है, असत्य नहीं है। हिंसा है, अहिंसा नहीं है। फिर भी अहिंसा ही होनी चाहिए। यही परम धर्म है। सत्य स्वयंसिद्ध है। अहिंसा उसका संपूर्ण फल है। सत्यमें वह छिपी हुई ही है, किंतु वह सत्यकी तरह व्यक्त नहीं है। इसलिए उसको मान्य किये बिना मनुष्य भले ही शास्त्रका शोध करे, उसका सत्य आखिर उसे अहिंसा ही सिखावेगा।

सत्यका अर्थ तपश्चर्या तो है ही। सत्यका साक्षात्कार करनेवाले तपस्वीने चारों ओर फैली हुई हिंसामेंसे अहिंसादेवीको संसारके सामने प्रकट करके कहा—हिंसा मिथ्या है, माया है, अहिंसा ही सत्य वस्तु है। अहिंसाके बिना सत्यका साक्षात्कार असंभावित है। ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह भी अहिंसाके अर्थमें हैं। ये अहिंसाको सिद्ध करनेवाले हैं। अहिंसा सत्यका प्राण है। उसके बिना मनुष्य पशु है। सत्यार्थी अपनी शोधके लिए प्रयत्न करते हुए यह सब बड़ी जल्दी समझ लेगा और फिर उसे शास्त्रका अर्थ करनेमें कोई मुसीबत पेश न आवेगी।

शास्त्रका अर्थ करनेमें दूसरा नियम यह है कि उसके प्रत्येक अक्षरको

न पकड़कर उनकी ध्वनि खोजनी चाहिए, उनका रहस्य समझना चाहिए। तुलसीदासजीकी रामायण उत्तम ग्रथ है, क्योंकि उसकी ध्वनि स्वच्छता है, दया है, भक्ति है। उसमे 'शूद्र गवार ढोल पशु नारी, ये सब ताडनके अधिकारी' लिखा, इसलिए यदि कोई पुरुष अपनी स्त्रीको मारे तो उसकी अधोगति होगी। रामचद्रजीने सीताजीपर कभी प्रहार नही किया। इतना ही नही, उन्हे कभी दुःख भी नही पहुचाया। तुलसीदासजीने केवल प्रचलित वाक्यको लिख दिया। उन्हे इस बातका ख्याल कभी न हुआ होगा कि इस वाक्यका आधार लेकर अपनी अर्धांगनाका ताडन करनेवाले पशु भी कही निकल पडेंगे। यदि स्वय तुलसीदासजीने भी रिवाजके वशवर्ती होकर अपनी पत्नीका ताडन किया हो तो भी क्या ? यह ताडन अवश्य ही दोष है। फिर भी रामायण पत्नीके ताडनके लिए नही लिखी गई है। रामायण तो पूर्ण-पुरुषका दर्शन करानेके लिए, सतीशिरोमणि सीताजीका परिचय करानेके लिए और भरतकी आदर्श भक्तिका चरित्र चित्रित करनेके लिए लिखी गई है। उसमे मिलनेवाला दोषयुक्त रिवाजो-का समर्थन त्याज्य है। तुलसीदासजीने भूगोल सिखानेके लिए अपना अमूल्य ग्रथ नही बनाया है, इसलिए उनके ग्रथमे यदि गलत भूगोल पाया जाय तो उसका त्याग करना अपना धर्म है।

अब गीताजी देखे। ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति और उसके साधन, यही गीताजीके विषय हैं। दो सेनाओके बीच युद्धका होना निमित्त है। भले ही ऐसा कहे कि कवि स्वय युद्धादिको निषिद्ध नही मानते थे और इस-लिए उन्होंने युद्धके प्रसगका इस प्रकार उपयोग किया है। महाभारत पढनेके बाद तो मेरे ऊपर दूसरी ही छाप पडी है। व्यासजीने इतने सुदर ग्रथकी रचना करके युद्धके मिथ्यात्वका ही वर्णन किया है। कौरव हारे तो उससे क्या हुआ ? और पाडव जीते तो भी उससे क्या हुआ ? विजयी कितने बचे ? उनका क्या हुआ ? कुती माताका क्या हाल हुआ ? और आज यादव-कुल कहा है ?

जहा विषय युद्ध-वर्णन और हिंसाका प्रतिपादन नही है, वहा उसपर जोर देना बिलकुल अनुचित ही माना जायगा और यदि कुछ श्लोकोका सबध अहिंसाके साथ बैठाना मुश्किल मालूम होता है तो सारी गीताजीको

हिंसाके चौखटेमें मढ़ना तो उससे कहीं ज्यादा मुश्किल है।

कवि जब किसी ग्रंथकी रचना करता है तो वह उसके सब अर्थोंकी कल्पना नहीं कर लेता है। काव्यकी यही खूबी है कि वह कविसे भी बढ़ जाता है। जिस सत्यका वह अपनी तन्मयतामें उच्चारण करता है, वही सत्य उसके जीवनमें अक्सर नहीं पाया जाता। इसलिए बहुतेरे कवियोंका जीवन उनके काव्योंके साथ सुसंगत नहीं मालूम होता। दूसरा अध्याय, जिससे विषयका आरंभ होता है और अठारहवां अध्याय, जिसमें उसकी पूर्णाहुति होती है, देखनेसे यही प्रतीत होगा कि गीताजीका सर्वांग तात्पर्य हिंसा नहीं, वरन् अहिंसा है। मध्यमें देखोगे तो भी यही प्रतीत होगा। बिना क्रोध, राग या द्वेषके हिंसाका होना संभव नहीं और गीता तो क्रोधादिको पार करके गुणातीतकी स्थितिमें पहुंचानेका प्रयत्न करती है। गुणातीतमें क्रोधका सर्वथा अभाव होता है। अर्जुनने कान तक खींचकर जब-जब धनुष चढ़ाया, उस समयकी उसकी लाल-लाल आंखें मैं आज भी देख सकता हूं।

परंतु अर्जुनने कब अहिंसाके लिए युद्ध छोड़नेकी हठ की थी? उसने तो बहुतेरे युद्ध किये थे। उसे तो एकाएक मोह हो गया था। वह तो अपने सगे-संबंधियोंको नहीं मारना चाहता था। अर्जुनने दूसरोंको, जिन्हें वह पापी समझता हो, न मारनेकी बात तो की न थी। श्रीकृष्ण तो अंतर्यामी हैं। वह अर्जुनका यह क्षणिक मोह समझ लेते हैं और इसलिए उससे कहते हैं, "तुम हिंसा तो कर चुके हो। अब इस प्रकार एकाएक समझदार बननेका दंभ करके तुम अहिंसा न सीख सकोगे। इसलिए जिस कामका तुमने आरम्भ किया है उसे अब तुम्हें पूरा ही करना चाहिए।" घंटेमें चालीस मीलके वेगसे जानेवाली रेलगाड़ीमें बैठा हुआ व्यक्ति एकाएक प्रवाससे विरक्त होकर यदि चलती हुई गाड़ीसे ही कूद पड़े तो यही कहा जायगा कि उसने आत्म-हत्या की है। उसने उसने प्रवास या रेलगाड़ीमें बैठनेके मिथ्यात्वको कुछ नहीं सीखा है। अर्जुनका भी यही हाल था। अहिंसक कृष्ण अर्जुनको दूसरी सलाह दे ही नहीं सकते थे, लेकिन उससे यह अर्थ नहीं निकाल सकते कि गीताजीमें हिंसा हीका प्रतिपादन किया गया है। यह अर्थ निकालना उतना ही अनुचित है

जितना कि यह कहना कि शरीर-व्यापारके लिए कुछ हिंसा अनिवार्य है और इसलिए हिंसा ही धर्म है। सूक्ष्मदर्शी इस हिंसामय शरीरसे अशरीरी होनेका अर्थात् मोक्षका ही धर्म सिखाता है।

लेकिन धृतराष्ट्र कौन थे, दुर्योधन, युधिष्ठिर और अर्जुन कौन थे? कृष्ण कौन थे? क्या ये सब ऐतिहासिक पुरुष थे? और क्या गीताजीमे उनके स्थूल व्यवहारका ही वर्णन किया गया है? अकस्मात् अर्जुन सवाल करता है और कृष्ण सारी गीता पढ जाते हैं! और अर्जुन यह कहकर भी कि उसका मोह नष्ट हो गया है यही गीता फिर भूल जाता है और कृष्णसे दुबारा अनुगीता कहलवाता है!

मैं तो दुर्योधनादिको आसुरी और अर्जुनादिको दैवी वृत्ति मानता हू। धर्मक्षेत्र यह शरीर ही है। उसमे द्वद्व चलता ही रहता है और अनुभवी ऋषि कवि उसका तादृश वर्णन करते हैं। कृष्ण तो अतर्यामी हैं और हमेशा शुद्ध-चित्तमे घडीकी तरह टिक-टिक करते रहते हैं। यदि चित्तको शुद्धिरूपी चाबी नही दी गई तो अतर्यामी यद्यपि वहा रहते तो हैं, तथापि उनका टिकटिकाना तो अवश्य ही बद हो जाता है।

कहनेका आशय यह नही कि इसमे स्थूल युद्धके लिए अवकाश ही नहीं है। जिसे अहिंसा सूझी ही नही है उसे यह धर्म नही सिखाया गया है कि कायर बनना चाहिए। जिसे भय लगता है, जो सग्रह करता है, जो विषयमे रत है, वह अवश्य ही हिंसामय युद्ध करेगा, लेकिन उसका वह धर्म नही है। धर्म तो एक ही है। अहिंसाके मानी हैं मोक्ष और मोक्ष है सत्यनारायणका साक्षात्कार। इसमे पीठ दिखानेको तो कही अवकाश ही नही है। इस विचित्र ससारमे हिंसा तो होती ही रहेगी। उससे बचनेका मार्ग गीता दिखाती है, लेकिन साथ-ही-साथ गीता यह भी कहती है कि कायर होकर भागनेसे हिंसासे न बच सकोगे। जो भागनेका विचार करता है, वह तो मारेगा और मरेगा।

प्रश्नकर्त्ताने जिन श्लोकोका उल्लेख किया है, उनका अर्थ यदि अब भी उनकी समझमे न आवे तो मैं समझानेमे असमर्थ हू। सर्वशक्तिमान् ईश्वर कर्त्ता, भर्त्ता और सहर्त्ता है और वह ऐसा ही होना चाहिए। इस विषयमे कोई शका तो न होगी न? जो उत्पन्न करता है, वह उसका

नाश करनेका अधिकार भी रखता है। फिर भी वह किसीको नहीं मारता; क्योंकि वह उत्पन्न भी नहीं करता। नियम यह है कि जिसने जन्म लिया है, उसने मरने हीके लिए जन्म लिया है। ईश्वर भी इस नियमको नहीं तोड़ सकता। यही उसकी दया है। यदि ईश्वर ही स्वच्छंद और स्वेच्छाचारी बन जाय तो फिर हम सब कहां जावेंगे?

१५ अक्तूबर, १९२५

: ७ :

गीता कंठ करो

गीताको कंठ करनेके विषयमें मैं बहुत बार लिख चुका हूं, कह चुका हूं। मेरे अपने किये यह न हो सका, इसलिए यह कहना मुझे शोभा नहीं देता। फिर भी इस बातको बारबार कहते मुझे शर्म नहीं मालूम होती, इसलिए कि उसका लाभ मैं समझता हूं। मेरी गाड़ी ज्यों-त्यों चल गई है, क्योंकि एक बार तो मैं तेरहवें अध्याय तक कंठ कर गया था और गीताका मनन तो बरसोंसे चल रहा है। इसलिए यह मान लिया जा सकता है कि उसकी छायाके नीचे मेरा कुछ निर्वाह हो गया, पर मैं उसे कंठ कर सका होता, अब भी उसमें अधिक गहराईमें पैठ सका होता तो हो सकता है, मैंने बहुत अधिक पाया होता, पर मेरा चाहे जो हुआ हो और हो, मेरा समय बीता हुआ माना जा सकता है या मानना चाहिए। यद्यपि मुझे सहज ही इसका सुयोग मिल जाय तो गीता कंठ करनेका प्रयत्न आरंभ कर दूं।

यहां गीताका अर्थ थोड़ा विस्तृत करना चाहिए। गीता, अर्थात् हमारा आधाररूप ग्रंथ। हममेंसे बहुतोंका आधार गीता है, इसलिए मैंने गीताका नाम लिया है। पर अमतुल (अमतुस्सलाम) प्रार्थना या कुरेशी गीताके बदले कुरान शरीफ, पूरा या उसका कोई भाग, कंठ कर सकते हैं। जिन्हें संस्कृत न आती हो, जो अब उसे सीख न सकते हो, वे

गुजराती या हिन्दीमे कठ करें। जिन्हे गीतापर आस्था न हो और दूसरे किसी धर्म-ग्रथपर हो, वे उसे कठ करें।

और कठ करनेका अर्थ भी समझ लीजिए। जिस चीजको हम कठ करें, उसके आदेशानुसार आचरण करनेका हमारा आग्रह होना चाहिए। वह मूल सिद्धान्तोका घातक न होना चाहिए। उसका अर्थ हम समझ चुके हो।

इसका फल है। हमारे पास ग्रथ न हो, चोरी हो जाय, जल जाय, हमे भूल जाय, हमारी आख चली जाय, हम वाक्शक्तिसे रहित हो जाय, पर समझ बनी हो—ऐसे और भी दैवयोग सोचे जा सकते हैं—उस समय अगर अपना प्रिय आधाररूप ग्रथ कठ हो तो वह हमारे लिए भारी शाति देनेवाला हो जायगा और मार्गदर्शक होगा, सकटका साथी होगा।

दुनियाका अनुभव भी यही है। हमारे पुरखा—हिन्दू-मुसलमान, ईसाई, पारसी—कुछ विशेष पाठ कठ किया करते थे। आज भी बहुतेरे करते हैं। इन सबके अमूल्य अनुभवको हम फेंक न दें। इसमे कुछ अशोमे हमारी श्रद्धाकी परीक्षा है।

आश्रमवासियोसे,
३१ जुलाई, १९३२

८

नित्य व्यवहारमें गीता[1]

कुछ युवकोने यहा आते ही मुझे अनेक प्रश्न दिये। उनका जवाब ही मेरा आजका भाषण होगा।

प्रश्न—हिंदुस्तानकी वर्तमान परिस्थितिमे क्या आपको ऐसा नही लगता कि बतौर हिंदूके आपको श्रद्धानद स्मारक कोषपर और अधिक जोर देना चाहिए? अगर आपको ऐसा मालूम होता हो तो फिर यह

---

१. नासिकमे गाधीजीका भाषण

इसका अर्थ यह [illegible] है, पर [illegible] मनो-
[illegible] है।

प्रश्न—आप जो यह धन इकट्ठा कर रहे हैं, क्या वह केवल गांधी-
के लिए ही है? [illegible] किस प्रकार उपयोग
करेंगे?

उत्तर—हां, यह धन केवल गांधीजीके लिए ही है, क्योंकि यह अखिल भारत देशबंधु-स्मारक कोषके लिए इकट्ठा किया जा रहा है। इस कोषके साथ देशबंधुका नाम केवल इसीलिए जोड़ा गया है कि देशबंधु ऐसे थे, जिन्होंने गांधीजीकी योजना स्वीकार की थी और खादी-कार्य उनको प्रिय था। गांधीजीके लिए [illegible] उद्देश्य इसको ध्यानमें रखनेके लिए ही अखिल भारत चर्खा-संघकी योजना की गई है। इस कोषकी पाई-पाईका हिसाब रखा जाता है और उसे देखनेका किसी भी मनुष्यको अधिकार है। इस संघका एक व्यवस्थापक मण्डल है, हिसाब जांचनेवाले हैं, निरीक्षक हैं। इन सबने अभी देशके सामने खादी-सेवक-संघकी योजना पेश की है। आप चाहें कि जान लिया [illegible]। दीजिएगा

तीस रुपल्ली। उससे भला होगा क्या? हा, हमारा मडल तो भिखारी-मडल है, क्योकि बहुतसे गरीब भिखारियोसे पैसा लेकर यह स्थापित हुआ है। यह कुछ इडियन सिविल सर्विस नही है कि हमे हजारो रुपया वेतनोमे देने पडे। इडियन सिविल सर्विस तो लोगोके करोपर अवलबित है। वह तो लोगोपर राज्य करनेके लिए है और हमारा मडल तो लोगोकी सेवाके लिए है।

प्रश्न—आप मुसलमानोके लिए पक्षपात क्यो करते हैं? कितने मुसलमान नेता आपपर व्यक्तिगत आक्षेप करते हैं। उनका आप जवाब भी नही देते। ऐसा क्यो?

उत्तर—परम धर्मका शुद्ध पक्ष लेनेमे मैं अपने धर्मकी रक्षा ही करता हू। मैं हिंदू धर्मका नाश नही चाहता, मैं नाश कर नही सकता; क्योकि मैं हिंदू महासागरकी एक बूदभर हू। मुसलमान मुझे काफिर कहें तो उससे क्या हुआ? उसका जवाब क्या देना है। मेरा भानजा मेरे साथ ही रहता था। जब दूसरोको लगा कि मैं उसका पक्षपात करता हू, उस समय मैंने और उसने भी समझा कि मैं उसके साथ न्याय ही करता था। मुसलमान जब मुझपर आक्षेप करते हैं तो इससे शायद यह मालूम होता है कि मैं उन्हें अभी पूरा न्याय न देता होऊगा। मुझे जवाब देनेकी आवश्यकता किस लिए हो? मेरे तो चौबीसो घटे श्रीकृष्ण भगवान्‌को समर्पित है। वही मेरी रक्षा करते हैं और दासानुदास श्रीकृष्ण भगवान्‌से मैं सदा प्रार्थना करता हू कि 'हे कृष्ण, मेरी ओरसे जो जवाब देना हो, वह तू ही जाकर दे आ।'

प्रश्न—आपने खिलाफतकी लडाई जी-जानसे लडी। उसी प्रकार आज हिंदू-सगठनके लिए क्यो नही जुट जाते?

उत्तर—खिलाफतके लिए प्राण अर्पण करनेकी मेरी प्रतिज्ञा थी। परधर्मीके लिए जो कुछ भी हो सका, मैंने किया। मैं मानता था और अब भी मानता हू कि मेरी इस सेवासे गोरक्षा होगी। आप पूछेंगे कि गोरक्षा हुई। गोरक्षण नही हुआ, पर इससे मुझे क्या! मैं तो प्रयत्नका अधिकारी था। फलके अधिकारी तो श्रीकृष्ण भगवान् हैं। भगवान्‌ने कहा कि मुहम्मद अलीसे मिल, शौकत अलीसे मिल, उनके साथ काम

कर ? मैंने वही किया। उन्हें जितनी मदद दी जा सकी, दी। इस कामके लिए मुझे जरा भी पछतावा नहीं है। फिर ऐसा प्रसंग आये तो मैं यही करूंगा। गीता-भागवत आदि धर्म-ग्रंथ मुझे यही सिखलाते हैं। लोग मेरी निन्दा करें, मेरा अपमान करें, इसके उत्तरमें मैं भी उनकी निन्दा और अपमान करनेवाला नहीं। मैं तो वही करूंगा जो करनेका तुलसीदासजीने उपदेश दिया है, यानी तपश्चर्या। मेरी प्रकृति ही ऐसी बनी है। मुझसे दूसरा क्या होगा ? गीताजीने कहा है न कि सब जीव अपनी प्रकृतिके अनुसार ही चलते हैं, निग्रह क्या करेगा ? इसलिए मुझे तो तपश्चर्या करती रही। जब मुसलमानोंके दिलमें खुदा बसेंगे और जब एक दिन ऐसा आवेगा कि हिंदुओंके समान वे भी गोरक्षा करेंगे, मैं भविष्यवाणी करता हू कि तब आप कहेंगे कि यह गोरक्षा पुराने जमानेके किसी गांधी नामके पागलकी आभारी है।

मैं नही मानता कि आजके जैसी तबलीग या शुद्धि या धर्म-परिवर्तन करनेकी आज्ञा इस्लाम या हिंदूधर्म या ईसाईधर्ममें है। तब मैं शुद्धिमें किस प्रकार हाथ बटा सकता हू ? तुलसीदास और गीता तो मुझे सिख-लाते है कि जब तुम्हारे ऊपर या तुम्हारे धर्मपर हमला हो तो तुम आत्म-शुद्धि कर लेना। और जो पिंडमें है वह ब्रह्मांडमें। आत्मशुद्धि—तपश्चर्या करनेका मेरा प्रयत्न चौबीसो घंटे चल रहा है। पार्वतीके नसीबमें अशुभ लक्षणोवाला पति था। ऐसे लक्षण होनेपर भी शुभकर तो शिवजी ही थे। पार्वतीने उन्हे तपोबलसे पाया। सकटके समयमें ऐसा ही तप हिंदू-धर्म सिखलाता है। इस धर्मज्ञानका साक्षी हिमालय है, वही हिमालय, जिसके ऊपर हिंदूधर्मकी रक्षाके लिए लाखों ऋषि-मुनियोंने अपने शरीर गला डाले है। वेद कुछ कागजपर लिखे अक्षर नही हैं। वेद तो अतर्यामी हैं और अतर्यामीने मुझे बतलाया है कि यम-नियमादिका पालन कर और कृष्णका नाम ले। मैं विनयके साथ, परतु सत्यतासे कहता हू कि हिंदूधर्मकी सेवा, हिंदूधर्मकी रक्षाके सिवा मेरी दूसरी प्रवृत्ति नहीं। हा, उसे करनेकी मेरी रीति भले ही निराली हो।

प्रश्न—आज जो पैसा आपको मिलता है, उसे देनेवाले अधिकाशमें विलायती कपड़ोके ही व्यापारी है और आपको वे जो पैसा देते हैं, वह

आपके प्रेमके कारण देते हैं, खादीके प्रेमके कारण नही । क्या आप यह जानते हैं ?

उत्तर—प्रेमसे मुझे एक पैसा भी नही चाहिए। मैं चाहता हू कि मेरे कामको समझकर लोग मुझे पैसा दें। प्रेमसे आप मुझे दूसरी वस्तु दे सकते है, प्रेमसे आप मुझे अपने विलायती कपडे दे सकते हैं, पर पैसा नही चाहिए। सच्ची बात तो यह है कि व्यापारी लोग मुझे पैसा देते है तो यह समझकर कि मेरा व्यापार जमे तो उसमे उनकी या देशकी हानि नही है। वे जानते हैं कि अतमें उन्हें खादीका ही व्यापार करना पडेगा। वे इसे खूब समझते है, परतु उनमें आज निश्चय-बल नही है। यह बल उन्हें मिले, इसके लिए वे मुझे ईश्वरसे प्रार्थना करनेको कहते है। इस बीचमे वे धन देकर इस प्रवृत्तिका पोषण करते है। वे मुझे फुसलानेको धन नही देते।

प्रश्न—केवल खादीका ही काम करके आप दूसरे ऐसे ही महत्त्वपूर्ण या इससे भी अधिक महत्त्वके राजनैतिक कामोंकी ओरसे लापरवाह क्यो है ?

उत्तर—मैं कह चुका हू कि मेरा कार्यक्षेत्र मर्यादित है। दुर्योधनने भी अपने योद्धाओंकी मर्यादाका वर्णन किया था। 'यथाभागमवस्थिता', सभीको अपने-अपने स्थानपर रहनेको और अपने स्थानपर रहकर भीष्मकी रक्षा करनेको कहा था। गीताका वर्णाश्रमधर्म यही कहना है। वह सबको अपनी-अपनी मर्यादा समझनेको कहता है। हिंदुस्तानको अगर मुझसे काम लेना हो तो उसे मेरी मर्यादा समझनी होगी। यह भले ही सभव हो कि मैं दूसरे काम भले प्रकार कर सकू, पर उन्हें दूसरे लोग करते हैं। खादीका काम, जिसे मैं परम कर्तव्य मानता हू, यही विश्वास होनेके कारण कर रहा हू कि उसे मेरे जैसा कोई न करेगा। मुझे सत्याग्रह पसद है, मुझे वह करना है, परतु उसके लिए अनुकूल वातावरण कहा है? खादीमे वह मुझे पैदा करना है। सत्याग्रह तो मेरी प्राणवायुके समान है, परन्तु उसे खादीके बिना असभव मानता हू।

प्रश्न—जरा यह तो बतलाइयेगा कि इस दौरेमे आपको मुसलमानोंमे कितनी प्रत्यक्ष सहायता मिली है ?

उत्तर—यह बात सच्ची है कि आज मुसलमान खादीके काममें मेरी नहींके बराबर ही मदद कर रहे हैं, पर इससे क्या हुआ ? मैं अपनी स्त्री या भाईके साथ कुछ व्यापार नहीं करता। घरमें उनके साथ मैं यह सौदा करता ही नहीं कि तुम यह करो तो मैं वह करूं। इसी प्रकार मुसलमान भाइयोंके साथ या पंडितजी या केलकरके साथ अदला-बदलीका सौदा करना नहीं चाहता। मुसलमानसे हम किसलिए डरें ? परमेश्वरसे क्यों न डरें ? मनुष्यसे डरना न चाहिए, मनुष्यसे धोखा खानेका भय ही नहीं रखना चाहिए। ईश्वरके ऊपर विश्वास रखकर कि लोग धोखा देंगे तो भी ईश्वर देख लेगा, स्वधर्म करना चाहिए।

३ मार्च, १९२१

: ६ :

भगवद्गीता अथवा अनासक्तियोग

गीता पढ़ने, विचारने और उसका अनुसरण करते हुए अब मुझे चालीस सालसे ज्यादा हो चुके हैं। मित्रोंने यह इच्छा प्रकट की थी कि मैं जनताको बताऊं कि मैंने गीताको किस रूपमें समझा है, फलतः मैंने अनुवाद शुरू किया।[1] विद्वानकी दृष्टिसे देखने बैठूं तो अनुवाद करनेकी मेरी अपनी योग्यता कुछ भी नहीं ठहरती। हां, आचरण करनेवालेकी दृष्टिसे ठीक-ठीक मानी जा सकती है। यह अनुवाद अब छपा है। बहुतेरी गीताओंके साथ संस्कृत भी होती है। इसमें जान-बूझकर संस्कृत नहीं रखी। संस्कृत सब जानें, समझें तो मुझे अच्छा लगे, लेकिन सब संस्कृत कभी जानेंगे नहीं और संस्कृतके तो अनेक सस्ते संस्करण मिल सकते हैं। इसलिए संस्कृत छोड़कर आकार और कीमत बचानेका निश्चय किया। अतएव १८ सफोंकी प्रस्तावना और १९१ सफोंके अनुवादवाला जेबी संस्करण छपवाया है। इसकी कीमत दो आना रखी है। मेरा लोभ तो

---

१ जो 'अनासक्तियोग' नामसे इस पुस्तकमें अन्यत्र छपा है।

यह है कि हरएक हिन्दी भाषा-भाषी इस गीताको पढे, विचारे और वैसा आचरण करे। इसके विचारका सरल उपाय यह है कि संस्कृतका ख्याल किए बिना ही इसके अर्थको समझनेका प्रयत्न किया जाय और फिर तदनुसार आचरण किया जाय। मसलन् जो यह कहते हैं कि गीता तो अपने-परायेका भेद रखे बिना दुष्टोका सहार करनेकी शिक्षा देती है उन्हें अपने-दुष्ट माता-पिता या अन्य प्रियजनोका सहार शुरू कर देना चाहिए। पर वे वैसा तो कर नही सकते। तो फिर जहा सहारका जिक्र आता है, वहा उसका कोई दूसरा अर्थ होना सभव है, यह बात पाठकोको सहज ही सूझेगी। अपने-परायेके बीच भेद न रखनेकी बात तो गीताके पन्ने-पन्नेमे आती है। पर यह कैसे हो सकता है ? यो सोचते-सोचते हम इस निश्चय-पर पहुचेंगे कि अनासक्तिपूर्वक सब काम करना ही गीताकी प्रधान ध्वनि है, क्योकि पहले ही अध्यायमे अर्जुनके सामने अपने-परायेका झगडा खडा होता है। गीताके प्रत्येक अध्यायमे यह बताया गया है कि ऐसा भेद मिथ्या और हानिकारक है। गीताको मैंने अनासक्तियोगका नाम दिया है। यह क्या है, कैसे सिद्ध हो सकता है, अनासक्तिके लक्षण क्या हैं, आदि तमाम बातोका जवाब इस पुस्तकमे है। गीताका अनुसरण करते हुए मैं इस युद्धको प्रारभ किये बिना न रह सका। एक मित्रके शब्दोमे, मेरे मन यह युद्ध धर्मयुद्ध है। और ठीक इस आखिरी फैसलेके मौकेपर इस पुस्तकका प्रकाशित होना मेरे लिए शुभ शकुन है।

२२ मई, १९३०

१०

गीता-जयंती

पूनासे 'केसरी' वाले श्री जी. वी केतकर लिखते है :

"इस वर्ष गीता-जयती शुक्रवार २२ दिसबरको पडती है। जो प्रार्थना मैं कई सालसे आपसे करता आया हू वही इस बार भी दुहराता हू कि आप 'हरिजन' मे गीता और गीता-जयतीपर लिखें। एक बात और भी

पिछले वर्ष नहीं थी, वह फिरसे कहता हूं। गीतापर आपने अपने व्याख्यानोंमें एक जगह कहा है कि जिन्हें ७०० श्लोकोंकी पूरी गीताका पारायण करनेका अवकाश नहीं उनके लिए दूसरा और तीसरा अध्याय पढ़ लेना काफी है। आपने यह भी कहा है कि इन दो अध्यायोंका भी सार किया जा सकता है। संभव हो तो आप समझाइए कि आप दूसरे और तीसरे अध्यायको क्यों आधारभूत मानते हैं? मैंने भी दूसरे और तीसरे अध्यायके श्लोक गीता-बीजके रूपमें प्रकाशित करके यही विचार जनताके सामने रखनेका प्रयत्न किया है। अवश्य ही आपके इस विषयपर लिखनेका प्रभाव अधिक पड़ेगा।"

अबतक मैंने श्री केलकरकी बात नहीं मानी थी। मैं नहीं जानता कि जिस उद्देश्यसे ये जयंतियां मनाई जाती हैं वह इस तरह पूरा होता है। आध्यात्मिक विषयोंमें विज्ञापनके साधारण साधनोंका स्थान नहीं होता। आध्यात्मिक वस्तुओंका उत्तम विज्ञापन तो उनके अनुरूप कर्म ही होता है। मेरा विश्वास है कि सभी आध्यात्मिक ग्रंथोंका प्रभाव दो बातें होनेसे पड़ता है। एक तो यह कि उनमें लेखकोंके अनुभवोंका सच्चा इतिहास हो और दूसरे उनके भक्तोंका जीवन यथासंभव उनके उपदेशोंके अनुसार रहा हो। इस प्रकार ग्रंथकार अपने ग्रंथोंमें प्राण-संचार करते हैं और अनुयायी उनके अनुसार आचरण करके उनका पोषण करते हैं। मेरी सम्मतिमें करोड़ोंपर गीता, तुलसीकृत रामायण आदि पुस्तकोंके प्रभावका यही रहस्य है। श्री केलकरके आग्रहको माननेसे मैं यह आशा रखता हूं कि आगामी जयंती-उत्सवमें भाग लेनेवाले उचित भावनासे प्रेरित होंगे और गीताके पवित्र संदेशके अनुसार अपना जीवन बनानेका दृढ़ निश्चय करेंगे। मैंने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि वह संदेश आसक्ति छोड़कर स्वधर्म-पालन करना ही है। मेरा यह मत रहा है कि गीताका मुख्य विषय दूसरे अध्यायमें है और उसके अनुसार आचरण करनेकी विधि तीसरे अध्यायमें बताई गई है। ऐसा कहनेका यह अर्थ नहीं है कि दूसरे अध्यायोंकी महिमा कम है। वास्तवमें एक अध्यायका अपना महत्त्व अलग ही है। विनोबाने गीताको 'गीताई' अर्थात् 'गीता-माता' कहकर पुकारा है। उन्होंने उसका बहुत ही सरल और ओजस्वी मराठीमें पद्यानुवाद किया है।

उमका छद भी वही रखा है जो मूल सस्कृतमे है। हजारोके लिए गीता ही सच्ची माता है, क्योकि वह कठिनाइयोमे सान्त्वना-रूपी पौष्टिक दूध देती है। मैने उसे अपना आध्यात्मिक कोप कहा है, क्योकि दु खमे मैं उससे कभी निराश नही हुआ हू। इसके अतिरिक्त, यह ऐसी पुस्तक है जिसमे साम्प्रदायिकता और धार्मिक अधिकारवादका नाम भी नही है। यह मनुष्य-मात्रको प्रेरणा देती है। मैं गीताको क्लिष्ट पुस्तक नही मानता। नि सन्देह पण्डितोंके तो जो चीज भी हाथ पड जाय उसीमे वे गहनता देख लेते हैं, परन्तु मेरी सम्मतिमे साधारण बुद्धिके मनुष्यको भी गीताके सरल सदेशको समझ लेनेमें कोई कठिनाई नही होनी चाहिए। इसकी सस्कृत तो अत्यन्त सरल है। मैंने गीताके कई अग्रेजी अनुवाद पढे हैं, परन्तु एडविन आरनॉल्डके छन्दानुवादकी तुलनाका एक भी नही है। इसका नाम भी उन्होने 'स्वर्गीय गीत' बहुत सुन्दर और उपयुक्त रखा है।

११ दिसबर, १९३९

११

गीता और रामायण

बहुतेरे नौजवान कोशिश करते हुए भी पापसे बच नही पाते जिससे वे हिम्मत खो बैठते हैं और फिर दिन-दिन पापकी गहराईमे उतरते जाते हैं। बहुतेरे तो बादमे पाप हीको पुण्य भी मानने लगते हैं। ऐसोको मैं बहुत बार सलाह देता हू कि वे गीताजी और रामायणका बार-बार अध्ययन और मनन करें, लेकिन वे इस बातमे दिलचस्पी नही लेते। इसी तरहके नौजवानोकी दिलजमईके लिए, उन्हे धीरज बधानेकी गरज-से, एक नौजवानके पत्रका कुछ हिस्सा, जो इस विषयसे सबध रखता है, नीचे देता हू

"मन साधारणत स्वस्थ है, किंतु जब कुछ दिनो तक मन बिलकुल स्वस्थ रह चुकता है और खुद इस बातका खयाल हो आता है तो फिरसे पछाड खानी ही पडती है। विकार इतने जबर्दस्त बन जाते हैं कि उनका

[illegible] अधिकारी नहीं मालूम पड़ती, लेकिन मैंने सदा ज्ञानेश्वरी, गीता-रहस्य और तुलसी-रामायणसे बड़ी मदद लिया करती हूँ। रामायणको [illegible] बार पढ़ चुकी हूँ, [illegible] कहाँ तक समझ सकी हूँ। [illegible] [illegible] रामायण [illegible] था, लेकिन आज तो [illegible] हूँ। अब मैं दूसरी [illegible] हूँ, फिर भी [illegible]। बालकृष्ण[illegible] जिन बातोंके कारण [illegible] जिनसे तुलसी-रामायणमें [illegible] थी, वहीं आज [illegible] मालूम होती है। [illegible] भागवतकी भी [illegible]। [illegible] [illegible] थी, आज उस [illegible] है, [illegible] आता है कि जो [illegible] है [illegible] [illegible] है। [illegible] और रामायणका [illegible] है।"

इस पत्रमें लेखकने जितनी निराशा और जितना अविश्वास था, शायद ही किसी दूसरे गीताप्रेमीमें उतनी निराशा और उतना अविश्वास हो। दोनोंने उनमें घर कर लिया था, लेकिन आज उनमें जिस श्रद्धाका उदय हुआ है, उससे सब नवयुवकोंमें आशाका संचार होना चाहिए। जो लोग अपनी इन्द्रियोंको जीत चुके हैं उनके अनुभवपर भरोसा करके लगनके साथ रामायण आदिका अभ्यास करनेवाला [illegible] बिना रह ही नहीं सकता। मामूली विषयोंके अभ्यासके लिए भी जब हमें [illegible] मेहनत करनी पड़ती है, कई तरकीबोंसे काम लेना पड़ता है तो फिर जिन विषयमें सारी जिन्दगी और उसके बादकी शान्तिका भी प्रश्न छिपा हुआ है, उन विषयोंके अभ्यासके लिए हममें कितनी लगन होनी चाहिए? फिर भी जो लोग थोड़ेसे थोड़ा समय और ध्यान देकर रामायण तथा गीतामेंसे रसपान करनेकी आशा रखते हैं उनके लिए क्या कहा जाय?

आपके पत्रमें लिखा है कि पत्र-लेखकको जैसे ही अपने तन्दुरुस्त होनेका खयाल आता है, विकार फिरसे चढ़ दौड़ते हैं। जो बात शरीरके

लिए है, वही मनके लिए भी है। जिसका शरीर बिलकुल चगा है, उसे अपने अच्छेपनका खयाल कभी आता ही नही, न उसकी कोई जरूरत ही है, क्योंकि तदुरुस्ती तो शरीरका स्वभाव है। यही बात मनको भी लागू होती है। जिस दिन मनकी तदुरुस्तीका खयाल आवे, समझ लें कि विकार पास आकर झाक रहे हैं। अत मनको हमेशा स्वस्थ बनाये रखनेका एकमात्र उपाय उसे हमेशा अच्छे विचारोमे लगाये रखना ही है। इसी कारण रामनाम आदिके जपकी बातकी शोध हुई और वे गाये गए। जिसके हृदयमे हर घडी रामका निवास हो, उसपर विकारोका हमला हो ही नही सकता। सच तो यह है कि जो शुद्ध बुद्धिसे रामनामका जप करता है, समय पाकर रामनाम उसके हृदय मे घर कर लेता है। इस तरह हृदय प्रवेश होनेके बाद रामनाम उस मनुष्यके लिए एक अभेद्य किला बन जाता है। बुराई, बुराईका खयाल करते रहनेसे नही मिटती। हा, अच्छाईका विचार करनेसे बुराई जरूर मिट जाती है, लेकिन बहुत बार देखा गया है कि लोग सच्ची नीयतसे उलटी तरकीबें काममे लाते हैं। 'यह कैसे आई, कहासे आई ?'—वगैरह विचार करनेसे बुराईका ध्यान बढता जाता है। बुराईको मेटनेका यह उपाय हिंसक कहा जा सकता है। इसका सच्चा उपाय तो बुराईमे असहयोग करना है। जब बुराई हमपर आक्रमण करे तो उससे 'भाग जाना' कहनेकी कोई जरूरत नही। हमे तो यह समझ लेना चाहिए कि बुराई नामकी कोई चीज है ही नही और हमेशा स्वच्छताका, अच्छाईका विचार करते रहना चाहिए। 'भाग जा' कहनेमे डरका भाव है। उसका विचार तक न करनेमे निडरता है। हमे सदा यह विश्वास बढाते रहना चाहिए कि बुराई मुझे छू तक नही सकती। अनुभव द्वारा यह सब सिद्ध किया जा सकता है।

१८ अप्रैल, १६२६

: १२ :

राष्ट्रीय शालाओंमें गीता

एक संवाददाता पूछते हैं कि क्या राष्ट्रीय शालाओंमें हिंदू और अहिंदू सब बालकोंको गीता अनिवार्य रूपमें सिखाई जा सकती है? दो साल पहले जब मैं मैसूरमें सफर कर रहा था, मुझे यह दु:खके साथ कहना पड़ा था कि एक हाईस्कूलके हिंदू बालक गीतासे परिचित न थे। इस तरह गीताके प्रति मेरा पक्षपात स्पष्ट है। मैं तो चाहता हूं कि गीता न केवल राष्ट्रीय शालाओंमें ही, बल्कि प्रत्येक शिक्षा-संस्थामें पढ़ाई जाय। एक हिंदू बालक या बालिकाके लिए गीताका न जानना शर्मकी बात होनी चाहिए। मगर अनिवार्यताके बारेमें मेरा आग्रह कम हो जाता है, खासकर राष्ट्रीय शालाओंके सबधमें। यह सच है कि गीता विश्व-धर्मकी एक पुस्तक है, फिर भी यह एक दावा है, जो किसीपर लादा नहीं जा सकता। संभव है, कोई ईसाई, मुसलमान या पारसी इस दावेका विरोध करे और बाइबिल, कुरान या अवेस्ताके बारेमें ऐसा ही दावा पेश करे। मुझे भय है कि हिंदू कहे जानेवालोंके लिए भी गीताकी शिक्षा अनिवार्य नहीं बनाई जा सकती है। कई सिख और जैन अपने आपको हिंदू मानते हैं, मगर संभव है, वे अपने बालक-बालिकाओंको अनिवार्य रूपसे गीताके पढ़ाये जानेका विरोध करें। साम्प्रदायिक या जातीय शालाओंकी बात ही दूसरी होगी। मसलन्, एक वैष्णवशालाके लिए गीताको धार्मिक शिक्षाका अंग बनाना मेरी रायमें बिलकुल उचित होगा। प्रत्येक स्वतंत्र शालाको हक है कि वह अपनी पढ़ाईका पाठ्यक्रम स्वयं निश्चित करे। मगर एक राष्ट्रीय शालाको तो स्पष्ट मर्यादाओंमें रहकर काम करना पड़ता है। जहां अधिकार या हकमें दस्तंदाजी नहीं होती वहां अनिवार्यताका भी प्रश्न नहीं उठता। एक खानगी पाठशालामें प्रवेश करनेका कोई दावा नहीं कर सकता, मगर यह मानी हुई बात है कि राष्ट्रके प्रत्येक सदस्यको राष्ट्रीय शालामें जानेका अधिकार है। अतएव एक जगह जो बात प्रवेश-की शर्त मानी जायगी, वही दूसरी जगह अनिवार्य न होगी। बाहरी दबावसे गीता कभी विश्व-व्यापिनी नहीं होगी। वह विश्व-व्यापिनी तो

तभी होगी, जब उसके प्रशसक उसे जबर्दस्ती दूसरोके गले न उतारकर स्वय अपने जीवनद्वारा उसकी शिक्षाओको मूर्तरूप देंगे।

१८ मार्च, १९२९

१३

अहिंसा परमोधर्म

कैनन शेप्पर्ड और दूसरे सच्चे और उत्साही ईसाई इग्लंडमे युद्धोके खिलाफ आन्दोलन कर रहे हैं। दिल्लीके 'स्टेट्समैन' ने चार लेख लिखकर इस आदोलनकी वेहद निंदा की है। इस पत्रने अपने पक्ष-समर्थनमे भगवद्गीताको भी घसीटा है

"असलमे, क्रिश्चियानिटीकी वास्तविक किन्तु कठिन शिक्षा यही मालूम पडती है कि समाजको अपने शत्रुओसे लडना चाहिए, पर साथ ही, उनसे प्रेम भी करना चाहिए।

"मिस्टर गाधी भी इस वातपर खास तौरसे ध्यान दें कि गीताकी भी साफ-साफ यही शिक्षा है। कृष्णने अर्जुनसे कहा है कि विजय उसे ही मिलती है, जो पूर्णतया निर्भय और निर्वैर होकर लडता है। सचमुच, इस महाकाव्यके द्वितीय अध्यायने एक विवेकशील युद्धविरोधी तथा एक सच्चे योद्धाके बीच, सर्वोच्च भूमिकापर सोचनेपर भी, सारा विवाद खत्म कर दिया है। स्थानाभावके कारण, हम उसमेसे अधिक उद्धरण तो नही दे सकते, पर वह सारा काव्य (गीता) एक बार नहीं, बारबार पढनेकी चीज है।"

इन लेखोका लेखक शायद यह नही जानता कि आतकवादियोने भी इन्ही श्लोकोका हवाला दिया है। सच्ची बात तो यह है कि निर्विकार चित्तसे पढनेपर मुझे तो भगवद्गीतामे इस लेखकने जो अर्थ लगाया है उससे ठीक विपरीत अर्थ मिला है। वह भूल जाता है कि पश्चिमके युद्ध-विरोधी जिस अर्थमे विवेकशील कहे जाते है, वैसा अर्जुन नही था।

अर्जुन तो युद्धका हिमायती था। कौरवोंकी सेनासे पहले वह कई बार लोहा ले चुका था। उनके हाथ-पैर तो तब ढीले पड़ गये, जब उसने दोनों सेनाओंको युद्धके लिए तैयार देखा और उनमें अपने प्यारे-से-प्यारे स्वजनों तथा पूज्य गुरुजनोंको पाया। न तो वहां मानवताके प्रति प्रेम था और न युद्धके प्रति घृणा ही थी, जिससे प्रेरित होकर अर्जुनने कृष्णसे वे प्रश्न पूछे थे और कृष्ण भी ऐसी परिस्थितिमें दूसरा कोई उत्तर दे ही नहीं सकते थे। महाभारत तो रत्नोंकी एक खान है, जिनमेंसे गीता केवल एक किन्तु सबसे अधिक देदीप्यमान रत्न है। लिखा है कि उस युद्धमें लाखों योद्धा एकत्र हुए थे और दोनों तरफसे अवर्णनीय अमानुषिकताएं बरती गई थीं। इन लाखोंकी सेनामेंसे केवल सातको जीवित रखकर तथा उन्हें वह निःसार विजय प्रदान करके इस महाकाव्यके अमर कविने तो युद्धकी निरर्थकता ही सिद्ध की है, किंतु युद्धको केवल एक मूर्खतापूर्ण और धोखेकी चीज सिद्ध करनेके अलावा भी, महाभारत एक उससे भी ऊंचा संदेश हमें देता है। मनुष्यको अगर एक अमर प्राणी समझा जाय तो महाभारत उसका एक आध्यात्मिक इतिहास है और इसके वर्णनमें एक ऐतिहासिक घटनाका उसने उपयोगमात्र किया है, जो तत्कालीन छोटे-से जगत्के लिए तो बड़ी महत्त्वपूर्ण थी, पर आजकलकी दुनियाके लिए कोई भी महत्त्व नहीं रखती। अनेक आधुनिक आविष्कारोंके कारण आज तो यह सारा संसार हथेलीपर रखे हुए आंवलेके समान मालूम होने लगा है। उसके किसी एक कोनेमें घटी हुई घटनाका असर दूर-दूर तक सारे संसारमें फैल जाता है। यह बात उस समय नहीं थी। हमारे हृदयोंमें जो दिन-रात सत् और असत्के बीच सनातन संघर्ष चल रहा है, महाभारतकार उसे इस कथानकद्वारा एक अमर काव्यके रूपमें हमारे सामने प्रस्तुत करता है। वह बताता है कि यद्यपि अंतमें तो सत्य हीकी विजय होती है, तो भी असत् किस तरह सशक्त होकर अत्यन्त विवेकशील पुरुषको भी 'किंकर्तव्य-विमूढ़' बना देता है। महाभारत सदाचारका एकमात्र मार्ग भी हमें बताता है।

लेकिन भगवद्गीताका वास्तविक संदेश जो कुछ भी हो, शांतिस्थापन आंदोलनके नेताओंके लिए तो गीताकी शिक्षा नहीं, बाइबिलकी शिक्षा

महत्त्व रखती है, क्योकि उसीको उन्होने अपना आध्यात्मिक मार्ग-दर्शक बना रखा है। फिर बाइबिलका भी तो कई तरहसे अर्थ लगाया जाता है। उन्हें बाइबिलका वह अर्थ स्वीकार नही है, जो साधारणतया ईसाई धर्माधिकारी लगाते हैं। उन्हें तो वह अर्थ मजूर है, जो इसके श्रद्धायुक्त अन्त करणसे पढनेपर मालूम होता है। असलमे, सबसे महत्त्वपूर्ण चीज तो है युद्ध विरोधियोका अहिंसा अर्थात् प्रेम-धर्मविषयक ज्ञान। अहिंसाका अर्थ बहुत व्यापक है। अग्रेजीका 'नान-वायलेन्स' शब्द उसके लिए बिलकुल अपर्याप्त है। 'स्टेट्समैन' के ये लेख युद्ध-विरोधियोके लिए एक खासी चुनौती ही हैं। मुझे दु ख है, इस आदोलनके विषयमे मुझे पूरी जानकारी नही है। युद्ध-विरोधियोके नजदीक भले ही मेरे विचारोका विशेष महत्त्व न हो, पर जहातक मुझे भीतरी बातोका पता है, कुछ लोग तो जरूर उसका खयाल करेंगे, क्योकि वे भी अक्सर मुझसे पत्र-व्यवहार करते हैं और अब तो वे एक कदम और आगे बढ गये हैं, क्योकि उन्होने रिचर्ड ग्रेगकी 'अहिंसा-महिमा' नामक पुस्तकको लगभग अपनी पाठ्य-पुस्तक बना लिया है। लेखक (श्री ग्रेग) के शब्दोमे यह पुस्तक अहिंसाके दावेका, जैसा कि मैं उसे समझा हू, पाश्चात्य ससारकी भाषामे प्रतिपादन है। इसलिए बगैर किसी प्रकारकी दलील वगैरा दिये, अगर मैं यहा अहिंसाकी सफलताकी कुछ शर्तें तथा अप्रकट अर्थ लिख दू तो शायद धृष्टता न होगी।

१—अहिंसा परमश्रेष्ठ मानव-धर्म है, पशुबलसे वह अनत गुना महान् और उच्च है।

२—अततोगत्वा वह उन लोगोको कोई लाभ नही पहुचा सकती, जिनकी उस प्रेमरूपी परमेश्वरमे सजीव श्रद्धा नही है।

३—मनुष्यके स्वाभिमान और सम्मान-भावनाकी वह सबसे बडी रक्षक है। हा, वह मनुष्यकी चल-अचल सम्पत्तिकी हमेशा रक्षा करनेका आश्वासन नही देती, हालाकि अगर मनुष्य उसका अभ्यास कर ले तो शस्त्रधारियोकी सेनाओकी अपेक्षा वह इसकी अधिक अच्छी तरह रक्षा कर सकती है। यह तो स्पष्ट है कि अन्यायसे अर्जित सम्पत्ति तथा दुराचारकी रक्षामे वह जरा भी सहायक नही हो सकती।

४—जो व्यक्ति और राष्ट्र अहिंसाका अवलबन करना चाहे, उन्हें

मान-सम्मानको छोड़कर, अपना सर्वस्व (राष्ट्रोंको तो एक-एक आदमी) गंवानेके लिए तैयार रहना चाहिए। इसलिए वह दूसरेके मुल्कोंको हड़पने अर्थात्, आधुनिक साम्राज्यवादसे, जोकि अपनी रक्षाके लिए पशुबलपर निर्भर रहता है, बिलकुल मेल नहीं खा सकता।

५—अहिंसा एक ऐसी शक्ति है, जिसका सहारा बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री-पुरुष सब ले सकते हैं, बशर्ते कि उनको उस करुणामयमें तथा मनुष्य-मात्रमें सजीव श्रद्धा हो। जब हम अहिंसाको अपना जीवन-सिद्धान्त बना लें तो वह हमारे सम्पूर्ण जीवनमें व्याप्त होना चाहिए। यों कभी-कभी उसे पकड़ने और छोड़नेसे लाभ नहीं हो सकता।

६—यह समझना एक जबरदस्त भूल है कि अहिंसा केवल व्यक्तियोंके लिए ही लाभदायक है, जन-समूहके लिए नहीं। जितना वह व्यक्तिके लिए धर्म है उतना ही वह राष्ट्रोंके लिए भी धर्म है।

५ सितंबर, १९३६

: १४ :

गीताजी

मेरे लिए तो गीता जीवित माँ है, कामधेनु है। गीताका नित्य वाचन नीरस लगता है; क्योंकि उसका मनन नहीं होता। हमें रोज रास्ता दिखानेवाली माता है, ऐसा समझकर पढ़ें तो नीरस नहीं लगेगी। हर रोजके पाठके बाद एक मिनटके लिए उसपर विचार कर लें। रोज ही कुछ-न-कुछ नया मिलेगा। हां, सम्पूर्ण मनुष्यको उसमें से कुछ नहीं मिलेगा। पर जिसमें नित्य कोई दोष ही लगे हों उसे उबारनेवाली यह गीतामाता है, यह समझकर नित्य-पाठमें थके नहीं।

तुम्हें गीताके सतत अभ्याससे सब चिन्ताओंसे मुक्त रहना सीखना है। हम सबकी फिक्र रखनेवाला ईश्वर बैठा है। तब यह बोझा स्वयं ही हम क्यों ढोते फिरें? हमें तो अपने हिस्से आया हुआ काम करते रहना है।

...

ज्यो-ज्यो श्रद्धा बढेगी त्यो त्यो बुद्धि बढेगी। गीता तो यह सिखाती मालूम देती है कि बुद्धियोग ईश्वर कराता है। श्रद्धा बढाना हमारा कर्तव्य है। यहा श्रद्धा और बुद्धिका अर्थ समझना रहता है। यह समझ भी व्याख्या करनेसे नही आती, बल्कि सच्ची नम्रताका विकास करनेसे आती है। जो यह मानता है कि वह सब कुछ जानता है वह कुछ नही जानता। जो मानता है कि वह कुछ नही जानता उसे यथासमय ज्ञान प्राप्त हो जाता है। भरे हुए घडेमे गगाजल ईश्वर भी नही भर सकता। इसलिए हमे तो ईश्वरके सामने रोज खाली हाथ ही खडे होना है। हमारा अपरिग्रहव्रत भी यही बताता है।

गीताजी जो धर्म सिखाती है उसे समझो और उसके अनुसार अपना आचरण रखो।

•

गीताका मध्यबिन्दु क्या है, उसका निश्चय कर लेना। फिर प्रत्येक श्लोकका अर्थ, जो अपने जीवनमे उपयोगी है, उसको आचारमे रखना। यह सबसे बडी टीका है और यही गीताका सच्चा अभ्यास है। गीताका मध्यबिन्दु अनासक्ति ही है, इसमे थोडा भी शक नही होना चाहिए। दूसरे किसी कारणसे गीता नही लिखी गई, उसमे कुछ मुझे भी शका नही है और मैं तो यह अनुभवसे जानता हू कि बगैर अनासक्तिके न मनुष्य सत्य-का पालन कर सकता है, न अहिंसाका। अनासक्त होना कठिन है, इसमे सन्देह नही। लेकिन उसमे आश्चर्य क्या है? सत्यनारायणका दर्शन करनेमे परिश्रम तो होना ही चाहिए और बगैर अनासक्तिके यह दर्शन अशक्य है।

'महादेवभाईनी डायरी',
भाग २, पृष्ठ १६१
३१ अक्तूबर, १६३२

•

गीताके मुख्य सिद्धान्तसे असगत कोई बात चाहे जहा भी लिखी हुई हो, मेरा मन उसे शास्त्र नही मानता। मेरे रूढिग्रस्त मित्रोको आघात न लगे तो मैं अपना अर्थ और अधिक स्पष्ट करना चाहता हू। सदाचारके

विश्वमान्य मूलतत्त्वोंसे असंगत किसी भी चीजको मैं शास्त्रप्रामाण्यसे नहीं मानता। शास्त्रोंका उद्देश्य इन मूलतत्त्वोंको उखाड़ फेंकना नहीं, वरन् इन्हें टिकाये रखना है। और गीता मेरे लिए सम्पूर्ण है, इसका कारण यह है कि वह इन मूलतत्त्वोंका समर्थन करती है। इतना ही नहीं, बल्कि वह किसी भी मूल्यपर इनसे चिपके रहनेके लिए अचूक कारण बताती है।

'महादेवभाईनी डायरी,'
भाग २, पृष्ठ ४६०
१७ नववर, १६३२

... .

इसलिए भगवद्गीतामें एक ही जगह, जहां 'शास्त्र' शब्द आता है, वहां मैंने उसका अर्थ यह नहीं किया कि गीताके सिवा कोई अन्य ग्रंथ या विधिवाक्य, बल्कि इसका अर्थ किसी जीवित प्रमाणभूत व्यक्तिमें मूर्तिमान होनेवाला सदाचार है।

'महादेवभाईनी डायरी',
भाग २, पृष्ठ ४६१
१७ नवम्बर, १६३२

... .

गीताजीके तीसरे अध्यायका पांचवां श्लोक बहुत ही चमत्कारिक है। भौतिकशास्त्री बता चुके हैं कि इसमें बताया हुआ सिद्धान्त सर्वव्यापक है। इसका अर्थ यह है कि कोई भी आदमी एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। कर्मका अर्थ है गति और यह नियम जड़-चेतन सबके लिए लागू है। मनुष्य इस नियमपर निष्काम भावसे चलता है तो यही उसका ज्ञान और यही उसकी विशेषता है। इसीकी पूर्तिमें ईशोपनिषद्के दो मन्त्र हैं। वे भी इतने ही चमत्कारी हैं।

'महादेवभाईनी डायरी',
पहला भाग, पृष्ठ ३९४
२३ अगस्त, १६३२

. .

आश्रमकी एक बहनने लिखा है—"गीताकी बजाय अन्य पुस्तकें पढ़ना मुझे ज्यादा अच्छा लगता है।"

तूने तो ऐसी बात लिखी कि मुझे पकौड़िया खाना अच्छा लगता है और रोटी अच्छी नहीं लगती। किन्तु जिसका शरीर ऐसा हो जाय, वह रोगी माना जायगा। निरोगीका पेट पकौडियोंसे कभी भर नहीं सकता। वह तो रोटी ही मांगेगा। इसी तरह गीताको समझ। अन्तर्पट खुलनेपर तो गीता अच्छी लगेगी ही। जबतक गीता अच्छी नहीं लगती तबतक यह समझना चाहिए कि कुछ कच्चापन है, लेकिन इसमें मुझ रसोइयेका भी दोष तो है ही। मैंने जो गीता भेजी वह कच्ची थी, इसलिए तुझे पची नहीं? अब क्या हो?

•

गीता कंठ करनेमें स्मरणशक्तिका काम है जो सरल है। गीताका अर्थ समझनेमें बुद्धिका काम है। यह कठिन है। इससे तुम्हें रस नहीं मिलता, किन्तु जब बुद्धिके काममें रस मिलने लगेगा तब अर्थ समझनेकी इच्छा जागेगी। इसलिए बुद्धिके विषयोंमें रस लेने लगो।

•

मुझे तो ऐसा ही लगता है कि मनुष्य कर्म करता हुआ ही सच्ची और शाश्वत चित्तशुद्धिको साध सकेगा।

कर्म किये बिना किसीको सिद्धि नहीं मिली।

जो कर्म आसक्ति बिना नहीं हो सकते हो, वे सब त्याज्य हैं।

जिस प्रकार आलस्य त्याज्य है, उसी प्रकार अति परिश्रम त्याज्य है। 'समत्व योग उच्यते' मनमें रमता ही रहता है।

"तू जो कुछ भी करे, वह मुझे अर्पित करके मेरे निमित्त करना।"

"भक्ति करोगे तो ज्ञान तो प्राप्त होकर ही रहेगा।"

"निष्काम होकर कर्म करो।"

... ...

गीतामाताने इसका उत्तर तो दिया ही है कि हमें पाप करनेके लिए कौन प्रेरित करता है। काम और क्रोध हमसे पाप करवाते हैं। अपने पिछले स्मरणोंसे तुम सब इस बातको अनुभव कर सकोगे।

... ...

चि० धीरू,[1]

तेरा पत्र मिला। नया वर्ष तुझे फले और तू और अच्छा सेवक बने। गीता तूने कंठ कर ली, अब उसे हृदयमें उतार। ऐसा करनेके लिए तुझे उसके अर्थ समझने चाहिए। 'अनासक्तियोग' की प्रस्तावना दस-बीस बार पढ़ जा और फिर अर्थ समझनेकी कोशिश कर। उसे समझनेके लिए संस्कृतका अभ्यास बढ़ा। जैसे भी बने वैसे इसे पूरा कर। नये वर्ष का यही तेरा व्रत हो।

२३ अप्रैल, १९३१

बापूके आशीर्वाद

... ...

हम सब लोग जब कभी बीमार पड़ते हैं, साधारणतया उनके पीछे न केवल आहार-सम्बन्धी त्रुटि ही होती है, अपितु हमारे मस्तिष्कका ठीक-ठीक काम न करना भी होता है। गीताकारने स्पष्टतः इस चीजको देखा और साफ-साफ अपने सन्देशको इसकी रामबाण औषधि बताया। इसलिए जब कभी कोई चीज तुम्हारे मस्तिष्कको हैरान करती हो तो

---

1 श्री धीरेन गांधीके नाम पत्र

तुम्हे गीताकी मुख्य शिक्षापर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए और अपने बोझको उतार फेंकना चाहिए।
'बापूज़ लैटर्स टू मीरा'
४ दिसम्बर, १९३०

•

"बिना उपवासके प्रार्थना संभव नही"—यह कथन पूर्णतया सत्य है। यहा उपवासको व्यापक अर्थमे लेना चाहिए। शरीरके उपवासके साथ-साथ सभी इंद्रियोका उपवास होना आवश्यक है। और गीतामे वर्णित 'अल्पाहार' भी शरीरका उपवास है। गीता भोजन-निग्रहका आदेश नही देती, बल्कि अल्पाहारके लिए कहती है। अल्पाहार सदा चलनेवाला उपवास है। अल्पताका अर्थ है कि केवल उतना ही भोजन किया जाय, जितना शरीरको उस सेवाके लिए कायम रखनेको पर्याप्त हो, जिसके करनेके लिए उसका निर्माण हुआ है। इसकी कसौटी पुन इस कथनमे मिलती है कि जिस प्रकार स्वादके लिए नही, बल्कि शरीरकी नीरोगताके लिए नपी तुली मात्रामे और निश्चित समयपर औषधिका सेवन किया जाता है, उसी प्रकार आहार भी किया जाय। 'नपी-तुली मात्रा' मे 'अल्पता' का भाव शायद अधिक अच्छी तरहसे आ जाता है। आरनॉल्डका रूपान्तर मुझे स्मरण नही है। पूरा भोजन लेना ईश्वर और मानवके प्रति पाप है। मानवके प्रति इसलिए कि पूरा भोजन करके हम अपने पडोसियोको उनके भागसे वंचित करते हैं। भगवानकी अर्थ-व्यवस्थामे केवल औषधिक मात्रामे प्रतिदिन सबको भोजन लेनेकी गुंजाइश है। हम सब-के-सब पूरा भोजन लेनेवाली जातिके लोग हैं। अन्तःप्रवृत्तिसे यह जान लेना कि औषधिक मात्रा क्या है, भगीरथ काम है, क्योकि मा-बापका शिक्षण हमे ऐसा मिलता है कि हम पेटू बन जाते है। तब जब हम अभ्यस्त हो जाते है, हमे पता चलता है कि भोजनका उपयोग स्वादके लिए नही, बल्कि अपने दासके रूपमे अपने शरीरको कायम रखनेके लिए होना चाहिए। उस घडीसे आनदके लिए भोजन करनेके पैतृक और स्व-अर्जित स्वभावके विरुद्ध घमसान शुरू हो जाता है। इसलिए

कभी-कभी पूर्ण उपवास और सदैव आंशिक उपवास करनेकी आवश्यकता होती है। आंशिक उपवासका अर्थ अल्पाहार अथवा गीताके अनुसार नपा-तुला भोजन लेना है। इस प्रकार 'उपवासके बिना प्रार्थना संभव नहीं' यह कथन वैज्ञानिक है और इसकी सचाईकी परीक्षा प्रयोग और अनुभवके द्वारा की जा सकती है।

'बापूज लैटर्स टू मीरा'
२६ जनवरी, १९३३

... ...

मैं गीता-माताके संदेशको हृदयमें धारण करूंगा। वह विलक्षण माता है। मेरा खयाल है, तुम जानती हो कि वह माता कहलाती है। गीताका अर्थ है गेय। यह शब्द विशेषणके रूपमें 'उपनिषद्' के साथ प्रयुक्त होता है, जो स्त्रीलिंग है। गीता कामधेनुकी भांति है, जो सम्पूर्ण इच्छाओंकी पूर्ति करती है। इसीलिए वह माता कहलाती है। अपने आध्यात्मिक जीवनको कायम रखनेके लिए हमें जितने दूधकी आवश्यकता है उसके लिए अगर हम याचक दुधमुंहे बच्चेकी तरह मांग करें तो वह अमर माता हमें सम्पूर्ण दूध दे देती है। उसमें अपने लाखों बच्चोंको अपने अजस्र स्तनोंसे दूध देनेकी क्षमता है।

'बापूज लैटर्स टू मीरा'
२४ फरवरी, १९३३

... ...

गीताधर्मका अनुयायी प्रसन्नतापूर्वक बिना चीजोंके काम चलाना सीखता है। गीताकी भाषामें इसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं, कारण कि गीतामें वर्णित सुख और दुःख समान हैं। स्थितप्रज्ञकी अवस्था सुखदुःखसे ऊंची है। गीताका भक्त न सुखी होता है, न दुःखी। और जब ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाती है तब पीड़ा, आनंद, विजय, पराजय, च्युति, प्राप्ति, किसीकी भी अनुभूति नहीं होती।

'बापूज लेटर्स टू मीरा'
४ मार्च, १९३३

'मंडल' द्वारा प्रकाशित कुछ पुस्तकें

अहिंसा की शक्ति (ग्रेग)	१·५०
सत्याग्रह-मीमांसा	३·५०
बुद्ध-वाणी (वियोगी हरि)	१·००
संत-सुधासार ,,	११·००
सन्तवाणी (वियोगी हरि)	२·००
प्रार्थना ,,	०·५०
अयोध्याकाण्ड ,,	१·००
भागवत-धर्म (ह. उ.)	५·५०
श्रेयार्थी जमनालालजी ,,	६·५०
स्वतन्त्रता की ओर ,,	४·००
बापू के आश्रम में ,,	१·००
मानवता के झरने (माव)	१·५०
बापू (घ. बिड़ला)	२·००
रूप और स्वरूप ,,	०·६२
डायरी के पन्ने	१·००
ध्रुवोपाख्यान ,,	०·३०
स्त्री और पुरुष (टॉलस्टॉय)	१·००
मेरी मुक्ति की कहानी ,,	१·५०
प्रेम में भगवान ,,	२·००
जीवन-साधना ,,	१·२५
कलवार की करतूत ,,	०·२५
हमारे जमाने की गुलामी ,,	०·७५
बुराई कैसे मिटे ? ,,	१·००
बालकों का विवेक ,,	०·५०
हम करें क्या ? ,,	३·५०
धर्म और सदाचार ,,	१·२५
अंधेरे में उजाला ,,	१·५०
कल्पवृक्ष (वा. अग्रवाल)	२·००
हिमालय की गोद में	२·००
साहित्य और जीवन	२·००
फूल (म. प्र. पोद्दार)	१·००
राजनीति-प्रवेशिका	१·००
जीवन संदेश (ख. जिब्रान)	१·२५
अशोक के फूल	३·००

जीवन-प्रभात	५·००
तुकाराम-गाथासार	१·५०
कां० का इतिहास (संक्षिप्त)	६·००
पंचदशी (सं० यशपाल जैन)	१·५०
सप्तदशी	२·००
रीढ़ की हड्डी	१·५०
अमिट रेखाएं	३·००
एक आदर्श महिला	१·००
राष्ट्रीय गीत	०·२५
तामिल-वेद (तिरुवल्लुवर)	१·५०
थेरी-गाथाएं	१·५०
बुद्ध और बौद्ध साधक	१·५०
हमारे गांव की कहानी	१·५०
साग-भाजी की खेती	३·००
फलों की खेती	२·५०
पशुओं का इलाज (प. प्र.)	०·५०
रामतीर्थ-संदेश (३ भाग)	१·१२
रोटी का सवाल (क्रोपा)	३·००
नवयुवकों से दो बातें ,,	०·३७
पुरुषार्थ (डॉ भगवानदास)	६·००
काश्मीर पर हमला	२·००
शिष्टाचार	०·५०
भारतीय संस्कृति	३·५०
आधुनिक भारत	५·००
मैं तन्दुरुस्त हूं या बीमार ?	०·५०
भा. नव जागरण का इतिहास	३·००
गांधीजी की छत्रछाया में	२·५०
भागवत-कथा	३·५०
जय अमरनाथ	१·५०
प्रगति के पथ पर (७ भाग)	२·१०
संस्कृति-साहित्य-सौरभ (३५ पुस्तकें) प्रति पुस्तक	०·३७
समाज-विकास-माला (१३० पुस्तकें) प्रति पुस्तक	०·३७